द्वितीय सेमेस्टर
Second Semester

भारतीय अर्थव्यवस्था के क्षेत्र एवं विदेशी व्यापार **एम.ए.ई.सी. -507**
Sectors of Indian Economy and Foreign Trade **M.A.E.C.-507**

विषय-सूची

खण्ड – 1 भारतीय कृषि क्षेत्र (Indian Agricultural Sector)	**पृष्ठ संख्या 1-101**
इकाई 1- भारतीय कृषि की प्रकृति एवं महत्व (Nature and Importance of Indian Agriculture)	1-13
इकाई 2- कृषि आगत (Agricultural Input)	14-31
इकाई 3- भूमि सुधार एवं नवीन कृषि रणनीति (Land Reforms and New Agricultural Strategies)	32-48
इकाई 4- कृषि/ग्रामीण वित्त एवं कृषि विपणन (Agriculture/Rural Finance and Agricultural Marketing)	49-59
इकाई 5- कृषि मूल्य नीति, खाद्य सहायता और सार्वजनिक वितरण प्रणाली (Agricultural Price Policy, Food Subsidy and Public Distribution System)	60-74
इकाई 6- भारतीय कृषि और विश्व व्यापार संगठन (Indian Agriculture and World Trade Organization)	75-85
इकाई 7- भारतीय कृषि आयकर और कृषि श्रम (Indian Agriculture, Income Tax and Agricultural Labour)	86-101
खण्ड – 2 भारतीय औद्योगिक संरचना (Indian Industrial Structure)	**पृष्ठ संख्या 102-156**
इकाई 8- औद्योगिक विकास एवं नीतियाँ (Industrial Policy and Liberalization)	102-121
इकाई 9- सामाजिक क्षेत्र उद्यम (Public Sector Industry)	122-133

इकाई 10- लघु क्षेत्र उद्यम (Small Sector Industry)	134-145
इकाई 11- भारी उद्योग एवं औद्योगिक समस्याएं (Heavy Industry and Industrial Problems)	146-156
खण्ड – 3 भारतीय विदेशी व्यापार क्षेत्र **(Indian Foreign Trade Sector)**	**पृष्ठ संख्या** **157-196**
इकाई 12- भारत का विदेशी व्यापार (Indian Foreign Trade)	157-168
इकाई 13- भारत का भुगतान संतुलन (Indian Balance of Payment)	169-179
इकाई 14- भारत की व्यापार नीति (Trade Policy of India)	180-187
इकाई 15- भारत का विदेशी व्यापार एवं विश्व व्यापार संगठन (Indian Foreign Trade and World Trade Organization and India)	188-196

Suggested Readings:

1. Bhaduri, A, (2005) ***Development with Dignity*****,** Nation Book Trust, New Delhi
2. Bhalla, G.S. (2008) ***Indian Agriculture since Independence***, SAGE Publications Pvt. Ltd, New Delhi
3. Chakravariti, S. (1987) ***Development Planning: The Indian Experience***, Oxford University Press New Delhi
4. Datt, Gaurav and Ashwani Mahajan (2010) ***Indian Economy,*** S. Chand & Company Pvt. Ltd., New Delhi
5. Dhingra, I.C. ***The Indian Economy: Environment and Policy***, 23rd Ed. Sultan Chand & Sons, New Delhi
6. Gupta, S.P. (1989) ***Planning and Development in India :A Critique***, Allied Publishers Private Limited, New Delhi
7. Krishnamachari, V.T. (1962) ***Fundamental of Planning in India***, Orient Longmans, Bombay.
8. Prakash, B.A. (Ed.) (2009), ***Indian Economy since 1991: Economic Reforms and Performance***, Sage Publications, New Delhi.

इकाई 1 – भारतीय कृषि की प्रकृति एवं महत्व
(NATURE AND IMPORTANCE OF INDIAN AGRICULTURE)

1.1 प्रस्तावना
1.2 उद्देश्य
1.3 भारतीय कृषि का प्रादुर्भाव एवं क्रमिक विकास
1.4 औपनिवेशिक काल में कृषि विकास
1.5 योजना काल में कृषि विकास
1.6 कृषि क्षेत्र के लिए आयोजन का लक्ष्य
1.7 कृषि में प्रयुक्त रणनीति
1.8 कृषि क्षेत्र में निवेश का ढ़ाँचा
  1.8.1 दसवीं योजना के आधीन कृषि क्षेत्र
  1.8.2 दसवीं योजना की रणनीति और दिशा
  1.8.3 सामान्य आर्थिक विकास के लिए कृषि विकास अनिवार्य
  1.8.4 निम्न उत्पादकता के कारण
  1.8.5 विकास के लिए सुझाव
1.9 अभ्यास प्रश्न
1.10 सारांश
1.11 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
1.12 संदर्भ ग्रन्थ सूची
1.13. निबन्धात्मक प्रश्न

1.1 प्रस्तावना (INTRODUCTION)

कृषि क्षेत्र भारतीय अर्थव्यवस्था का आधार है। भारतीय अर्थव्यवस्था के निवासियों के अस्तित्व और विकास का सम्बन्ध कृषि क्षेत्र से आदि काल से जुड़ा है। आधारिक व्यवसाय एवं अनिवार्य आवश्यकता पूर्ति का क्षेत्र होने के कारण सभी अर्थव्यवस्थाओं अथवा यह कहा जाये कि विश्व अर्थव्यवस्था के लिए यह अपरिहार्य है। यह समस्त मानव जाति के लिए जीवन का आधार है। विश्व में विभिन्न राष्ट्रों के मध्य पारस्परिक निर्भरता के कारण कुछ विकसित अर्थव्यवस्थाओं में कृषि का राष्ट्रीय आय, रोजगार एवं उत्पादन में सापेक्षिक योगदान अपेक्षाकृत कम है, परन्तु विकासशील एवं अर्द्धविकसित अर्थव्यवस्थाओं में आर्थिक विकास का आधार कृषि ही है। इसी अनुरूप भारतीय अर्थव्यवस्था में आर्थिक क्रियाओं का मुख्य आधार है।

अतः इस इकाई में आप भारतीय कृषि की प्रकृति एवं भारतीय अर्थव्यवस्था में कृषि के महत्व की जानकारी प्राप्त करेंगे। इस इकाई में हमने यह प्रयास किया कि आर्थिक दृष्टि से भारतीय अर्थव्यवस्था में कृषि के योगदान की पूर्ण एवं व्यापक जानकारी दे पायें।

1.2 उद्देश्य (OBJECTIVES)

इस इकाई के अध्ययनोपरान्त आप–

- ✓ कृषि विकास की क्रमिक जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
- ✓ भारतीय कृषि का आर्थिक अर्थव्यवस्था में क्या योगदान है इसकी पूर्ण व्याख्या कर सकेंगे।
- ✓ कृषि उत्पादकता के पिछड़ेपन का कारण जान पायेंगे।
- ✓ कृषि उत्पादकता को बढ़ाने के उपाय जान पायेंगे।
- ✓ कृषि विकास के लिए क्या सुझाव दे सकते है, इसका निरूपण कर पायेंगे।
- ✓ पूर्ण रूप से भारतीय कृषि का स्वरूप, प्रकृति एवं महत्त्व जान सकेंगे।

1.3 कृषि का प्रादुर्भाव एवं क्रमिक विकास

पृथ्वी पर जीवन के क्रमिक विकास के साथ कृषि का भी विकास हुआ। सामान्यतः यह माना जाता है कि पृथ्वी पर लगभग 15 लाख वर्ष पूर्व मनुष्य जैसी रचना की उत्पत्ति हुयी थी। यह आदिमानव बंदर का विकसित रूप था जिसने सर्वप्रथम खड़े होकर चलना आरम्भ किया। इसलिये इसे 'होमोइरेक्ट्स' (Homo Erects) कहा गया।

कृषि की दृष्टि से नव–पाषाण काल अत्यन्त महत्वपूर्ण रहा है। नव–पाषाण काल की अवधि 7500 वर्ष ईसा पूर्व से 1710 वर्ष ईसा पूर्व तक मानी जाती है। यह माना जाता है कि नव–पाषाण काल में 7500 वर्ष ईसा पूर्व के आस–पास मध्य पूर्व (इजराइल, ईरान, इराक, जार्डन) में कृषि आरम्भ हुयी। इस प्रकार नव–पाषाण–काल को 'कृषि क्रान्ति' की अवधि माना जा सकता है। खेती आरम्भ होने पर मिट्टी के बर्तन भी बनाये जाने लगे। नव पाषाण–काल में मुख्य रूप से अनाजों (गेहूँ, जौ, धान, मक्का, कोदो) की खेती आरम्भ हुयी। यह सभी जंगली मूल वाले घासों अनाजों से विकसित की गयी। जंगली मूल की एवं कृषित अनाजों की फसलों में मुख्य अन्तर यह था कि जंगली मूल के अनाजों की फसल पकते ही उसके दाने गिर जाते थे जबकि कृषित अनाजों के दाने मड़ाई के बाद ही बाल से अलग होते हैं। विभिन्न स्थानों पर पायी गयी तत्कालीन मूर्तियों और भित्ति चित्रों पर अतीत की कृषि के चित्र अंकित है। इस अवधि में खेती के साथ–साथ पशुपालन भी

आरम्भ हो गया था। पहले बकरी एवं भेड़ तथा उसके बाद गाय, बैल एवं सूअर पाले गये। अन्त में भारवाहक एवं शुष्क पशु पाले गये। इनसे खाद के अतिरिक्त खाद्य पदार्थ भी उपलब्ध होने लगा। इस प्रकार नव पाषाण–कालीन अर्थव्यवस्था की प्रमुख उपलब्धि अनाज उत्पादन, पशुओं का उपयोग और उनको पालतू बनाना तथा स्थिर ग्राम जीवन का विकास हैं। ताम्र–पाषाण कालीन दशा पहुँचने तक कई दिशाओं में क्रान्तिक परिवर्तन हुये। इस अवस्था में लोग पत्थर के साथ तांबे के औजारों का प्रयोग करने लगे थे। इस कालखण्ड में हल, पहिया और धात्विक विज्ञान की जानकारी प्राप्त हुयी। हल का अविष्कार लगभग 2900 वर्ष ईसा पूर्व सुमेरिया में हुआ।

सिन्धु घाटी की सभ्यता में कृषि ही समाज के आर्थिक जीवन का आधार थी। सिन्धु घाटी की सभ्यता के लोगों ने सुमेरिया के लोगों से हल का प्रयोग करना सीखा। उस समय हल पूर्णतः लकड़ी का बना था। इस काल में फसलों के सिंचाई की सम्यक व्यवस्था थी। सिन्धु घाटी में गेहूँ, जौ, मटर, तिल, सरसों, कपास, नारियल, नीबू, खजूर, तरबूज आदि की खेती होती थी। गाय–बैल, भैस, बकरा, भेड़, हाथी, सूअर, कुत्ते आदि पालतू पशु थे। तत्कालीन मुहरों पर गाय, बैल, भैंस आदि के चित्र उत्कीर्ण हैं। सिन्धु घाटी की सभ्यता में घोड़े के प्रयोग का उल्लेख नहीं है। लगभग 1800 वर्ष ईसा पूर्व भारत में मोटे अनाजों की खेती आरम्भ हुयी। मोटे अनाजों में ज्वार, बाजरा, रागी, कोदो, चीना, सवां आदि सम्मिलित है। भारत में दालों का उत्पादन कर्नाटक में 1780 से 1500 वर्ष ईसा पूर्व की अवधि में आरम्भ हुआ। ताम्र पाषाणकालीन अवस्था में ही सिल्क की खोज हुयी।

वैदिक काल (1500 से 1000 वर्ष ईसा पूर्व) और उत्तर वैदिक काल (1000 से 600 वर्ष ईसा पूर्व) में कृषि और पशुपालन व्यवसाय में नये आयाम जुड़े। वैदिक आर्यों की सभ्यता आरम्भ में चारागाह प्रधान थी। आर्य शब्द का आधारिक आशय 'जुताई' है। आर्य मूलतः कृषक रहे। वेदों में विविध कृषि कार्यों और कृषि में उपयोग आने वाले पशुओं का उल्लेख है। सबसे पुराने वैदिक ग्रन्थ ऋग्वेद में आलस्य छोड़कर कृषि कार्य करने पर बल दिया गया है। वैदिक काल में खेतों की जुताई के लिये दो से आठ बैलों की टीम से हल खींचे जाते थे। यदि हल में दो से चार तक ही बैल लगाये जाते थे तो उनसे पूरे दिन काम नहीं लिया जाता था।

काल क्रम में कृषि में नये आयाम जुड़ते रहे। मौर्य शासन काल (322 वर्ष ईसा पूर्व से 232 वर्ष ईसा पूर्व) में कृषि और पशुपालन क्षेत्र में प्रगति हुयी। इसके लिये विभिन्न सहायक प्रयास किये गये लगभग 300 वर्ष ईसा पूर्व प्रकाशित चन्द्रगुप्त मौर्य के प्रमुख सलाहकार कौटिल्य, की पुस्तक 'अर्थशास्त्र' में कृषि के विविध पक्षों का उल्लेख किया गया है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में फलों की उपयुक्तता की दृष्टि से विवरण देते हुये उल्लेख किया गया है कि नदियों के किनारे की भूमियाँ कद्दू और कद्दू वर्गीय अन्य फसलों के लिये तथा जल प्लावित हो जाने वाली भूमियाँ गन्ना, पीपर और अंगूर के लिये उपयोगी होती है।

मौर्य शासन काल में पशु पालन पर विशेष जोर दिया गया। चारागाहों पर अतिक्रमण का निषेध था। सम्राट अशोक ने अपने शासन काल (274 से 237 वर्ष ईसा पूर्व) में वृक्ष संरक्षण (Arboriculture) पर और औद्योगिक कृषि पर विशेष जोर दिया। अशोक के शासन काल में राजकीय नीति के रूप में प्रथम बार, वृक्ष संरक्षण प्रणाली को संगठित आधार पर बढ़ावा दिया था। गुप्त काल (300 से 350 ए.डी.) में कला साहित्य और विज्ञान में उल्लेखनीय प्रगति हुई। यह काल अवधि 'स्वर्ण युग' के रूप में प्रसिद्ध है।

प्राचीनकाल और मध्य काल में देश का विभिन्न भाग राजाओं द्वारा शासित था।

उनकी रूचि बहुधा अपने शासन क्षेत्र की सीमा बढ़ाने, अन्य राजाओं पर आक्रमण करने, अपने शासन को सुदृढ़ करने और स्वयं की महत्ता तथा शौर्य को प्रदर्शित करने और यादगार बनवाने में विशेष थी। सामान्य आर्थिक विकास और कृषि हेतु उनके प्रयास प्रासंगिक ही हुआ करते थे। बाह्य आक्रमण और लूट–पाट से जनता के अपने प्रयास भी व्यर्थ हो जाते थे। आठवीं शताब्दी में अरबों ने सिंध और पंजाब पर आक्रमण किया। इनका देश की कृषि पर प्रभाव पड़ा।

फिरोजशाह ने नहर सिंचाई की आवश्यकताओं को समझा और सन 1355 में उन्होंने पश्चिमी यमुना नहर खोदवाई। इससे यमुना और सतलज के कारण आने वाली बाढ़ के जल को सिंचाई के लिये प्रयोग में लाया जाने लगा तथा इससे हिसार के क्षेत्र में सिंचाई सुविधाएँ बढ़ी। विजयनगर के कृष्णदेव ने 1521 ई0 में कोटागल में बांध बनवाया जिससे वहाँ सिंचाई सुविधा निर्मित हुई।

ईस्ट इंडिया कम्पनी ने 1772 ई0 में वारेन हेस्टिंग्स को कलकत्ता का गवर्नर और प्रथम गवर्नर जनरल (1772–1875 ई0) बनाया। उसने देश में कम्पनी शासन का आधार सुदृढ़ किया। वह स्वयं बुद्धिजीवी और विद्वता का पोषक था। खेती और बागवानी में उसकी विशेष रूचि थी। वह अपनी गृह वाटिका में खाली समय में अत्यन्त मनोयोग से काम करता था। उसने इंग्लैण्ड, बर्मा और हिमालय के सीमान्त क्षेत्र में कई पौधे मंगाकर भारत में प्रसार किया। गाय के प्रति उसकी अटूट श्रद्धा थी। पूर्वी भारत में 1769–70ई0 में भयानक अकाल पड़ा जिसमें लगभग 10 मिलियन लोगों की मौत भूख से हो गयी। वारेन हेस्टिंग ने अकालों का सामना करने के लिये अनाज गोदाम बनाने का कार्य किया ताकि अच्छी फसल के समय पूर्वोपाय के रूप में उसे भरा जा सके।

1.4 औपनिवेशिक काल में कृषि

स्वतंत्रता से पूर्व विदेशी शासकों ने अपनी औपनिवेशिक नीति के कारण कृषि विकास हेतु कोई ठोस प्रयास नहीं किया। चूँकि तत्कालीन दोषपूर्ण भूधारण पद्धतियों में वास्तविक काश्तकार जोत का स्वामी न था। अतः वह जोत में किसी भी प्रकार के स्थायी सुधार के प्रति उदासीन था। वर्तमान शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों में ब्रिटिश सरकार ने कृषि विकास हेतु कुछ प्रयास किए। 1901 में गठित सिंचाई आयोग की सिफारिशों के आधार पर कम वर्षा वाले और सूखाग्रस्त क्षेत्रों के लिए सुरक्षात्मक सिंचाई सुविधाओं के प्रसार पर जोर दिया गया। सूखा आयोग की सिफारिशों के आधार पर सहकारी खास समिति अधिनियम, 1904 लागू हुआ। कृषि विकासार्थ सुझाव देने के लिए 1926 में नियुक्त शाही कृषि आयोग ने अपना प्रतिवेदन 1927 में प्रस्तुत किया जिसमें कृषि उत्पादन, पशुपालन, मत्स्यपालन, कृषि वित्त और सहकारिता के लिए उपयोगी सुझाव दिए गए। लेकिन खाद्यान्नों की हालत लगातार गिरती गईं, इसे सुधारने के लिए सरकार ने 1942 में 'खाद्य उत्पादन सभा' बुलाई जिसमें पारित प्रस्तावों के आधार पर 'अधिक अन्न उपजाओं' अभियान आरम्भ किया गया।

सम्पूर्ण अविभाजित भारत में समस्त कृषि वस्तुओं का उत्पादन सूचकांक 1904–05 के 100 की तुलना में 1946–47 में बढ़कर 112.6 ही हो सका। लेकिन खाद्यान्नों का उत्पादन सूचकांक आधार वर्ष 1904–05 के 100 की तुलना में 1946–47 में घटकर 95.7 हो गया। खाद्यान्नों की उत्पादकता में अत्यन्त गिरावट आई। खाद्यान्न फसलों का उत्पादन सूचकांक 1904–05 के 100 की तुलना में 1946–47 में घटकर 84 प्रतिशत रह गया। इससे यह प्रतीत होता है कि कृषि उत्पादन में जो नाममात्र की वृद्धि हुई, वह मुख्यतः गैर–खाद्यान्नों की उपज बढ़ने के कारण हुई और यदि खाद्यान्न फसलों के अन्तर्गत क्षेत्र में

वृद्धि न हुई होती तो स्थिति अत्यन्त खराब हो गयी होती।

ब्रिटिश सरकार की उपेक्षापूर्ण नीति के परिणामस्वरूप ग्रामीण उद्योगों का विनाश होता गया और कृषि पर जनसंख्या का दबाव उत्तरोत्तर बढ़ता गया। इस नीति ने भारत को बचे पदार्थ की पूर्ति का स्रोत और ब्रिटेन में बनी वस्तुओं की मंडी बनाकर रख दिया। ब्रिटिश सरकार ने अपने शासन की जड़े मजबूत करने के लिए भू–स्वामित्व में मध्यस्थ प्रथा को प्रोत्साहित किया जिसमें वास्तविक काश्तकार भूमि का स्वामी न था।

1.5 योजना काल में कृषि विकास

प्रथम योजना (1951–56) के आरम्भ के समय कृषि की दशा अत्यन्त निराशाजनक और खराब थी। हमारे किसान महाजनों के ऋण–जाल में बुरी तरह ग्रस्त थे। उनकी जोतों का आकार बहुत छोटा था और वे बिखरी हुई थीं। उनके पास न तो पैसा ही था और न ही ज्ञान जिसके आधार पर वे उचित उपकरण, अच्छे बीज और रासायनिक खाद खरीद सके। कुछ क्षेत्रों को छोड़, अधिकतर क्षेत्रों के किसान वर्षा पर निर्भर थे और उन्हें मानसून की अनिश्चितता सहन करनी पड़ती थी। भूमि तथा श्रम की उत्पादिता लगातार कम होती जा रही थी और यह विश्व में सबसे कम थी। बावजूद इसके कि हमारी जनसंख्या का लगभग 70 प्रतिशत कृषि में कार्य करता था, देश खाद्यान्नों के उत्पादन में स्वावलम्बी नहीं था और इसे खाद्यान्नों के आयात पर निर्भर करना पड़ता था। इसके अतिरिक्त 1947 में देश के विभाजन ने कृषि की स्थिति और बिगाड़ दी क्योंकि हमारे हिस्से में जनसंख्या का अधिक भाग और इसकी अपेक्षा भूमि का कम भाग प्राप्त हुआ।

1.6 कृषि क्षेत्र के लिए आयोजन का लक्ष्य

कृषि क्षेत्र के विकास का आयोजन करते हुए योजना आयोग के चार मुख्य उद्देश्य रखें :–

1. **कृषि उत्पादन में वृद्धि** का लक्ष्य सदैव रखा गया है और इसके लिए
   (क) कृषि आधीन क्षेत्र में लगातार वृद्धि करना;
   (ख) प्रति हेक्टेयर उत्पाद (अर्थात् कृषि उत्पादिता) में वृद्धि के लिए, कृषि–आदानों जैसे सिंचाई, उन्नत बीजों, उर्वरकों आदि का अधिकाधिक प्रयोग करना;
   (ग) कृषि उत्पादन में वृद्धि करना।
2. **रोजगार के अवसर बढ़ाना**– कृषि उत्पादन में वृद्धि के साथ, कृषि क्षेत्र को रोजगार के अतिरिक्त अवसर कायम करने होंगे और इस प्रकार हमारे गाँवों में गरीब वर्गों की आय बढ़ानी होगी।
3. **भूमि पर जनसंख्या के दबाव को कम करना**– चूँकि जनसंख्या का भारी भाग भूमि पर निर्भर है, इसलिए कृषि क्षेत्र के आयोजन का एक और बुनियादी लक्ष्य कृषि पर काम करने वाले व्यक्तियों की संख्या को कम करना है। अतिरिक्त श्रमिकों को द्वितीयक एवं तृतीयक की ओर हस्तांतरित करना होगा।
4. **ग्रामीण क्षेत्र में आय की असमानताओं को कम करना**– सरकार को ग्रामीण क्षेत्र में आय की असमानताओं को समाप्त कर देना चाहिए। इसके लिए सरकार को ग्रामीण क्षेत्र की अतिरिक्त भूमि को छोटे तथा सीमान्त किसानों में इस प्रकार वितरित कर देनी चाहिए कि इससे ग्रामीण क्षेत्र में कुछ हद तक समानता एवं न्याय हो सके।

ये चार उद्देश्य सामान्यतया सभी योजनाओं में अपनाए गए हैं, परन्तु व्यवहार में भारत में कृषि–आयोजन का अर्थ केवल कृषि–उत्पादन में वृद्धि ही समझा जाता है अर्थात् केवल पहले लक्ष्य की प्राप्ति और अन्य सभी उद्देश्यों की या तो उपेक्षा की

गयी या उन्हें निम्न प्राथमिकता दी गयी।

1.7 कृषि में प्रयुक्त रणनीति

कृषि उत्पादन में वृद्धि एवं रोजगार में वृद्धि प्राप्त करने के लिए, पंचवर्षीय योजनाओं में विभिन्न कार्यक्रमों का उपयोग किया गया जैसे सामुदायिक विकास प्रोग्राम और कृषि–विस्तार सेवाओं को देशभर में फैलाना, सिंचाई सुविधाओं, उर्वरकों, कीटनाशकों, कृषि–मशीनरी, अधिक उपजाऊ किस्म के बीजों का विस्तार। इसके साथ–साथ परिवहन, पावर, विपणन और संस्थानान्तमक उधार का विस्तार भी किया गया।

भूमि पर जनसंख्या के दबाव को कम करने के लिए योजना आयोग ने ग्राम–विकास की रणनीति अपनायी। इसके लिए ग्राम–क्षेत्रों में कृषि–आधारित उद्योग और हस्तशिल्प स्थापित किए गए। इसके साथ–साथ ग्रामीण परिवहन एवं संचार प्रोन्नत किया गया और लोगों को कृषि क्षेत्र से, उद्योगों और सेवा क्षेत्र की ओर जाने के लिए प्रोत्साहित किया गया।

अन्तिम, ग्रामों में समानता एवं न्याय कायम करने के लिए योजना आयोग ने भू–सुधारों की रणनीति अपनायी जिसके अन्तर्गत जमीदारों जैसे बिचौलियों को समाप्त किया गया, काश्तकारों की सुरक्षा के लिए काश्तकारी कानून बनाया गया और जोत की अधिकतम सीमा को लागू करने से प्राप्त अतिरिक्त भूमि भूमिहीन श्रमिकों, छोटे तथा सीमान्त किसानों में बांटी गयी।

1.8 कृषि–क्षेत्र में निवेश का ढाँचा

तालिका 1.8.1: कृषि एवं सम्बद्ध क्षेत्रों में सरकारी परिव्यय का ढाँचा

करोड़ रुपये

योजना	अवधि	कुल योजना परिव्यय	कृषि एवं सम्बद्ध कुल क्षेत्र	कृषि तथा सम्बद्ध क्षेत्रों का परिव्यय में प्रतिशत
प्रथम योजना	1951–56	1,960	600	31
दूसरी योजना	1956–61	4,670	950	20
तीसरी योजना	1961–66	8,580	1,750	21
चौथी योजना	1969–74	15,800	3,670	24
पाँचवीं योजना	1974–79	39,430	8,740	22
छठी योजना	1980–85	109,300	26,100	24
सातवीं योजना	1985–90	2,18,730	47,100	23
आठवीं योजना	1992–97	4,75,480	1,01,599	21
नौंवा योजना	1997–02	8,17,000	1,61,880	20
दसवीं योजना	2002–07	15,25,640	3,05,055	20

स्त्रोतः योजना, आयोग, विभिन्न योजना प्रलेख आर्थिक समीक्षा (2006–07)

आरम्भ में ''कृषि क्षेत्र'' के अर्थ की व्याख्या करना आवश्यक है। पहली तीन योजनाओं में, ''कृषि क्षेत्र'' में शामिल थे कृषि और सम्बद्ध क्षेत्र (उद्यान–कृषि, पशुपालन और मत्स्य) एवं सिंचाई तथा बाढ़–नियंत्रण। उत्तरोत्तर योजनाओं में, ''ग्रामीण विकास'' और ''विशेष क्षेत्र कार्यक्रम'' जोड़े गए और सिंचाई एवं बाढ़–नियंत्रण को छोड़ दिया गया।

तालिका 1.8.1 में, सभी योजनाओं के आँकड़ें इसी आधार पर प्रस्तुत किए गए हैं ताकि ये तुलनीय बन जाएं।

तालिका 1.8.2 : विभिन्न योजनाओं में कृषि क्षेत्र की उपलब्धियाँ

योजना	खाद्यान्न		तिलहन		गन्ना		रूई			
	लक्ष्य	वास्तविक	लक्ष्य	वास्तविक	लक्ष्य	वास्तविक	लक्ष्य	वास्तविक	लक्ष्य	वास्तविक
प्रथम योजना	620	670	55	56	630	600	42	40	54	42
दूसरी योजना	810	800	76	65	780	1,040	65	54	65	40
तीसरी योजना	1,000	720	98	64	1,000	1,270	70	56	62	45
चौथी योजना	1,290	1,040	105	87	1,500	1,400	80	58	74	62
पाँचवीं योजना	1,250	1,320	120	89	1,650	1,650	80	71	77	71
छठी योजना	1,540	1,460	111	130	2,150	1,700	92	85	91	78
सातवीं योजना	1,800	1,710	180	170	2,170	2,100	95	105	95	79
आठवीं योजना	2,100	1,990	230	250	2,750	2,770	140	143	95	110
नौंवा योजना	2,340	2,110	300	207	3,360	3,000	157	101	——	116

नोट : 1. खाद्यान्नों, तिलहनों एवं गन्ने का उत्पादन लाख टन,
2. रूई का उत्पादन 180 किलोग्राम के लाख गट्ठे
3. पटसन का उत्पादन 170 किलोग्राम के लाख गट्ठे

स्त्रोतः योजना प्रलेख एवं आर्थिक समीक्षाएं

1.8.1 दसवीं योजना के आधीन कृषि क्षेत्र

दसवीं योजना के दृष्टिपत्र में इस बात पर बल दिया गया कि कृषि–विकास भारत के आर्थिक विकास के लिए केन्द्रीय महत्त्व रखता है। दसवीं योजना ने कृषि–क्षेत्र में पिछली योजनाओं की सफलताओं और विफलताओं का उल्लेख किया और राष्ट्रीय कृषि नीति (2000) द्वारा बताए गए उद्यमों को अपनाया। इसमें राष्ट्रीय कृषि नीति (2000) द्वारा परिकल्पित प्रकार के विकास पर बल दिया:

1. ऐसा विकास जो संसाधनों के कुशल प्रयोग और देश की भूमि, पानी और जैव–विविधता का संरक्षण करता है।
2. समता के साथ विकास अर्थात् ऐसा विकास जो सभी ओर किसानों तक फैला हुआ हो।
3. ऐसा विकास जो माँग–संचालित हो और जो आर्थिक उदारीकरण और वैश्वीकरण से उत्पन्न चुनौतियों का सामना करते हुए कृषि वस्तुओं के निर्यात से प्राप्त होने वाले लाभों को अधिकतम करें।
4. विकास जो प्रौद्योगिकीय, पर्यावरणीय एवं आर्थिक दृष्टि से टिकाऊ हो।

राष्ट्रीय कृषि नीति (2000) ने कृषि क्षेत्र में 4 प्रतिशत से अधिक वार्षिक वृद्धि–दर प्राप्त करने की परिकल्पना की। दसवीं योजना कृषि में 4 प्रतिशत वार्षिक वृद्धि दर प्राप्त करने का लक्ष्य रखा गया। इस उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए, दसवीं योजना ने यह कल्पना की:

(क) दसवीं योजना के अन्त तक खाद्यान्नों की आवश्यकता : 2,300 लाख टन।

(ख) अनुमानित पूर्ति की स्थिति 2,250 से 2,430 लाख टन के बीच रहने की प्रत्याशा। खाद्यान्नों की इतनी आयोजित मात्रा को प्राप्त करने के लिए (i) मक्की की कृषि पर पर्याप्त बल देना जिसके द्वारा छोटे अनाजों के उत्पादन को 430 से 480 लाख टन तक बढ़ाया जा सकता है; और (ii) संकर चावल के वाणिज्यीकरण पर बड़े पैमाने पर बल देना और गेहूँ के लिए नयी उन्नत प्रौद्योगिकीयों का प्रयोग करना।

1.8.2 दसवीं योजना की रणनीति और दिशा

दसवीं योजना ''क्षेत्र–विभेदक रणनीति''। जो कृषि–जलवायु परिस्थितियों और प्राकृतिक संसाधनों पर आधारित थी और जो पहली बार नौंवी योजना से आरम्भ कर दी गई थी, को जारी रखना चाहिए था।

प्राकृतिक संसाधनों का टिकाऊ विकास– दसवीं योजना देश में प्राकृतिक संसाधनों पर बढ़ते हुए जैव–दबाव को स्वीकार किया, विशेषकर बढ़ती हुई जनसंख्या के कारण भूमि, पानी एवं जैव–विविधता पर। इसके नतीजे के तौर पर जोतों का विखण्डन बढ़ गया और इससे देश में भू–जोतों का आकार छोटा होता जा रहा है। इस समस्या के समाधान के लिए दसवीं योजना ने निम्नलिखित उपाय सुझाए:

(क) कृषि भूमि का सुविधाजनक हस्तान्तरण ताकि किसान अपनी जोतों को सक्षम इकाइयों में परिवर्तित कर सकें।

(ख) भूमि के पट्टे और ठेका–खेती को सुविधाजनक बनाना और इसके लिए भूमि का आन्तरिक पट्टेदारी और बाह्य पट्टेदारी को सुविधाजनक बनाना;

(ग) लघु तथा सीमान्त जोतों की उत्पादिता बढाने के लिए उचित प्रौद्योगिकीयों को विकसित करना। ध्यान रहे कि ये जोतें कुल जोतों का 78 प्रतिशत हैं और कुल कृषि–आधीन क्षेत्रफल के 32 प्रतिशत की काश्त करती है।

1.8.3 सामान्य आर्थिक विकास के लिए कृषि विकास अनिवार्य

भारत में कृषि के महत्त्व का एक कारण यह भी है कि राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की प्रगति के लिए कृषि का विकास एक अनिवार्य शर्त हैं। रेगनर नर्क्से (Ragnar Nurkse) का कहना है कि कृषि पर आधारित अतिरिक्त जनसंख्या को वहां से हटाकर नए आरम्भ किए गए उद्योगों में लगाया जाना चाहिए। उनका मत यह है कि इससे एक ओर कृषि–उत्पादिता में वृद्धि होगी और दूसरी ओर अतिरिक्त श्रम–शक्ति का उपयोग करके नई नई औद्योगिक इकाईयों की स्थापना की जा सकेगी।

आजकल नर्क्से–सिद्धान्त पर आलोचना के रूप में यह कहा गया है कि औद्योगीकरण का अर्थ कृषि क्षेत्र से श्रमिकों को हटाकर उद्योगों में लगा देना नहीं है। औद्योगीकरण के लिए विशेष प्रकार की अभिप्रेरणाएँ और मूल्य आवश्यक हैं, जिनका भारत जैसी कृषि–प्रधान अर्थव्यवस्था में विकास नहीं हो सकता। उक्त प्रेरणाओं और मूल्यों के विकास के लिए पहले कृषि में ही परिवर्तन किया जाना अनिवार्य है। दूसरे, विपण्य अतिरेक में काफी वृद्धि करनी पड़ेगी ताकि बढ़ती हुई शहरी आबादी की आवश्यकताओं को पूरा

किया जा सके तथा उद्योगों को कच्चा माल उपलब्ध कराया जा सके। तीसरे, नए उद्योग चाहे कितनी ही तीव्र गति से क्यों न विकसित हो और सेवा क्षेत्र की तीव्र वृद्धि हो रही हो, वे भारत की लगातार बढ़ रही आबादी और श्रम–शक्ति को रोजगार दिलाने में पर्याप्त नहीं होगे। अतः अतिरिक्त रोजगार नए उद्योगों में खोजना होगा। परिणामतः कृषि की उन्नति आवश्यक होगी।

दूसरे शब्दों में सामान्य आर्थिक प्रगति के लिए या तो कृषि का विकास पहले करना होगा या फिर साथ–साथ। भारतीय आयोजकों को दूसरी और तीसरी योजना में यह कटु अनुभव प्राप्त हुआ कि कृषि क्षेत्र से वस्तुओं की अपेक्षित मात्रा में प्राप्ति न हो सकने के कारण कैसे सम्पूर्ण आयोजन–प्रक्रिया ही अस्त–व्यस्त होने लगती है।

अतः कृषि क्षेत्र में कोई भी परिवर्तन–सकारात्मक या नकारात्मक– अर्थव्यवस्था पर गुणक प्रभाव डालता है। कृषि क्षेत्र खाद्य–सुरक्षा बनाए रखने में मुख्य योगदान अदा करता है और इस प्रकार यह राष्ट्रीय सुरक्षा को भी मजबूत करता है। पारिस्थितिकीय संतुलन को कायम रखने के लिए, कृषि तथा सम्बद्ध क्षेत्रों का पोषणीय एवं संतुलित विकास आवश्यक है। कृषि के अन्य महत्त्वपूर्ण कार्यभाग को स्वीकार करते हुए दसवीं योजना ने इस बात पर बल दिया है कि देश के त्वरित आर्थिक विकास के लिए कृषि–विकास का केन्द्रीय स्थान है। इसी के द्वारा आर्थिक विकास के लाभ विस्तृत रूप में फैलाए जा सकते है।

परिणामतः कृषि क्षेत्र में कोई भी परिवर्तन सकारात्मक या नकारात्मक–समग्र अर्थव्यवस्था पर गुणक प्रभाव डालेगा। 2002–03 के पश्चात्, भारतीय कृषि एक संकट से गुजर रही है– खाद्यान्न का भारी अतिरेक समाप्त हो गया है, गेहूँ का बड़ी मात्रा में आयात किया जा रहा है, और देशभर में किसान आत्महत्याएँ कर रहे हैं। 100 करोड़ की जनसंख्या वाले देश को खाद्यान्नों एवं खाद्य–तेलों जैसी बुनियादी वस्तुओं के लिए आयात पर निर्भर रहना उचित नहीं। दसवीं योजना में इस बात पर पुरजोर बल दिया गया कि कृषि–क्षेत्र हमारी खाद्य–सुरक्षा और राष्ट्रीय सुरक्षा की दीवार का कार्य करता है।

दुर्भाग्य की बात यह है कि हमारी अधिकतर पंचवर्षीय योजनाएँ कृषि के निर्धारित लक्ष्यों को प्राप्त करने में विफल हुई हैं। वास्तव में, कृषि को सापेक्षतः कम महत्त्व दिया गया और उद्योगों एवं सेवाओं को अधिक प्राथमिकता दी गई।

1.8.4 निम्न उत्पादिता के कारण

हम यह विवेचन कर चुके है कि भारत में विश्व के अन्य देशों के मुकाबले प्रति हेक्टर तथा प्रति श्रमिक कृषि उत्पादिता अभी भी कम है। यद्यपि पिछले कुछ वर्षो में विशेषतया योजनाओं के दौरान स्थिति में काफी उन्नति हुई है फिर भी अभी काफी प्रगति करने की जरूरत है। कृषि के पिछड़ेपन के कारणों का विश्लेषण उपयोगी होगा क्योंकि इससे सरकार द्वारा कृषि के सुधार के लिए अपनाए गये उपायों और नीतियों को समझने में सहायता मिलेगी। ये कारण तीन वर्षो में बॉटे जा सकते है – (क) सामान्य कारण, (ख) संस्थानात्मक कारण, और (ग) तकनीकी कारण।

(क) सामान्य कारण

1. **कृषि क्षेत्र में बहुत बड़ी संख्या में लोगों का कार्यरत होना** – भारतीय कृषि की असली समस्या इस पर बहुत अधिक लोगों का निभर होना हैं। 1901 में कृषि पर निर्भर रहने वालों का अनुपात ज्यों का त्यों है। अर्थात् लगभग 70 प्रतिशत है। यद्यपि कृषि में लगी आबादी को प्रतिशत संख्या में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है किन्तु कुल संख्या की दृष्टि से इस शताब्दी के आरम्भ में 1.630 लाख के मुकाबले 1991

में यह 5.999 लाख हो गई। जनसंख्या में हुई स्वाभाविक वृद्वि को उद्योगों में खपाया नहीं जा सका। यही नही, पारम्परिक दस्तकारियों में लगे हुए व्यक्तियों ने भी उन्हें छोड़कर कृषि को ही अपनी आजीविका का साधन बना लिया। इस प्रकार कृषि पर निर्भर अत्यधिक जनसंख्या के परिणामस्वरूप खेत विकसित होकर छोटे–छोटे टुकड़ों में बंट गए, प्रति व्यक्ति भूमि की मात्रा कम हो गई और कृषि में अदृश्य बेरोजगारी प्रकट हुई। भूमि पर जनसंख्या के निरन्तर दबाव के कारण प्रति किसान कृषि भूमि की मात्रा 1901 से 2001 तक कुल क्षेत्रफल में वृद्वि के बावजूद 0.43 हेक्टर से कम होकर 0.20 हैक्टर हो गई। स्पष्ट है कि जब तक भूमि पर जनसंख्या का यह दबाव कायम रहेगा, कृषि के विकास में अधिकतर सफलता प्राप्त होने की संभावना कम ही रहेगी।

2. **अपर्याप्त फार्म –भिन्न सेवाएँ** भारतीय कृषि को फार्म–भिन्न सेवाओं अर्थात् वित्त और विपणन की व्यवस्था आदि की अपर्याप्तता के कारण परेशनी उठानी पड़ी है। या तो ये सुविधाएँ सर्वथा विद्धमान ही नहीं या बहुत महंगी है। उदाहरणतया, कुछ समय पहले तक कृषकों को रूपया उधार लेने के लिए गांव के साहूकारों पर निर्भर रहना पड़ता था जो अत्यधिक व्याज पर उधार देते थे। एक बार रूपया उधार लेने पर किसान को अपनी जमीन तक बेचनी पड़ जाती थी और वह भूमिहीन मजदूर बन कर यह जाता था। वित्त के अन्य साधन अर्थात् सरकारी समितियाँ और सरकार भी वित्त उपलब्ध कराते थे। परन्तु वे महत्वहीन थे। इसी प्रकार कुछ समय पहले तक कृषकों को माल–संग्रह करने और विपणन की सुविधाएँ प्राप्त नही थी। बेचने के लिए माल मण्डी में लाए जाने पर थोक व्यापारियों और दलालों द्वारा ठगा जाना निश्चित था। इस प्रकार भारत में कृषि के पिछड़ेपन का महत्वपूर्ण कारण फार्म–भिन्न सेवाओं की अपर्याप्तता है।

(ख) संस्थात्मक कारण

1. **जोतों का आकार –** भारत में जोत का औसत आकार बहुत छोटा है, अर्थात् पांच एकड़ से भी कम। ये जोतों न केवल छोटी है, बल्कि इतने छोटे होते है कि उनमें साधारण हल भी नही चलाया जा सकता। खेतों के छोटा होने के कारण वैज्ञानिक विधि से खेती–बाड़ी सभंव नहीं है। परिणमतः समय, श्रम और पशुशक्ति का भारी अपव्यय होता हैं, सिचांई सुविधाओं के उचित उपयोग में कठिनाई होती हैं। किसानों में झगड़े और मुकदमेंबाजी की दुष्प्रवृत्तियाँ पैदा होती है तथा बाड़ लगाने की कठिनाई के कारण फसल को क्षति पहुंचती है। खेतों के छोटे–छोटे तथा खण्ड–खण्ड होने के कारण जनसंख्या का दबाब और उत्तराधिकार की वर्तमान प्रणाली है जिसके अन्तर्गत पूर्वजों की सम्पत्ति में सभी बेटों को (अब बेटियों का भी) बराबर हिस्सा रहता है। खेतों का छोटा आकार भारतीय कृषि की निम्न उत्पादिकता का एक कारण है।
2. **भू–पट्टेवारी का ढाँचा –** कृषि की कम उत्पादकता का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण कारण उचित प्रोत्साहन का अभाव रहा है। जमींदारी तथा भू–स्वामित्व की प्रणलियों के अन्तर्गत कृषक उस जमीन का स्वामी नहीं होता था जिसे वह जोतता था। जमीन का स्वामी उसे जमीन से निकाल सकता था। यद्यपि अब जमींदारी प्रथा का अन्त किया जा चुका हैं और विभिन्न राज्यों में काश्तकारी–विधान लागू हो चुका है,फिर भी काश्तकारों की स्थिति संतोषजनक नहीं है। काश्तकार भूमि का स्वामी नहीं है, उसे जमीन पर खेती करने के बदले भारी लगान देना पड़ता और उसकी

स्थिति सुरक्षित नहीं है। क्योंकि जमींदार जब चाहे उसे हटा सकता है। ऐसी कठिन परिस्थितियों में किसान से कृषि उत्पादिता बढ़ाने की आशा नहीं की जा सकती।

देश में कुछ छोटे कृषक भू–स्वामी हैं जो कि कृषि उत्पादन का कशुलतापूर्वक संगठन कर सकते है, किन्तु खेतों के छोटे आकार और फार्म–भिन्न सेवाओं की अपर्याप्तता जैसी बाधाओं के कारण, अपने उद्देश्य में सफल नही हो पा रहे है।

(ग) तकनीकी कारण

1. **उत्पादन की पिछड़ी तकनीक**– भारतीय कृषक उत्पादन की पुरानी और अक्षम विधियाँ तथा तकनीकी का प्रयोग करता चला आ रहा है। निर्धन एवं परम्परावादी होने के कारण, वह पश्चिमी देशों में और जापान में बड़े पैमाने पर अपनाई गई आधुनिक तकनीकी को नहीं अपना सका है। कुछ समय में केवल सीमित रूप में ही वह इस्पात का हल, गन्ना पीड़ने का कोल्हू, छोटे पम्पिंग सेट, हथगाड़ी, कुदाल,बीज–वपित्र और चारा कांटने के यन्त्र आदि उन्नत उपकरणों का प्रयोग करने लगा है। किन्तु भारत में खेती के काम में आने वाले उपकरणों में इन उन्नत उपकरणें की मात्रा अभी बहुत कम है।

   उत्पादन में वृद्धि केवल तभी हो सकती है जब उपर्युक्त और पर्याप्त खाद प्रयोग में लाई जाए। भारत में खाद के प्रयोग की आवश्यकता और भी अधिक है क्योंकि लगातार खेतीबाड़ी किए जाने के कारण भूमि पूर्णतः निःसत्व हो चुकी है। उर्वरता को पुनः उन्नत करने और परती भूमि को उपयोग में लाने के लिए सभी प्रकार की खादों के प्रयोग की तुरन्त आवश्यकता है। किन्तु भारत में गोबर की खाद और रासायनिक उर्वरक दोनों की ही बहुत कमी है।

   तात्पर्य यह है कि भारत में कृषि की निम्न उत्पादिता का एक महत्त्वपूर्ण कारण उत्पादन की घटिया तकनीक का प्रयोग करना है। जब तक किसानों को सुधरे उपकरणों के उपयोग की, सुधरे बीज बोने की, उपयुक्त और पर्याप्त खाद तथा उर्वरक के प्रयोग की ओर विनाशकारी कीड़ों तथा रोगों को प्रभावशाली ढंग से मिटाने की प्रेरणा नहीं दी जाती तब तक उत्पादिता बढ़ाने की आशा नहीं की जा सकती।

2. **अपर्याप्त सिंचाई सुविधाएँ–** भूमि, बीज, खाद और कृषि उत्पादन आदि में सुधार का तब तक कोई लाभ नहीं जब तक इनके साथ–साथ सिंचाई की उचित और नियमित व्यवस्था न हो जाए। भारतीय कृषि के पिछड़ेपन का एक मूल कारण यह है कि हमारे देश के अधिकांश किसानों को वर्षा पर निर्भर रहना पड़ता था और कृत्रिम सिंचाई सुविधाएँ बहुत कम को उपलब्ध थी। उदाहरणतया, देश–विभाजन से पूर्व केवल 19 प्रतिशत भूमि में सिंचाई होती थी। योजनाकाल में बड़ी और छोटी सिंचाई योजनाओं के प्रबल विकास के बावजूद कुल खेती योग्य भूमि के केवल 33 प्रतिशत में ही सिंचाई होती है। इससे स्पष्ट है कि देश में कृत्रिम सिंचाई के लिए व्यापक क्षेत्र विद्यमान है।

   इस विवेचना में निम्न उत्पादिता के जिन कारणों का ऊपर उल्लेख किया गया है, उन्हें दूर करने के उपायों का संकेत भी मिलता है। कृषि उत्पादिता बढ़ाने का प्रयास करते हुए उक्त कारणों को दृष्टि में रखना उचित होगा। एक ओर इस बात का प्रयास किया जा रहा है कि ग्रामीण जनसंख्या के लिए वैकल्पिक रोजगार उपलब्ध कराए जाएं और व्यवसायिक ढाँचे में इस प्रकार परिवर्तन किया जाए कि केवल 60 प्रतिशत लोग ही कृषि पर निर्भर रह जाएँ। जहाँ तक तकनीकी कारणों

का प्रश्न है, किसानों को उन्नत उपकरणों, बीजों, रासायनिक खादों आदि के लाभों से परिचित कराने तथा उनका उपयोग करने की दिशा में उत्साहवर्द्धक कार्य किया जा रहा है। सिंचाई सुविधाएँ तेजी से उपलब्ध कराई जा रही है। दोहरी फसल, अधिक श्रेष्ठ फसल चक्र, पौधों को लगने वाले कीड़ों और बीमारियों को मिटाने आदि की ओर भी ध्यान दिया जा रहा है। अतः आशा है कि समय आने पर कृषि की भू– उत्पादिता और श्रम–उत्पादिता में वृद्धि हो जाएगी। जितनी जल्दी ऐसी हो सकेगा, राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था का उतना ही अधिक हित हो सकेगा।

1.8.5 विकास के लिए सुझाव

अगर हम चाहते है कि हमारे देश विकसित हो, तो दो ही बेहतरीन नुख्सें है– पहला, प्रति एकड़ कृषि उत्पादकता बढ़े और साथ–साथ प्रति एकड़ काम करने वालों की संख्या घटे। कहने का तात्पर्य यह है कि जरूरत से ज्यादा लोग यदि भूमि में कार्य करेंगे तो इस कुल उत्पादन क्षमता का प्रयोग नहीं हो पायेगा अतः प्रति एकड़ भूमि पर उतने ही श्रम का प्रयोग होना चाहिए जितनी आवश्यकता हो। इसके अतिरिक्त नई तकनीकी की व्यवस्था, विनियोग की तत्परता, कृषि आगतो एवं किसी आपूर्ति की समुचित व्यवस्था, सुनियोजित कृषि मूल्य, और कृषि नीति की सार्थकता के माध्यम से कृषि विकास की योजना सफल की जा सकती है।

1.9 अभ्यास प्रश्न

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. दसवीं पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत कृषि तथा सम्बद्ध क्षेत्रों का परिव्यय में कितना प्रतिशत हिस्सा है –

(a) 20% (b) 25%

(c) 26% (d) 35%

उत्तर

1. a

2 लघु उत्तरीय प्रश्न

1. भारतीय कृषि इतनी पिछड़ी दशा में क्यों है?
2. भारत में कृषि की उत्पादकता बढ़ाने के लिए क्या कदम उठाये गये है?

1.10 सारांश

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि कृषि की निर्वाहमयी व्यवसाय से लाभपूर्ण व्यवसाय में बदलने के लिए कृषि पर आश्रित जनसंख्या के जीवन स्तर में सुधार हेतु और देश के प्रमुख व्यवसाय कृषि को विविधीकृत करने के लिए संस्थागत और तकनीकी सुधारों की अपेक्षा है।

1.11 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

बहुविकल्पीय उत्तर

1. a

1.12 संदर्भ ग्रन्थ

- Datt and Sundram, R., (2009), India Economy, 61st Edition, Suttam Chand & Sons.
- Prakash, B.A., (2009), The Indian Economy Since 1991 – Economic Reforms & Performances, Ist edition, Pearson Education.
- Rudra, Ashok, (1975), Indian Plan Models, Ist edition, Allied Publishers, Bombey.
- Mishra, S. K., and Puri, V. K., (2007), Problems of Indian Economy, Mimalaya Publishing House.
- OECD : A preliminary Assessment of the Impact of the Uruguay Round on Developing Countries, Paris. (1994).
- Govt. of India, Planning Commission, Tenth Five Year Plan, Vol-I
- Economic Survey, 2008-09.
- Economic Survey, 2009-10.

1.13 निबन्धात्मक प्रश्न

1. 'भारत के आर्थिक विकास में कृषि का अत्यधिक महत्व है।' इस कथन की व्याख्या कीजिए?
2. भारतीय कृषि की मुख्य विशेषताओं का वर्णन कीजिए।

इकाई 2 – कृषि आगत
(AGRICULTURAL INPUT)

2.1 प्रस्तावना
2.2 उद्देश्य
2.3 कृषि आगत
  2.3.1 सिंचाई
  2.3.2 भारत में सिंचाई के स्रोत
  2.3.3 पंचवर्षीय योजनाओं के आधीन सिंचाई एवं बाढ़ नियन्त्रण
  2.3.4 सिंचाई क्षमता का अल्प प्रयोग
  2.3.5 बहुउद्देश्यीय नदी घाटी परियोजनाएँ : एक वाद–विवाद
  2.3.6 महत्त्वपूर्ण उपलब्धियाँ
  2.3.7 सहयोगी सिंचाई प्रबन्ध और जल–प्रयोक्ता संस्थाएँ
2.4 उर्वरक और खाद
  2.4.1 उर्वरकों का उत्पादन
  2.4.2 उर्वरकों का आयात
  2.4.3 उर्वरकों का उपभोग
2.5 उन्नत बीज
2.6 कृषि का यन्त्रीकरण
  2.6.1 कृषि यन्त्रीकरण के पक्ष में तर्क
  2.6.2 यन्त्रीकरण के विरुद्ध तर्क
  2.6.3 चयनात्मक यन्त्रीकरण योजना का उचित लक्ष्य
  2.6.4 भारत में फार्म यन्त्रीकरण की प्रगति
2.7 अभ्यास प्रश्न
2.8 सारांश
2.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
2.10 संदर्भ ग्रन्थ सूची
2.11 निबन्धात्मक प्रश्न

2.1 प्रस्तावना

आप सभी को यह भली प्रकार ज्ञात है कि भारतीय अर्थव्यवस्था में GDP की दृष्टि या उत्पादन की दृष्टि से भारतीय कृषि का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है परन्तु कृषि में उत्पादन के लिये कुछ लागत (inputs) भी लगाना पड़ता है। आज की कृषि बहुत हद तक वैज्ञानिक प्रविधियों पर आधारित है, इसलिए कृषि आदानों व अवस्थापनाओं की सहायता आवश्यक है। इस सम्बन्ध में जल, उर्वरक एवं बीज आदि का प्रबन्धन आवश्यक है। इन कृषि आगतों के प्रयोग के विषय में सभी पहलूओं को ध्यान में रखते हुए उन्हें प्रोत्साहित करना आवश्यक है। उपलब्ध आगतों की मात्रा उनका प्रबंधन भी कृषि उत्पाद में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। अतः यह सम्पूर्ण इकाई में आप सभी कृषि आगतों की भूमिका एवं महत्व की जानकारी प्राप्त करेंगे।

2.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्यनोपरांत आप

- ✓ खेती के लिये अनिवार्य जल संसाधन एवं उसके उपयोग (सिंचाई) से सम्बन्धित महत्वपूर्ण तथ्यों की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
- ✓ बहुउद्देशीय नदी घाटी परियोजनाएँ विवाद का विषय क्यों हैं? इस प्रश्न का उत्तर प्राप्त कर सकेंगे।
- ✓ योजनाकाल में सिंचाई की भूमिका का आलोचनात्मक मूल्यांकन कर सकेंगे।
- ✓ कृषि की उत्पादकता को बढ़ाने के लिए उर्वरक एवं खाद की भूमिका की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
- ✓ कृषि में प्रयोग की जाने वाले यंत्रों अर्थात् कृषि यंत्रीकरण के मुख्य तथ्यों की विवेचना कर सकेंगे।

2.3 कृषि आगत

कृषि की दक्षता अर्थात् उत्पादन की प्रवृत्ति कुछ विशेष कृषि आगत पर निर्भर करती है। विकासशील कृषि के लिये अनुकूल संस्थानात्मक और संगठनात्मक संरचना आदि के अतिरिक्त कृषि आगत एवं विधियों में सुधार करना भी आवश्यक होता है।

कृषि के लिये कुछ महत्वपूर्ण आगतों की आवश्यकता है जिसमें कृषि के लिये सिंचाई, उर्वरक, बीज तथा मशीन आदि प्रमुख हैं।

2.3.1 सिंचाई

खेती के लिए जल अनिवार्य तत्व है। यह वर्षा द्वारा अथवा कृत्रिम सिंचाई से प्राप्त किया जाता है। जिन क्षेत्रों में वर्षा काफी मात्रा में और ठीक समय पर होती है, वहाँ पानी की कोई समस्या नहीं है। किन्तु कुछ क्षेत्रों में वर्षा न केवल कम होती है अपितु अनिश्चित भी है। आन्ध्र प्रदेश, मध्य प्रदेश, पंजाब और राजस्थान ऐसे प्रदेश हैं। इन क्षेत्रों में खेती के लिए कृत्रिम सिंचाई नितान्त आवश्यक है क्योंकि इसके बिना खेती सम्भव ही नहीं। कुछ क्षेत्रों में प्रचुर मात्रा होने पर भी वर्ष भर में वर्षा के दिन बहुत थोड़े होते हैं। परिणामतः सारे वर्ष खेती नहीं हो सकती। इन क्षेत्रों में सिंचाई की सुविधा उपल्ध होने से वर्ष में एक से अधिक फसल उगाने में सहायता मिलेगी। अन्त में चावल और गन्ना आदि कुछ ऐसी खाद्य और व्यापारिक फसलें हैं जिन्हें प्रचुर, नियमित और लगातार जल मिलना आवश्यक है।

अधिक उपज के लिए केवल वर्षा पर निर्भर नहीं रहा जा सकता। तात्पर्य यह है कि वर्षा काफी होने पर भी संभव है कि सारे वर्ष में समान और समुचित रूप में न हों तथा जहाँ वर्षा की मात्रा कम हो, वहाँ पानी न मिल सकने के कारण अधिक उत्पादन में बाधा पड़े। संक्षेप में पानी निरन्तर प्राप्त होता रहना आवश्यक है। दूसरे शब्दों में, कृषि के लिए सिंचाई अत्यावश्यक तत्व है। देश के विभिन्न भागों में वर्ष भर में एक न एक समय अकाल के जैसी स्थिति बनी रहती है। इन क्षेत्रों को अकाल से बचाना आवश्यक है। इसके अतिरिक्त दुहरी और यदि सम्भव हो सके तो तिहरी फसल उगाने तथा कृषि–उपज में वृद्धि कराने के लिए भी पानी प्रचुर मात्रा में निरन्तर उपलब्ध कराया जाना आवश्यक है।

तालिका–2.3.1

	सिंचाई	**1950–51**	**2005–06**
1.	नहरें	83 (39.7)	155 (25.8)
2.	तालाब	36 (17.2)	20 (3.3)
3.	कुएँ जिनमें ट्यूबवैल भी शामिल हैं	60 (28.7)	354 (58.8)
4.	अन्य स्रोत	30 (14.4)	73 (12.1)
	कुल	**209 (100.0)**	**602 (100.0)**

स्रोत : Central Statistical Organisation (CSO), Statistical Abstract 2007.

नोट– ब्रैकिट में दिए गए आंकड़े कुल सिंचाई आधीन क्षेत्र का प्रतिशत हैं।

भारत में जहाँ 1950–51 में 209 लाख हेक्टेयर भूमि को कृत्रिम सिंचाई प्राप्त थी, वहाँ 2005–06 में 602 लाख हेक्टेयर भूमि को सिंचाई प्राप्त है। जाहिर है कि 55 वर्षों के दौरान सिंचाई आधीन क्षेत्र में 188 प्रतिशत की वृद्धि हुई। इस प्रकार 1950–51 से 2005–06 के बीच सिंचाई आधीन क्षेत्रफल की वार्षिक वृद्धि दर 2.1 प्रतिशत थी जो इस बात की ओर संकेत करता है कि चाहे पंचवर्षीय योजनाओं में सिंचाई को काफी महत्व दिया गया, फिर भी प्रगति बहुत धीमी रही है।

2.3.2 भारत में सिंचाई के स्रोत

तालिका–2.3.1 से स्पष्ट है कि जबकि 1950–51 में नहरें सिंचाई का सबसे बड़ा स्रोत थीं, अब इनका महत्व सापेक्ष दृष्टि से कम हो गया है। कुँए (जिनमें ट्यूबवैल भी शामिल है) 2005–06 में कुएँ लगभग 59 प्रतिशत सिंचाई उपलब्ध कराते थे। इनमें ट्यूबवैल अधिक महत्वपूर्ण बने जा रहे हैं और इनका भाग 34 प्रतिशत कर पहुँच गया है। नहरे दूसरा सिंचाई का प्रधान स्रोत हैं और उसके द्वारा लगभग 26 प्रतिशत भूमि की सिंचाई की जाती है। सिंचाई के स्रोतों में तालाबों का महत्व गिर गया है और इसका भाग जो 1950–51 में 17.2 प्रतिशत था कम होकर 2005–06 में केवल 3.3 प्रतिशत हो गया है।

भारत में सिंचाई कार्यों को दो वर्गो में विभक्त किया गया है – बड़े सिंचाई कार्य और छोटे सिंचाई कार्य। 1978–79 से योजना आयोग ने सिंचाई परियोजनाओं का नया वर्गीकरण चालू किया है।

(क) **बड़ीं सिंचाई योजनाएँ–**इनमें वे परियोजनाएँ शामिल की जाती हैं जिनके नियन्त्रण–आधीन 10,000 हेक्टेयर से अधिक कृषि योग्य क्षेत्रफल हो।

(ख) **मध्यम सिंचाई योजनाएँ–**इनमें वे परियोजनाएँ शामिल की जाती हैं जिनके नियन्त्रण आधीन 2,000 से 10,000 हेक्टेयर कृषि योग्य क्षेत्रफल हो।

(ग) **छोटी सिंचाई योजनाएँ–**इमनें वे परियोजनाएँ शामिल की जाती हैं जिनके नियन्त्रण आधीन 2,000 हेक्टेयर तक क्षेत्रफल हो।

बड़ी सिंचाई परियोजनाओं के निर्माण में अनेक तकनीकी और प्रशासनिक कठिनाइयाँ विद्यमान रहती हैं। किन्तु इन परियोजनाओं की क्षमता अधिक होती है, यहाँ तक कि इनसे लाखों एकड़ भूमि सींची जा सकती है। इनके कारण अकाल का खतरा पूर्णतया टल सकता है। इसके अतिरिक्त बड़ी सिंचाई परियोजनाएँ बहुउद्देश्यीय परियोजनाएँ होती हैं जिनका उद्देश्य सिंचाई के लिए पानी प्रदान करने के अतिरिक्त बाढ़ नियन्त्रण और नौचालन और जल–विद्युत का निर्माण करना भी होता है।

तालिका–2.3.2

वर्ष	बड़ी तथा मध्यम सिंचाई	छोटी सिंचाई	कुल सिंचाई
1950–51	97 (42.9)	129 (57.1)	226 (100.0)
1980–81	273 (46.5)	313 (53.5)	587 (100.0)
1999–2000	350 (36.8)	600 (63.2)	950 (100.0)
2006–07	420 (40.73)	610 (59.22)	1030 (100.0)
अन्ततोगत्वा क्षमता	590 (42.1)	810 (57.9)	1,400 (100.0)

स्रोत–आर्थिक समीक्षा (2008–09)

नोट–ब्रैकिट में दिए गए आंकड़ों कुल सिंचाई आधीन क्षेत्र का प्रतिशत है।

छोटी सिंचाई परियोजनाओं के मुख्य गुण यह है कि इनके लिए कम धन की आवश्यकता पड़ती है। इनका निर्माण कम समय में हो जाता है और कृषि –उत्पादन पर इनका प्रभाव तुरन्त प्रकट हो जाता है। शीघ्र फल प्राप्त करने की दृष्टि से छोटी सिंचाई परियोजनाएँ बहुत उपयोगी होती हैं। अतः सरकार की वर्तमान नीति यह है कि बड़ी और छोटी दोंनो प्रकार की सिंचाई परियोजनाओं का संतुलित विकास किया जाए। छोटी सिंचाई योजनाओं द्वारा कुल सिंचित क्षेत्र के लगभग 59 प्रतिशत को पानी उपलब्ध कराया जाता है।

जब भारत ने 1950–51 में आयोजित आर्थिक विकास आरम्भ किया तो बड़ी तथा मध्यम सिंचाई के आधीन 97 लाख हेक्टेयर भूमि थी और छोटी सिंचाई के आधीन 129 लाख हेक्टेयर । इस प्रकार कुल मिलाकर 226 लाख हेक्टेयर भूमि को सिंचाई प्राप्त थी।

2001–2002 के अन्त तक बड़ी तथा मध्यम सिंचाई के आधीन कुल क्षेत्र बढ़कर 371 लाख हेक्टेयर हो गया और छोटी सिंचाई के आधीन 569 लाख हैक्टेयर। कुल मिलाकर सिंचाई आधीन क्षेत्रफल 940 लाख हेक्टेयर था। भारत सिंचाई सुविधाओं की दृष्टि से विश्व में प्रथम स्थान रखता है।

सभी सिंचाई परियोजनाओं से अन्ततोगत्वा क्षमता 1,400 लाख हेक्टेयर आंकी गयी है। दीर्घकालीन उद्देश्य के रूप में इसे सन् 2010 तक प्राप्त किया जाएगा।

2.3.3 पंचवर्षीय योजनाओं के आधीन सिंचाई एवं बाढ़ नियन्त्रण –

नौंवीं योजना के अुसार, सिंचाई, कमान–क्षेत्र विकास और बाढ़ नियंत्रण पर (1996–97 की कीमतों पर) 2,31,387 करोड़ रुपये का कुल विनियोग किया गया। तालिका–3 में विभिन्न मदों के आधीन परिव्यय दिया गया है। विनियोग के ढांचे से 46 वर्ष की पूर्ण अवधि के दौरान एक विशिष्ट समानता का बोध होता है। बड़ी तथा मध्यम सिंचाई पर कुल विनियोग का लगभग 57 प्रतिशत छोटी सिंचाई पर 31–32 प्रतिशत, कमान–क्षेत्र विकास पर 5 से 7 प्रतिशत और बाढ़ नियंत्रण पर लगभग 5 प्रतिशत व्यय किया गया। विनियोग का यह ढांचा पहली छः योजना में पाया गया और सातवीं एवं आठवीं योजना में भी यही ढांचा बना रहा।

तालिका–2.3.3

अवधि	बड़ी तथा मध्यम सिंचाई	छोटी सिंचाई	कमान–क्षेत्र विकास	बाढ़ नियन्त्रण	कुल
पहली छः योजनाएँ	72,000	39,779	6,538	7,245	1,25,562
(1951 से 1985)	(57.3)	(31.7)	(5.2)	(5.8)	(100.0)
सातवीं योजना	21,207	11,897	2,763	1,789	37,566
(1985 से 1990)	(56.4)	(31.4)	(7.4)	(4.8)	(100.0)
वार्षिक योजनाएं	8,125	4,510	922	686	14,243
(1990 से 1992)	(57.0)	(31.7)	(6.5)	(4.8)	(100.0)
आठवीं योजना	31,058	17,302	3,163	2,493	54,016
(1992 से 1997)	(57.5)	(32.0)	(5.9)	(4.6)	(100.0)
कुल	1,32,390	73,389	13,386	12,222	2,31,387
(1951 से 1997)	(57.2)	(31.7)	(5.8)	(5.3)	(100.0)

स्रोत : योजना आयोग, नौंवी पंचवर्षीय योजना (1997–2002), खण्ड–II

इस विनियोग के परिणामस्वरूप 2006–07 तक सिंचित क्षेत्र के रूप में कायम की गयी क्षमता 1028 लाख हेक्टेयर और छोटी सिंचाई द्वारा 604 लाख हेक्टेयर योगदान दिया गया। बड़ी तथा मध्यम सिंचाई द्वारा 81 प्रतिशत क्षमता का उपयोग किया गया और छोटी सिंचाई द्वारा 87 प्रतिशत का। आर्थिक सर्वेक्षण 2009–10 के अनुसार केन्द्र सरकार द्वारा मार्च 2009 तक सिंचाई लाभ कार्यक्रम के अंतर्गत 34,784 करोड़ रुपये ऋण सहायता के रूप में दिए गए, जिसका उद्देश्य अपूर्ण पड़ी सिंचाई परियोजनाओं को पूरा करना था। मार्च 2009 तक 268 में से 109 परियोजनाएं पूरी कर ली गई। इस योजना के तहत 59.4 लाख हेक्टेयर भूमि को सिंचित किया गया।

तालिका–2.3.4

स्रोत	कायम की गई क्षमता	उपयोग की गई क्षमता	प्रतिशत उपयोग
बड़ी एवं मध्यम सिंचाई	424	344	81
छोटी सिंचाई	604	528	87
सिंचाई कुल	**1028**	**872**	**85**

स्रोत : भारत सरकार, ग्यारहवीं पंचवर्षीय योजना (2007–2012)

तालिक 2.3.3 और 2.3.4 में दिए गए आंकड़ों के आधार पर बड़ी तथा मध्यम सिंचाई के अधीन प्रति हेक्टेयर स्थापित क्षमता की लागत (1996–97 की कीमतों पर) 40,167 रूपये और छोटी सिंचाई द्वारा 12,966 रुपये प्रति हेक्टेयर बैठती है। इसका तात्पर्य यह कि बड़ी तथा मध्यम सिंचाई द्वारा लागत छोटी सिंचाई की तुलना में तीन गुना से थोड़ी अधिक है। इससे छोटी सिंचाई पर अधिक बल देने की नीति रेखांकित होती है। किन्तु बड़ी तथा मध्यम सिंचाई द्वारा बिजली उपलब्ध कराने और बाढ़ नियन्त्रण के अतिरिक्त कार्य भी किए जाते हैं। जाहिर है कि सिंचाई–सुविधाओं के विस्तार के लिए दोनों प्रकार के उपायों का प्रयोग करना होगा। यह बात ध्यान देने योग्य है कि खाद्यान्न उत्पादन का 60 प्रतिशत एक तिहाई सिंचाई आधीन कृषि क्षेत्र से प्राप्त किया जाता है और वर्षा पर निर्भर 67 प्रतिशत कृषि क्षेत्र द्वारा शेष 40 प्रतिशत खाद्यान्न उपलब्ध कराये जाते हैं।

2.3.4 सिंचाई क्षमता का अल्पप्रयोग

एक बात जिसकी और ध्यान देना आवश्यक है और जिसकी बहुत अधिक उपेक्षा की गई है, भारतीय खेती में जल–प्रयोग की कुशलता को बढ़ाना है। इसके लिए पानी का भाप के रूप में या अत्यधिक सिंचाई करने या रिसने के कारण पानी के नुकसान को न्यूनतम करने का प्रयास करना चाहिए। इस प्रकार यह अनुमान लगाया गया है कि सिंचाई आधीन क्षेत्रफल को 50 प्रतिशत या 100 प्रतिशत तक भी बढ़ाया जा सकता है।

तालिका–2.3.4 (सिंचाई प्राप्त भूमि पर दोहरी या बहु–फसल की सीमा)

सिंचाई प्राप्त क्षेत्र (लाख हैक्टर)				शुद्ध सिंचाई आधीन क्षेत्र, कुल बोए गए क्षेत्र के प्रतिशत रूप में
वर्ष	कुल	शुद्ध	कुल फसल आधीन क्षेत्र	
1950–51	210	230	1330	17
1970–71	310	380	1660	23
1990–91	480	620	1860	34
1999–00	570	760	1930	39
2000–01	550	760	1860	40
2006–07	610	850	1930	44

स्रोत : Agricultural Statistics at a Glance 2008

पूर्व स्थापित सिंचाई सुविधाओं का श्रेष्ठतर उपयोग भी उतना ही महत्व रखता है। अभी तक हम अपने सिंचाई सम्बन्धी विनियोग से अधिकतम लाभ प्राप्त करने में बुरी तरह विफल हुए हैं और इस प्रकार सिंचाई आधीन भूमि द्वारा कृषि उत्पादन को अधिकतम योगदान उपलब्ध न कराया गया। अतः सिंचाई से यदि बहुफसल नहीं, तो दोहरी फसल तो अवश्य प्राप्त की जानी चाहिए परन्तु सत्य तो यह है कि भारत का अधिकतम सिंचाई प्राप्त क्षेत्र अभी भी एक फसली क्षेत्र है।

1950–51 में कुल सिंचाई क्षेर्त का 8.2 प्रतिशत एक से अधिक बार बोया गया था, यह वर्ष 1970–71 में बढ़कर 22.1 प्रतिशत हो गया और 2006–07 में 44 प्रतिशत। दूसरे शब्दों में 610 लाख हेक्टेयर सिंचाई आधीन क्षेर्त में से केवल 240 लाख हेक्टेयर (या 39.3 प्रतिशत) एक से अधिक बार बोया गया। या तो अधिकतम सिंचाई से केवल एक फसल की सुरक्षा होती है या फिर सिंचाई प्राप्त क्षेतीं में कृषि–व्यवहार इतने विकसित नहीं हुए हैं कि एक से अधिक फसल प्राप्त हो सके।

यदि हम यह कल्पना कर लें कि समग्र सिंचाई प्राप्त क्षेत्र पर दो फसलें उगाई जा सकती हैं, तब एक फसल के आधार पर सिंचाई प्राप्त भूमि के 60 प्रतिशत का अल्पप्रयोग हो रहा है। इस प्रकार का अल्पप्रयोग सरकारी उद्यमों के किसी भी अन्य प्रकार में पाया नहीं जाता। वैज्ञानिकों ने सिंचाई प्राप्त भूमि पर 10 से 12 टन प्रति हेक्टेयर अनाज उत्पन्न करने की सम्भावना बताई है। यदि बहु–फसल पद्धति या फसलों के उचित विकल्प शस्य–चक्र अपनाएं जाएँ। अतः यह स्पष्ट है कि वर्तमान सिंचाई साधनों के पूर्ण प्रयोग द्वारा ही खाद्यान्न के 2,120 लाख टन के वर्तमान उत्पादन को बढ़ाकर 3,000 लाख टन तक ले जाया जा सकता है।

इस अल्प प्रयोग के कुछ महत्वपूर्ण कारण और उन्हें दूर करने के सुझाव निम्नलिखित हैं –

(i) आज भारत के अधिकतम किसानों को सिंचाई के प्रयोग के अनुकूलतम परिणाम प्राप्त करने के लिए आवश्यक ज्ञान नहीं है। उन्हें उचित कृषि व्यवहार, जिसमें शीघ्र

पकने वाली फसलों की उचित किस्में, उचित शस्यचक्र आदि हैं की जानकारी नहीं है। इस सम्बन्ध में अनुसन्धान सम्बन्धी सेवाओं एवं वैज्ञानिकों से सम्बन्धित करना होगा ताकि बहु–फसल व्यवहार अपनाया जा सकें।

(ii) सिंचाई के अनुकूल मत प्रयोग के लिए सहायक सुविधाएँ अर्थात् भू–समतलीकरण, स्थल सुधार, भूमियों की चकबन्दी, कुशल भू–कल्याण आदि देश के बहुत से भागों में उपलब्ध नहीं है। इस स्थिति के सुधार के लिए बड़े पैमाने पर ग्राम सार्वजनिक निर्माण कार्य चालू करने होंगे।

(iii) आज बड़ी तथा मध्यम सिंचाई परियोजनाओँ का उचित रूप में अनुरक्षण नहीं हो रहा है। छोटी सिंचाई की परियोजनाएँ, विशेषकर तालाबों और खुले कुएँ की अधिकतम उपेक्षा की गई है। इस महत्त्वपूर्ण दोष को दूर करने के लिए यह अनिवार्य है कि वर्तमान सिंचाई पद्धति का नवीकरण और आधुनिकीकरण किया जाए। सिंचाई परियोजनाओं बड़ी तथा छोटी दोनों का अनुरक्षण करना होगा ताकि समाज को अधिकतम लाभ प्राप्त हो। साथ ही नगरीय सिंचाई के साथ उचित स्थानों पर कुएँ द्वारा सिंचाई को विकसित करना होगा।

(iv) आज दोषपूर्ण सिंचाई व्यवहार और उचित एवं पर्याप्त जल–निकास सुविधाओं का अभाव न केवल जल के अपव्यय के लिए जिम्मेदार है बल्कि जललग्नता, लवणता एवं क्षारयुक्तता के लिए भी उत्तरदायी है जिनके कारण कृषि योग्य भूमि के बड़े भाग को स्थायी हानि पहुँची है। जल प्रबन्ध सम्बन्धी शिक्षा और जल निकास सुविधाओं की स्थापना द्वारा यह दोष दूर किया जा सकता है।

सामान्य रूप में, दोहरी एवं बहुफसल कार्यक्रम को प्रोन्नत करने के लिए अखिल भारतीय समन्वित कार्यक्रम बनाना होगा ताकि पानी का अनुकूलतम प्रयोग हो सके। उद्देश्य यह है कि प्रति हेक्टेयर उत्पादिता को सिंचाई कृषि की नयी चुनौती का सामना किया जा सकता है।

2.3.5 बहुउद्देश्यीय नदी घाटी परियोजनाएँ – एक वाद–विवाद

स्वतन्त्रता प्राप्ति के तुरन्त बाद के काल में बहुउद्देश्यीय नदी घाटी परियोजनाएँ और अन्य बाँध और नहरें भारत की कृषि की सिंचाई सम्बन्धी आवश्यकताओं, उद्योगों के लिए बिजली और बाढ़ नियंत्रण के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण समझी जाती थी। अतः बाँधों के निर्माण को हमारी आर्थिक योजनाओं में उच्च प्राथमिकता दी गई और बाँधों एवं नहरों पर कुल योजना परिव्यय में 15,000 करोड़ रुपये या 15 प्रतिशत इस कार्य पर खर्च किया गया। भारत विश्व के बाँध–निर्माण करने वाले राष्ट्रों में बहुत महत्वपूर्ण स्थान रखता है। जवाहर लाल नेहरू के अनुसार बांध आधुनिक भारत के मन्दिर हैं। अभी तक सिंचाई एवं जल विद्युत भारत में जल–संसाधनों के विकास के प्रमुख उद्देश्य रहे हैं।

2.3.6 महत्वपूर्ण उपलब्धियाँ

बड़ी एवं मध्यम सिंचाई परियोजनाओं पर भारी विनियोग करने से महत्वपूर्ण परिणाम सामने आये हैं। बड़ी तथा मध्यम परियोजनाओं द्वारा स्थापित सिंचाई–दक्षता के कारण सिंचाई आधीन क्षेत्र जो 1950–51 में 100 लाख हेक्टेयर था बढ़कर 2006–07 में 420 लाख हेक्टेयर हो गया है। कृषि में सफलता और खाद्यान्नों में आत्मनिर्भरता प्राप्त करने के एकमात्र उपाय के रूप में सिंचाई सबसे अधिक महत्वपूर्ण कारण तत्व है।

इस प्रकार जल–विद्युत का उत्पादन जो 1950–51 में 30 करोड़ किलोवाट घण्टे

था, बढ़कर 2006–07 में 1130 किलोवाट घण्टे हो गया – अर्थात् इसमें 38 गुना वृद्धि हुई।

(क) सिंचाई के लाभों में अतिश्योक्ति – ऊपर दी गयी उपलब्धियों का अध्ययन करने से पता चलता है कि ये उपलब्धियाँ वास्तव में इतनी प्रभावी नहीं हैं। चाहे 1951 और 1997 के बीच बड़ी तथा मध्यम सिंचाई परियोजनाओं द्वारा 230 लाख हेक्टेयर तक की सिंचाई–क्षमता कायम की गई किन्तु नालियों एवं जल–मार्गों के निर्माण में विलम्ब होने के कारण वास्तविक रूप में सिंचाई प्राप्त क्षेत्रफल कहीं कम था। योजना आयोग ने यह बात स्वीकार की है कि बड़ी तथा मध्यम सिंचाई परियोजनाओं की उत्पादिता एवं वित्तीय रूप में प्रत्यय–दर निराशापूर्ण ढंग से निम्न है। उदाहरणार्थ, सिंचाई आधीन भूमि से वार्षिक औसत राष्ट्रीय उत्पादिता, सिंचाई आधीन भूमि से वार्षिक औसत राष्ट्रीय उत्पादिता 17 क्विंटल प्रति हेक्टेयर प्राप्त होती है जबकि इससे कम से कम 40 से 50 क्विंटल प्रति हेक्टेयर प्राप्त होना चाहिए। इसके अतिरिक्त, अधिकतम राज्य अपनी सिंचाई परियोजनाओं से कार्यकारी व्यय भी वसूल नहीं कर पा रहे हैं क्योंकि वे समुन्नति कर (Upgrade tax) लगाने और उससे फसल उगाने में रुचि नहीं रखते। छठीं योजना ने 430 करोड़ रूपये की वार्षिक हानि का अनुमान लगाया। आज इस कारण 2,400 करोड़ रुपये की वार्षिक हानि हो रही है।

इस सम्बन्ध में सबसे गम्भीर समस्या बड़ी तथा मध्यम परियोजनाओं को पूरा करने में विलम्ब हो जाता है जोकि सामान्यतया 15 से 20 वर्ष तक हो जाता है और जिसके परिणामस्वरूप इनकी लागत बहुत बढ़ जाती है।

(ख) जल विद्युत सस्ती नहीं – जल विद्युत में निहित मुख्य लाभ यह है कि यह ऊर्जा का एक नवीकरणयोग्य और गैर–प्रदूषित करने वाला स्रोत है। यह भी समझा जाता है कि तापीय एवं न्यूट्रॉन ऊर्जा की तुलना में यह सस्ता है। परन्तु वस्तुस्थिति यह है कि जल विद्युत परियोजनाओँ को चालू करने में लगातार विलम्ब होता ही रहता है। जल–विद्युत परियोजनाओं की परिपक्वता समानान्यतः 5 से 12 वर्ष के बीच रहती है जबकि तापीय–शक्ति की केवल 5 वर्ष। परिणामतः तापीय ऊर्जा के जनन की लागत 4,000 रुपये प्रति किलोवाट है जबकि यह जल–विद्युत के लिए 7,000 रुपये है।

1951 और 2000 के बीच जल–विद्युत की स्थापित क्षमता में आश्चर्यजनक वृद्धि के बावजूद, इसका कुल स्थापित क्षमता में भाग जो वर्ष 1950–51 में 33 प्रतिशत था वह गिरकर वर्ष 2005–06 में 21 प्रतिशत हो गया। एक और महत्वपूर्ण बात यह है कि जल–विद्युत के लाभ अधिकतम उद्योगों एवं शहरी क्षेत्रों को उपलब्ध हैं। ध्यान देने योग्य बात यह है कि बिजली की कमी के काल में कृषि की आवश्यकताओं की उपेक्षा करके शहरी प्रयोक्ताओं को प्राथमिकता दी जाती है। पंजाब और हरियाणा के सम्पन्न किसान ऐसे आपातकाल के लिए डीजल पम्प भी रखते हैं।

(ग) बाढ़–नियन्त्रण का लाभ नहीं – नदी के जल को रोक कर इसे नियन्त्रित दर पर छोड़ते हैं ताकि यह बाढ़ की रोकथाम कर सकें। तथाकथित बहु–उद्देश्यीय नदी–घाटी परियोजनाएँ अपने–अपने क्षेत्रों में बाढ़ों के रोकने के लिए कायम की गई हैं। राष्ट्राय बाढ़ नियन्त्रण प्रोग्राम में 1954 में बहुत से बाँध, निकास–नालियाँ एवं नगर तथा ग्राम विकास योजनाएँ चालू की गईं। मोटे तौर पर बाढ़ नियन्त्रण सम्बन्धी उपाय बुरी तरह विफल हुए हैं और साल–दर–साल बाढ़ों के कारण प्रभावित क्षेत्र और फसलों, पशुओं एवं इन्सानों को होने वाले नुकसान में तेजी से

वृद्धि हुई है।

बड़े बाँधों की एक और समस्या भारी मात्रा में गाद का जलाशयों में जम जाना है। गाद जमने की दर मौलिक अनुमान से अधिक रही है। भारी गाद जमने से जलाशय का संग्रहण क्षमता कम हो जाती है और परिणामतः वे भारी बाढ़ को रोकने के योग्य नहीं रहते। प्रायः एकदम पानी बढ़ जाने से कई बार अचानक बाढ़ आ जाती है, जिससे भारी नुकसान होता है।

(घ) पर्यावरण पर दुष्प्रभाव – बड़े बाँधों और विशाल बहु–उद्देश्यीय नदी–घाटी परियोजनाओं के पर्यावरण पर गम्भीर दुष्प्रभाव पड़ते हैं। इसका एक प्रधान रूप जलग्रस्तता एवं भू–लवणता के कारण सिंचाई परियोजनाओं के कमान–क्षेत्रों में भूमि का कटाव है।

बड़ी सिंचाई परियोजनाओं के साथ बहुत–सी–समस्याएँ जुड़ी हुई हैं। सर्वप्रथम, यह देखा गया है कि जितनी भूमि नई परियोजनाओं द्वारा उत्पादन के आधीन लाई जाती है, उतनी ही भूमि जलग्रस्तता और लवणता के कारण उत्पादन से बाहर चली जाती है। दूसरा, बड़ी परियोजनाओं की परिपक्वता अवधि बहुत लम्बी होती है। कई बार तो यह परिपक्वता अवधि बढ़ते–बढ़ते एक या दो दशक या इससे भी अधिक हो जाती है। तीसरा, इन प्रोजेक्टों के साथ जुड़े हुए अनेक अधिकारी सामान्यतः भ्रष्ट एवं अकुशल होते हैं और इस कारण लागत वृद्धि कहीं अधिक हो जाती है। चौथा, बहुमूल्य कृषि भूमि का एक बड़ा भाग वितरण प्रणाली का विकास करने में नष्ट हो जाता है। अन्तिम परन्तु यह कम महत्वपूर्ण बात नहीं है कि धीरे–धीरे रिसने से पानी की उपलब्धि में बहुत हानि होती है और कई बार यह हानि छोड़े गए पानी की 50 प्रतिशत मात्रा के उच्च स्तर तक पहुँच जाती है। इसका मुख्य कारण यह है कि वितरण सम्बन्धी नालियाँ कच्ची होती हैं और परिणामतः जलग्रस्तता एक गम्भीर समस्या बन जाती है।

अतः डॉ0 बी.बी. बोहरा का यह निष्कर्ष निकालना सही है – ''बड़ी तथा मध्यम सिंचाई का भविष्य धुन्धुला है और देश के पास इस उपाय से 260 लाख एकड़ भूमि में अतिरिक्त सकल सिंचाई क्षमता कायम करने के लिए न ही तो संसाधन उपलब्ध हैं और न ही समय। अतः सभी भावी योजनाओं का मुख्य आधार छोटी सिंचाई विशेषकर भौमजल के प्रयोग द्वारा ही होगी।''

बड़े सिंचाई बाँधों के पक्ष में सम्मोहन समाप्त होना चाहिए और पहले की तुलना में छोटी सिंचाई के लिए कहीं अधिक राशि का प्रावधान होना चाहिए। छोटी सिंचाई की परिपक्वता अवधि भी कहीं छोटी होती है और इसका कार्यान्वयन निजी क्षेत्र द्वारा कुँए, ट्यूबवेल, पम्पसेट आदि स्थापित करके किया जाता है। अतः इसमें वितरण सम्बन्धी नालियों के कारण भूमि का अपव्यय नहीं होता। छोटी सिंचाई के साथ जलग्रस्तता की समस्याएँ भी जुड़ी नहीं रहती। किसान पानी के प्रयोग मे किफायत करते हैं क्योंकि यह व्यवस्था प्रत्यक्षतः उनके नियन्त्रण आधीन होती है। अतः बेहतर प्रबन्ध की दृष्टि से भारी वित्तीय लागत एवं पर्यावरण पर दुष्प्रभाव डालने वाले बड़े बाँध लाभकारी नहीं है परन्तु इस दृष्टि सिंचाई अधिक लाभप्रद है क्योंकि इससे भूमिगत–जल का अधिकतम प्रयोग सुनिश्चित किया जाता है और सिंचाई स्रोतों पर बेहतर नियंत्रण रहता है।

हाल ही के वर्षों में बहुत से बुनियादी प्रश्न उठाए गए हैं और समय आ गया है कि सिचाई नीति पर पुर्नविचार पर नयी नीति का निर्माण किया जाए और बहुउद्देश्यीय नदी घाटी परियोजनाओं पर बल कम किया जाए।

2.3.7 सहयोगी सिंचाई प्रबन्ध और जल–प्रयोक्ता संस्थाएँ

राष्ट्रीय जल नीति (1987) ने सिंचाई प्रणालियों के प्रबन्ध के विभिन्न पहलुओं में किसानों को भागीदारी देने पर विशेष बल दिया गया विशेषकर जल–वितरण और जल–दरों की वसूली के सम्बन्ध में। इस उद्देश्य से विभिन्न राज्यों में जल प्रयोक्ता संस्थाएं कायम की गयीं, परन्तु योजना आयोग द्वारा की गयी समीक्षा से पता चलता है कि इन संस्थाओं द्वराा केवल 8 लाख हेक्टेयर कृषि क्षेत्र का प्रबन्ध किया जा रहा है। यह स्थिति बहुत ही असन्तोजनक है। इन संस्थाओं की मन्द प्रगति के लिए निम्नलिखित कारण/तत्त्व उत्तरदायी हैं :–

1. सरकार द्वारा प्रबन्धित प्रणालियों के चिरकाल से वर्तमान होने के कारण किसानों में जल–प्रयोक्त संस्थाओं में पहल करने की इच्छा समाप्त हो गयी है।
2. किसान भागीदारी पद्धति अपनाने में हिचकचाते हैं जब तक कि उन्हें जल के सम्भरण में लोचशीलता व्यवहार्यता एवं आवश्यकता के अनुसार उपलब्धि का आश्वासन प्राप्त न हो जाए।
3. किसानों को डर है कि नयी प्रणाली के आधीन उन्हें अपेक्षाकृत ऊँची जल–दरों के अतिरिक्त संचालन एवं अनुरक्षण पर भी खर्च करना पड़ेगा।
4. सहयोगी सिंचाई प्रबन्ध के लिए धन–राशि की अनुपलब्धि एक और बाधा है। कमान–क्षेत्र प्रोग्राम के आधीन एक समय सहायता प्रदान करना जल–प्रयोक्ता संस्थाओं को बनाए रखने के लिए अपर्याप्त है।
5. किसानों की जनसंख्या में समरूपता का अभाव जल–प्रयोक्ता संस्थानों की स्थापना में एक और रुकावट है। किसानों में वर्ग और जाति के आधार पर भेदभाव उन्हें सामूहिक रूप में संगठित होने के मार्ग में रूकावट है।
6. अधिकारतन्त्रीय प्रशासन में जल–प्रयोक्ता संस्थाओं की स्थापना के प्रति वचनबद्धता का अभाव है।

योजना आयोग ने एक कार्यदल स्थापित किया है जिसका उद्देश्य जल–प्रयोक्ता संस्थाओं के क्षेत्र विस्तार के उपायों के लिए सुझाव देना है। आवश्यकता इस बात की है कि जल–प्रयोक्ता संस्थाओं के वित्त–प्रबन्ध के लिए एक अलग खाता खोला जाए।

राज्य का कार्यभार – सिंचाई में निजीकरण के परिणामस्वरूप सरकार का सिचाई के वित्त–प्रबन्ध में प्रत्यक्ष कार्यभाग कम हो जाएगा परन्तु इसका एक सुविधाजनक और नियन्त्रक का कार्यभाग बहुत बढ़ जाएगा। मुख्य क्षेत्र जिनमें सरकार को अपना कार्यभाग निभाना है, निम्मलिखित हैं –

1. जबकि निजी क्षेत्र की भागीदारी मध्यम और छोटे सिंचाई प्रोजेक्टों के लिए उपयुक्त है,. इससे बड़े प्रोजेक्टों के सम्बन्ध में समस्याएँ पैदा हो सकती हैं। अतः बड़े प्रोजेक्टों के वित्त–प्रबन्ध के लिए सरकार को ही भूमिका निभानी होगी।
2. निजी क्षेत्र सहायता के लिए वन, पर्यावरण, बेदखल किए गए परिवारों को फिर बसाने, भूमि प्राप्त करने आदि के लिए सरकार को विभिन्न विभागों से स्वीकृति उपलब्ध करानी होगी।
3. सरकार को निजी क्षेत्र के विनियोक्ताओं को कुछ रियायतें देनी चाहिए ताकि वे अपनी प्रत्येक दर को बढ़ा सकें। ये रियायतें कर–छूट, ऋण–स्थगन (Moratorium), पर्यटक सुविधाओं आदि के रूप में दी जा सकती हैं।
4. निजी बैंक के विनियोग पर प्रत्याय की गारण्टी देनी होगी।
5. इस प्रकार की सहभागिता में सरकार को अपने और निजी क्षेत्र के दायित्व एक

सन्धि में स्पष्ट करने होंगे।

2.4 उर्वरक और खाद

कृषि उत्पादन को बढ़ाने की किसी भी योजना में रासायनिक खादों का महत्वपूर्ण भाग होता है। भारत की भूमि चाहे नाना प्रकार की है तथा कई प्रकार से उपजाऊ है, परन्तु इसमें नाइट्रोजन और फॉस्फोरस की कमी है जो कि कार्बनिक खाद के साथ फसल के उत्पादन को बढ़ावा देते हैं। जनसंख्या के तीव्र गति से बढ़ने के साथ, खाद्यान्न उत्पादन को बढ़ाने के लिए अधिकाधिक मात्रा में रासायनिक खादों का प्रयोग एक अनिवार्य उपाय हो जाता है।

2.4.1 उर्वरकों का उत्पादन

मोटे तौर पर उर्वरक उद्योग ने पिछले कुछ दशको के दौरान तीव्र प्रगति की है । उर्वरकों का उत्पादन, जो सन 1951–52 में 39,000 टन से बढ़ कर सन 2006–07 में 161 लाथ टन हो गया। उर्वरकों के देशीय उत्पाद में महत्वपूर्ण वृद्धि हुई है परन्तु उपभोग में वृद्धि की दृष्टि से यह पर्याप्त नहीं है।

उर्वरक संयत्र स्थापित करने में अत्यधिक विलम्ब हुआ है। कई बार एक प्रोजेक्ट को स्थापित करने में लगभग 8 से 9 वर्ष तक लग जाते हैं और जिसके कारण इसकी लागत अनावश्यक रूप से बढ़ती जाती है। दूसरे, उर्वरक प्रोग्राम के लिए पूँजी की समस्या है। यह अनुमान लगाया गया है कि एक प्रोजेक्ट के लिए 5000 से 10,000 करोड़ रुपये चाहिए जिसमें से विदेशी मुद्रा का भाग 2,500 करोड़ रुपये आंका गया है। अधिक विदेशी विनियोग की आवश्यकता स्वीकर करते हुए भारत सरकार ने उर्वरक उद्योग में विदेशी पूँजी को आकर्षित करने के लिए 1965 के अन्त में कुछ रियायते दीं, जैसे बहुसंख्यक हिस्सा पूँजी सहयोग, वितरण अधिकार आदि। परन्तु इन सभी रियायतों के देने के बावजूद विदेशी सहयोग बहुत कम था। इसके मुख्य कारण थे – (क) भारत को उर्वरकों के आयात की लाभदायकता बहुत ही ऊँची रही है और (ख) कच्चे मालों की प्रकृति एवं उपलब्धि के बारे में नीति में अनिश्चितता रही है।

तालिका – 2.4.1

(भारत में रासायनिक उर्वरकों का उत्पादन, आयात एवं उपभोग)

वर्ष	उत्पादन (हजार टन)	आयात (हजार टन)	उपभोग (हजार टन)	प्रति हेक्टेयर उपभोग (कि.ग्रा.)
1951–52	39	52	70	0.5
1970–71	1060	630	2260	13.1
1990–91	11860	2760	12550	76.8
2000–01	14750	2090	16700	90.1
2005–06	15575	5253	20340	104.5
2006–07	16096	6058	21651	112.2
2007–08	14760	7750	22570	116.9
2008–09	14334	10221	12470	127.2
2009–10	16320	8123	13225	–––

स्रोत : भारत सरकार, आर्थिक समीक्षा (2009–2010), Agricultural Statistics at a Glance 2009.

2.4.2 उर्वरकों का आयात

चूंकि आन्तरिक उत्पादन लगातार बढ़ती हुई माँग से कम हो रहा है, सरकार को आयात पर निर्भर रहना पड़ता है। आन्तरिक उत्पादन की तुलना में उर्वरकों के आयात का प्रतिशत सदैव बहुत अधिक रहा है। 1951–52 में रासायनिक उर्वरकों का आयात आन्तरिक उत्पादन का 133 प्रतिशत था और यह 1980–81 में कम होकर 92 प्रतिशत हो गया और 2000–01 में और कम हो कर केवल 16 प्रतिशत रह गया। लेकिन उसके बाद 2007–08 तक यह बढ़कर 34.3 प्रतिशत हो गया। 1951–52 तथा 2008–09 के बीच उर्वरक आयात 0.52 लाख टन से बढ़कर 102.2 लाख टन हो गया। इतनी बड़ी मात्रा में उर्वरकों का आयात करना जिसके लिए दुर्लभ विदेशी मुद्रा का प्रयोग करना पड़ता है, सही नहीं है। इसका मुख्य कारण देश में उर्वरकों के उत्पादन की इकाइयाँ स्थापित करने के बारे में स्पष्ट नीति का अभाव रहा है। अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में उर्वरक दुर्लभ होते जा रहे थे और तेल संकट के प्रभाव के कारण 1973 के पश्चात् इनकी कीमत में तेजी से वृद्धि हो रही थी।

2.4.3 उर्वरकों का उपभोग

1965 में नयी विकास रणनीति अपनाने के पश्चात रासायनिक उर्वरकों के उपभोग में तीव्र वृद्धि होती गई है। हाल ही के वर्षों में उर्वरकों के वितरण को सही करने के लिए विशेष उपाय किए गए। इनमें उल्लेखनीय हैं–परिवहन की अच्छी व्यवस्था करना, प्राथमिकता प्राप्त फसलों को उर्वरकों का नियमित सम्भरण, उर्वरकों के लिए अल्पकालीन ऋणों की व्यवस्था, उर्वरकों के संतुलित प्रयोग को प्रोन्नत करना आदि। चाहे हाल ही के वर्षों में भारत में उर्वरकों के उपभोग में भारी वृद्धि हुई है परन्तु अभी भी भारत अन्य प्रगतिशील देशों से बहुत पीछे है।

उर्वरक के उपभोग के बारे में उल्लेखनीय बाते निम्नलिखित हैं –

1. 2008–09 में भारत में उर्वरकों का प्रति हेक्टेयर उपभोग 127.2 किलोग्राम था। इसके विरुद्ध कुछ विकसित देशों सम्बन्धी आंकड़ें इस प्रकार हैं : दक्षिण कोरिया (400 कि.ग्रा.), नीदरलैण्ड (275 कि.ग्रा.), बैल्जियम (225 कि.ग्रा.) और जापान (340 कि.ग्रा.)।
2. उर्वरकों के गहन प्रयोग के लिए पानी का निश्चित सम्भरण एक महत्वपूर्ण शर्त है। देश के अधिकतर भागों में यह परिस्थिती विद्यमान न होने के कारण यह भारत के उर्वरक उपभोग को बढ़ाने में एक मुख्य कठिनाई सिद्ध हुई है।
3. चूंकि वर्षा पर आश्रित 70 प्रतिशत खेत के अधीन क्षेत्रफल द्वारा कुल उर्वरकों के केवल 20 प्रतिशत का उपभोग किया जाता है, सरकार इन क्षेत्रों में उर्वरकों के उपभोग को बढ़ाने के लिए हाल ही के वर्षो में उपाय कर रही है। सरकार ने एक राष्ट्रीय प्रोजेक्ट के आधीन 16 राज्यों के 60 जिले निश्चित किए हैं जिनमें उर्वरकों का प्रयोग बहुत कम था। इसे बढ़ाने के लिए प्रदर्शन, किसानों के प्रशिक्षण, परचून की दुकानों एवं मिट्टी के परीक्षण सम्बन्धी उपाय किए जा रहे हैं।
4. देश के विभिन्न् राज्यों में उर्वरकों के उपभोग में काफी अन्तर पाए जाते हैं। प्रति हेक्टेयर उर्वरक उपयोग में पंजाब का प्रथम स्थान है – 184 कि.ग्रा. प्रति हैक्टेयर, इसके बाद तामिलनाडू में 163 कि.ग्रा. और आन्ध्र प्रदेश में 158 कि.ग्रा., उड़ीसा में सबसे कम उर्वरक उपभोग होता है अर्थात् 44 कि.ग्रा. प्रति हेक्टेयर।
5. रबी की फसलें (खाद्य–भिन्न) हमारे कुल कृषि उत्पादन के एक–तिहाई के समान हैं।

फिर् भी इनके द्वारा दो–तिहाई कुल उर्वरक उपभोग किया जाता है। इसका कारण यह है कि इनके लिए सिंचाई को अपेक्षाकृत निश्चित मात्रा उपलब्ध है या भू–गर्भ में पर्याप्य नमी उपलब्ध है।

6. उर्वरकों पर प्राप्त होने वाले अर्थ सहायता में तेजी से वृद्धि हुई है। ये 1979–80 में 600 करोड़ से बढ़कर 1992–93 में 5,800 करोड़ रुपये हो गये। तत्पश्चात इनमें और वृद्धि हुई है और ये 2006–07 में 22,450 करोड़ रुपये पर पहुँच गए। यह हमारे सरकारी संसाधनों पर अत्यधिक भार है और दुःख की बात यह है कि ये सहायता अधिकतम सम्पन्न किसानों को प्राप्त होती हैं।
7. उर्वरकों की अन्तर्राष्ट्रीय कीमतों मे वृद्धि के कारण अब हम इस बात पर विचार करने पर मजबूर हो गए है कि वनस्पति पोषकों का प्रयोग किया जाए कम से कम सिद्धान्त रूप में यह स्वीकार किया जा रहा है कि कार्बनिक खादों की ओर अब पहले की अपेक्षा अधिक ध्यान देना होगा।

आठवीं योजना में उर्वरक विकास रणनति को कार्बनिक खाद के प्रयोग की ओर मुड़ गया। इसमें गोबर की खाद, वनस्पति खाद, ग्रामीण एवं शहरी दोनों शामिल हैं। एकपक्ष अनुमान के अनुसार एक–तिहाई गोबर इकट्ठा नहीं किया जाता है और एक तिहाई का इस्तेमाल ग्रामीण लोग ईँधन के रूप में कर लेते हैं और वास्तव में एकर्तित किए और इस्तेमाल किए जा रहे गोबर की मार्ता 3,400 लाख टन आंकी गई है आज पशुओं का पेशाब, जिसमें खाद सम्बन्धित महत्वपूर्ण गुण हैं जोकि पूर्णतया व्यर्थ बहने दिया जाता है। यदि पशुओं के पेशाब को गोबर के साथ मिला लिया जाए तो कुछ उपलब्ध खाद की मात्रा 4,000 लाख टन हो जाएगी। ग्रामीण जनसंख्या के लिए यदि विकल्प ईंधन की व्यवस्था की दी जाए तो इससे गोबर की खाद अधिक मात्रा में उपलब्ध हो सकेगी। इसके अतिरिक्त गोबर गैस प्लाट के बढ़ते हुए उपयोग से भी कार्बनिक खाद की मात्रा किसानों को उपलब्ध हो सकेगी। शहरी व्यर्थ पदार्थों वनों के ङास और अन्य व्यर्थ पदार्थों का प्रयोग भी हरी खाद के लिए किया जा सकता है। इन उपायों से रासायनिक खादों पर निर्भरता कम की जा सकती है।

2.5 उन्नत बीज

भारतीय किसान खेती में उन्नत बीजों के महत्व से परिचित हैं। कारण यह है कि उन्नत बीजों द्वारा 10 से 20 प्रतिशत उत्पादन वृद्धि हो सकती है। परन्तु वे सामान्यतया इस प्रकार के बीजों का प्रयोग करते हैं, क्योंकि या तो अच्छे बीज जो बुआई के लिए रक्खे जाते हैं, उपभोग कार्य में लाए जाते हैं या संग्रह न कर सकने के कारण वे नष्ट हो जाते हैं। अधिक महत्व की बात यह है कि किसान उन्नत बीजों का प्रयोग करें। कृषि विभाग तथा भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद ने उन्नत बीजों का विकास करने ओर उन्हें लोकप्रिय बनाने के लिए महत्वपूर्ण कार्य किया है। उदाहरणार्थ, विश्व में प्रसिद्ध गेहूँ और धान की कुछ सर्वोत्तम किस्मों का भारत में विकास किया जा रहा है परन्तु ये बीज थोड़ी मात्रा में उपलब्ध हैं। द्वितीय योजना में उन्नत किस्मों के बीज की माँग को पूरा करने के लिए प्रत्येक विकास खण्ड बनाए गए। सरकार ने 1963 में **राष्ट्रीय बीज निगम** की स्थापना की है जिसका उद्देश्य देश भर के लिए उन्नत उत्पादिता वाले बीजों का उत्पादन एवं वितरण करना है। अधिक उपजाई किस्म के बीजों का प्रोग्राम 1966 में चालू किया गया और 1997–98 तक 760 लाख हेक्टेयर भूमि अधिक उपज किस्म के बीजों के आधीन लाई गई।

तालिका–2.5

(ब्रीडर एवं आधार बीज का उत्पादन एवं प्रमाणित बीजों का वितरण)

वर्ष	ब्रीडर का उत्पादन (क्विंटल)	आधार बीजों का उत्पादन (लाख क्विंटल)	प्रमाणित बीजों का वितरण (लाख क्विंटल)
2004–05	66,460	6.9	113.10
2005–06	68654	7.4	126.74
2006–07	3829	7.96	155.01
2007–08	91960	8.22	179.05
2008–09	100000 अनुमानित	9.69 अनुमानित	190.00 अनुमानित

स्रोत : Economic Survey

बीज उत्पादन के तीन चरण होते हैं। एक ब्रीडर बीजों का उत्पादन। दो, आधार बीजों का उत्पादन और तीन, प्रमाणित बीजों का किसान तक वितरण। उपरोक्त तालिका में हाल ही के वर्षो में अच्छे बीजों के उत्पादन एवं वितरण के विभिन्न चरणों के आंकड़े दिए गये हैं। जिससे पता चलता है कि वर्ष 2008–09 में ब्रीडर बीजों का उत्पादन 1,00,000 क्विंटल, आधार बीजों का उत्पादन 9.69 लाख क्विंटल और प्रमाणित बीजों का वितरण 190 लाख क्विंटल रहा। यह पिछले से काफी बेहतर स्थिति है।

2.6 कृषि का यन्त्रीकरण

भारतीय किसानों द्वारा इस्तेमाल किए जाने वाले औजार और उपकरण सामान्यतया पुराने तथा आदिकालीन हैं जबकि पश्चिमी देशों के किसान उन्नत तथा उद्यतन फार्म–मशीनरी का प्रयोग करते हैं। कृषि के यन्त्रीकरण के फलस्वरूप, इन देशों में भी कृषि क्रान्ति हुई है, जिसकी तुलना 18वीं शताब्दी में हुई औद्योगिक क्रान्ति से की जा सकती है। कृषि के यन्त्रीकरण के कारण उत्पादन में वृद्धि हुई और लागत में कमी। इसके अतिरिक्त कृषि मशीनरी द्वारा बंजर भूमियों को काश्त योग्य बनाया जा सका। इसीलिए तो पश्चिमी देशों की समृद्धि का मुख्य कारण कृषि के यन्त्रीकरण को ही समझा जा सकता है। समामान्यतः यह विकास सुदृढ़ हो गया कि कृषि के यन्त्रीकरण के बिना प्रगतिशील कृषि सम्भव नहीं।

कृषि के यन्त्रीकरण का अर्थ है कि जहां भी सम्भव हो पशु तथा मानव शक्ति का मशीनों द्वारा प्रतिस्थापन किया जाए। हल चलाने का कार्य ट्रैक्टरों द्वारा होना चाहिए, बुवाई और उर्वरक डालने का कार्य ड्रिल द्वारा करना चाहिए. इसी प्रकार फसल काटने का कार्य भी मशीनों द्वारा किया जाना चाहिए, कृषि के पुराने ढंगों और औजारों अर्थात् लकड़ी के हलों, बैलों, दरान्ती आदि की जगह मशीनों का प्रयोग किया जाना चाहिए। अतः यन्त्रीकरण का अर्थ खेती की सभी क्रियाओं में हल चलाने से लेकर फसल काटने तथा बेचने तक मशीनों का प्रयोग होता है।

भारत में कृषि के विकास की गति तेज करने के लिए यन्त्रीकरण का प्रश्न महत्वपूर्ण बनता जा रहा है। जहाँ एक ओर तो कृषि के यन्त्रीकरण के पक्के समर्थक मिलते हैं, वहाँ दूसरी और विरोधी पक्ष के विचारक भारत की वर्तमान आर्थिक एवं सामाजिक परिस्थितियों में फार्म–मशीनरी का प्रयोग बिल्कुल अनुचित मानते हैं। अब हम इन दोनों पक्षों के तर्को को प्रस्तुत करेंगे।

2.6.1 कृषि यन्त्रीकरण के पक्ष में तर्क

कृषि के यन्त्रीकरण का मुख्य आधार मशीनरी के उपयोग द्वारा सम्भव होने वाली बड़े पैमाने की मितव्ययिताएं हैं। जितनी धरती पर एक बैल की जोड़ी द्वारा 10 दिन हल चलाया जा सकता है, उतनी भूमि पर ट्रैक्टर द्वारा एक दिन में और अधिक गहरा हल चलाया जा सकता है। दूसरे फार्म मशीनरी ने मनुष्य को भारी काम से छुटकारा दिलाया है। तीसरे, फार्म मशीनरी द्वारा बड़े पैमाने की खेती सम्भव हो पाई। भूमि के बहुत बड़े–बड़े खेत जोते जा सकते हैं, भारी मात्रा में फसल काटी जा सकती है बड़ी मात्रा में उत्पादन मण्डी तक पहुँचाया जा सकता है। इन सभी कार्यों को थोड़े समय मे करने के लिए कृषि मशीनों का प्रयोग होता है। इस प्रकार श्रम उत्पादिता तथा भू–उत्पादिता बढ़ाई जा सकती है। उत्पादन की लागत कम की जा सकती है। अन्तिम यन्त्रीकरण से उद्योग, परिवहन आदि में रोजगार के अवसर भी बढ़ाए जा सकेंगे और परिणामतः कृषि से जिन लोगों का रोजगार छिन जाएगा, वे अन्य क्षेत्रों में रोजगार पा सकेंगे।

पश्चिम देशों, विशेषकर संयुक्त राज्य अमेरिका और भूतपूर्व सोवियत संघ में जहां कृषि का विस्तृत रूप में यन्त्रीकरण किया गया है, कृषि उत्पादन कई गुना बढ़ गया है। चूंकि कृषि की मुख्य समस्या उत्पादन को बढ़ाना है, इसलिए कृषि के यन्त्रीकरण की पुष्टि करना युक्तिसंगत ही है। परन्तु प्रयोग की दृष्टि से भी यन्त्रीकरण के लिए काफी क्षेत्र उपलब्ध हैं। उदाहरणार्थ, ट्रैक्टरों द्वारा बड़े पैमाने पर जंगल साफ किए जा सकते हैं, व्यर्थ भूमि को पुनः काश्त योग्य बनाया जा सकता है और इसी प्रकार भू–रक्षण (Soil protection) आदि में सहयोग प्राप्त हो सकता है। ट्रैक्टरों के अतिरिक्त पम्पिंग सेटों तथा नलकूपों के लिए काफी क्षेत्र विद्यमान हैं। इसी प्रकार तेल निकालने, गन्ने का रस प्राप्त करने आदि के लिए डीजल इंजन तथा बिजली से चलने वाली अन्य मशीनों का प्रयोग किया जा सकता है।

2.6.2 यन्त्रीकरण के विरुद्ध तर्क –

कृषि उत्पादन को बढ़ाने की दृष्टि से यन्त्रीकरण के पक्ष में तर्क दिए जा सकते हैं, वहाँ यन्त्रीकरण के विरोध में भी सबल तर्क प्रस्तुत किए जा सकते हैं। सर्वप्रथम, भारत में जोतों का आकार छोटा होने के कारण यन्त्रीकरण के लिए कोई जगह नहीं। फिर ये छोटी जोतें भी ग्राम के विभिन्न भागों में बिखरी हुई हैं। एक ट्रैक्टर को आधी एकड़ भूमि को काश्य के लिए इस्तेमाल नहीं किया जा सकता। यन्त्रीकरण की एक अनिवार्य शर्त यह है कि कृषि–मशीनों का उचित एवं अनुकूल प्रयोग करने के लिए जोतों का आकार बड़ा होना चाहिए, वे छोटे–छोटे टुकड़ों में बिखरी नहीं होनी चाहिए, जैसा कि भारत में वर्तमान स्थिति है।

दूसरे, कृषि के यन्त्रीकरण के कारण बहुत से कृषि श्रमिक फालतू हो जाएंगे। एक अनुमान के अनुसार यदि पूर्ण यन्त्रीकरण कर दिया जाए तो भारत में उपलब्ध कुल क्षेत्रफल को 30 से 40 लाख कृषकों द्वारा जोता जा सकता है। इस प्रकार लाखों की संख्या में किसान बेरोजगार हो जाएंगे और उन्हें विकल्प रोजगार उपलब्ध कराने की समस्या उत्पन्न होगी। इतनी बड़ी संख्या में कृषि श्रमिकों को कृषि–भिन्न व्यवसायों में रोजगार उपलब्ध कराना सम्भव नहीं। यन्त्रीकरण खेती के विरुद्ध यह सबसे गम्भीर आपत्ति है। यह नीति कम जन–घनत्व वाले विकसित देशों के लिए लाभदायक एवं उचित हैं, अनिवार्य नहीं कि वह भारत के लिए भी ठीक हो।

तीसरे, फार्म मशीनरी के लिए पेट्रोल, डीजल एवं मिट्टी के तेल की आवश्यकता होगी। देश में इन खनिज तेलों की बहुत कमी है क्योंकि आन्तरिक माँग को पूरा करने के लिए देशीय उत्पादन काफी नहीं है और तेल संकट के कारण तेल की अन्तर्राष्ट्रीय कीमत बहुत बढ़ गई हैं। भारत इस कारण तेल पर आधारित फार्म मशीनरी का विस्तृत पैमाने पर प्रयोग नहीं कर सकता।

2.6.3 चयनात्मक यन्त्रीकरण–योजना का उचित लक्ष्य –

इस बात को ध्यान में रखते हुए कि भारत में जोत का आकार छोटा है किन्तु कृषि कार्य में लगी जनसंख्या का आकार बहुत बड़ा है, कृषि में अन्धाधुन्ध यन्त्रीकरण की नीति चलाना बड़ी भारी भूल होगी। भारत में भूमि, एक दुर्लभ साधन है परन्तु श्रम एक प्रचुर साधन है और परिणामतः भू–उत्पादिता को उन्नत करने की नीतियों का ग्राम–जनशक्ति के प्रयोग के साथ सामंजस्य करना होगा। अतः सीमित यन्त्रीकरण की नीति को अपनाना अनिवार्य होगा ताकि श्रम विस्थापन प्रभाव कम से कम किया जा सके। साथ ही गुप्त रूप से बेरोजगार कृषि श्रम को कृषि भिन्न ग्राम उद्योगों में जज्ब करने के लिए इनका विस्तार करना होगा। इसके अतिरिक्त ग्राम क्षेत्रों में जनसंख्या वृद्धि को नियन्त्रित करने के प्रयास त्वरित करने होंगे ताकि जनसंख्या में भावी वृद्धि दर कम हो जाए। इस आवश्यकता को स्वीकार करते हुए पाँचवीं योजना के प्रारूप में उल्लेख किया गया – ''पांचवी योजना में चयनात्मक यन्त्रीकरण की नीति अपनायी जाएगी। उद्देश्य यह होगा कि फसल तीव्रता और फार्म उत्पादिता बढ़ाई जाए। इन दिनों देश में प्रति हेक्टेयर 0.4 हार्स पावर शक्ति उपलब्ध है (जिसमें से मशीनों से प्राप्त शक्ति केवल एक चौथाई है) यह बहुत कम है और इसे बढ़ाना होगा। खेती की नई तकनालॉजी में खेती के काम तेजी से, उचित समय पर ठीक ढंग से करने होते हैं। इसके अलावा बैल खरीदने और इन्हें रखने का खर्चा भी बढ़ता जा रहा है। इन सबको देखते हुए खेती का यन्त्रीकरण आवश्यक लगता है। किन्तु यन्त्रीकरण किस दर से, किस रूप में हो, यह बात जोतों के आकार और कृषि श्रमिकों के रोजगार पर यन्त्रीकरण के प्रभाव आदि सम्बद्ध बातों को ध्यान में रखकर निश्चित करनी होगी। अन्तिम बात खास तौर पर फसल की कटाई एवं सफाई की मशीन का इस्तेमाल करने के बार में अवश्य सोचना होगी। इन मशीनों का उपयोग उन्हीं इलाकों तक सीमित रखना होगा जहाँ फसल की कटाई के दौरान श्रमिकों की कमी रहती है।" अतः आयोजक, इस विषय में सावधानी बरतने की सलाह देते हैं। इस सम्बन्ध में छठी योजना में उल्लेख किया गया – 'फिर भी कृषि कार्यों का अनियन्त्रित यन्त्रीकरण हमारे देश के हित में नहीं होगा, इससे देहातों में बेरोजगारी की समस्या विकट हो जाएगी। इस प्रकार चयनात्मक यन्त्रीकरण की नीति को अपनाया जाएगा।'

2.6.4 भारत में फार्म यन्त्रीकरण की प्रगति

बहुत से सरकारी कार्यक्रम कृषि उपकरणों और मशीनरी की उन्नति से सम्बन्धित थे। ये फार्म यंत्रीकरण और उपकरणों की देश में प्रोन्नति को बढ़ावा देते रहे हैं। इसका उद्देश्य फार्म–क्रियाओं से जुड़ी हुई नीरसता को कम करना है। किसानों को कृषि मशीनरी के क्रय में सहायता करने के लिए सरकार उधार के रूप में सहायता मुहैया करवाती है।

इन सभी प्रयासों के परिणामस्वरूप, पशु–शक्ति का भाग जो 1971–72 में 43.5 प्रतिशत था कम होकर 2001–02 में 9.5 प्रतिशत हो गया। इसका अर्थ यह है कि पशु–शक्ति का मशीन–शक्ति से प्रतिस्थापन हो रहा है। ट्रैक्टर और पावर–टिलर जुताई,

भूसा निकालने और परिवहन के लिए चालन शक्ति का मुख्य स्रोत बन गए हैं। 7.75 प्रतिशत के विरुद्ध अब मशीन–पावर कुल फार्म पावर आवश्यकताओं का 44 प्रतिशत जुटाती है। इसके परिणामस्वरूप भारतीय कृषि में पावर की उपलब्धि जो 1971–72 मे 0.29 कि.वा. प्रति हेक्टेयर थी बढ़कर 2001002 में 1.23 कि.वा. प्रति हेक्टेयर हो गयी है। जैसे–जेसे आगामी वर्षों में फार्म यंत्रीकरण और प्रगति करेगा और आधिक मात्रा में ट्रैक्टर और पावर टिलरों का प्रयोग किया जाएगा, इस पावर उपलब्धता में और उन्नति होगी।

1992–93 से 2001–02 की 10 वर्षीय अवधि के दौरान 22 लाख ट्रक्टरों और 1.3 लाख पावर–टिलरों का विक्रय हुआ। यह अनुमान लगया गया है कि 2001–02 के कृषि आधीन क्षेत्र के 27.8 प्रतिशत पर जुताई के लिए ट्रैक्टरों का प्रयोग किया गया और बीजाई के आधीन 21.3 प्रतिशत क्षेत्रफल पर पावर–टिलरों का इस्तेमाल किया गया। इसके अतिरिक्त, सिंचाई, फसलों की कटाई और भूसा निकालने की क्रियाओं के यंत्रीकरण में भी काफी प्रगति हुई है।

1999–2000 से 2003–04 के पांच वर्षों के दौरन 11.40 लाख ट्रैक्टरों का विक्रय किया गया अर्थात् 2.8 लाख प्रति वर्ष। क्षेत्रीय आंकड़ों से पता चलता है कि इस विक्रय में उत्तर प्रदेश का स्थान सबसे ऊंचा था अर्थात् भारत में कुल विक्रय का 26 प्रतिशत और इसके बाद क्रमानुसार थे मध्य प्रदेश, पंजाब, राजस्थान और हरियाणा। इन पांच राज्यों द्वारा ट्रैक्टरों के विक्रय में 62 प्रतिशत योगदान दिया गया।

जहाँ तक पावर–टिलरों का सम्बन्ध है, पश्चिम बंगाल देश में सबसे आगे है और इसमें 25,537 पावर–टिलरों का विक्रय हुआ, देश के कुल विक्रय का लगभग 35 प्रतिशत. इसके बाद क्रमानुसार तमिलनाडु, असम, कर्नाटक, केरल और उड़ीसा। इन छः राज्यों का देश मे कुल पावर टिलरों के विक्रय में 78 प्रतिशत भाग था।

इस विक्रय सूचक का अभिप्राय यह नहीं कि इसके कारण विभिन्न राज्यों में कृषि उत्पादकता में स्वतः वृद्धि हो जाएगी। कृषि मशीनों के प्रयोग में वृद्धि के बावजूद सभी राज्यों में कृषि विकास की दृष्टि से इनके पोषणीय लाभ समान नहीं हैं क्योंकि इनके अधिकतर लाभ उत्तरी राज्यों एवं कुछ अन्य राज्यों में संकेन्द्रित हो गए हैं चूंकि इनमें सिंचाई सुविधाएं विकसित की जा चुकी हैं।

इसके अतिरिक्त बड़े किसानों ने ट्रैक्टरों एवं पावर–टिलरों का प्रयोग करना आरम्भ किया है क्योंकि इसके लिए बड़े आकार के खेत होने चाहिए परन्तु यदि इनका प्रयोग छोटी खेतों की बहुत अधिक संख्या द्वारा करना हो तो दसवीं योजना का मत है कि जापान जैसे देशों में इस्तेमाल किए जाने वाले उपकरण एवं मशीनें जो विशेषतः छोटी खेतों के लिए उपयुक्त हैं, उनको भी भारत को अपनाना होगा।

2.7 अभ्यास प्रश्न

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. बहुउद्देशीय परियोजनाएं आज भी विवाद का विषय क्यों हैं?
2. क्या कृषि यंत्रीकरण कृषि विकास के लिए आवश्यक है? तर्क सहित उत्तर दीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. भारत में 2006–07 तक कुल कितने प्रतिशत सिंचाई क्षमता का प्रयोग किया गया –

(a) 95 प्रतिशत (b) 85 प्रतिशत
(c) 75 प्रतिशत (d) 65 प्रतिशत

2.8 सारांश

सारांश रूप में हम कह सकते हैं कि कृषि आगतों के विदोहन को लेकर काफी सतर्कता की आवश्यकता है। इसके अतिरिक्त भू–रक्षण, पौधों की सुरक्षा एवं मशीनों के सुचारू प्रयोग जैसे विषयों पर भी ध्यान देना आवश्यक है।

2.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

बहुविकल्पीय *उत्तर*

1– b

2.10 संदर्भ ग्रन्थ सूची

- Datt and Sundram, R., (2009), India Economy, 61st Edition, Suttam Chand & Sons.
- Prakash, B.A., (2009), The Indian Economy Since 1991 – Economic Reforms & Performances, Ist edition, Pearson Education.
- Rudra, Ashok, (1975), Indian Plan Models, Ist edition, Allied Publishers, Bombey.
- Mishra, S. K., and Puri, V. K., (2007), Problems of Indian Economy, Mimalaya Publishing House.
- Govt. of India, Planning Commission, Tenth Five Year Plan, Vol-I
- Shah and Vakil (Ed) : Agricultural Development of India, Policy and Problems.
- Desai, A.R., (1983) Rural Sociology in India, Popular Prakashan, Bombay.
- Bansil, P. C. (1981), Agricultural Problems of India, Oxford and IBH Publishing Company.
- J. W. Mellow; Economics of Agriculatural Development.

2.11 निबन्धात्मक प्रश्न

1. भारत में सिंचाई क्षमता के अल्पप्रयोग के क्या कारण हैं? इसको किस प्रकार दूर किया जा सकता है?
2. कृषि आगतों की विशेषताओं पर प्रकाश डालिए।

इकाई 3 – भूमि सुधार एवं नवीन कृषि रणनीति
(LAND REFORMS AND NEW AGRICULTURAL STRATEGIES)

3.1 प्रस्तावना
3.2 उद्देश्य
3.3 भूमि सुधार से आशय
3.4 भूमि सुधार और आर्थिक विकास
3.5 भारत में भूमि सुधार
  3.5.1 मध्यस्थता उन्मूलन
  3.5.2 काश्तकारी सुधार
  3.5.3 जोतों की सीमा बन्दी
    3.5.3.1 जोत सीमा बन्दी का मूल्यांकन
    3.5.3.2 चकबन्दी
3.6 भूमि सुधारों की अपर्याप्तता
3.7 भू–सुधार नीति की आलोचना
3.8 भू–सुधार और नयी आर्थिक नीति
3.9 नवीन कृषि रणनीति
3.10 नयी कृषि विकास रणनीति
  3.10.1 नयी कृषि विकास रणनीति की कमजोरियाँ
  3.10.2 आय की बढ़ती हुई असमानताएँ
3.11 अभ्यास प्रश्न
3.12 सारांश
3.13 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
3.14 संदर्भ ग्रन्थ सूची
3.15 निबन्धात्मक प्रश्न

3.1 प्रस्तावना

पिछले अध्याय के अध्ययन के उपरान्त आप यह जान चुके हैं कि कृषि अर्थव्यवस्था का निष्पादन स्तर तकनीकि और संस्थागत घटकों से प्रभावित होता है। यदि चर्चा तकनीकि घटकों कि की जाए तो इसमें बीज, सिंचाई, उर्वरक, कृषि यंत्र और पौध संरक्षण प्रमुख है। संस्थागत घटकों के अन्तर्गत भू–धारण प्रणाली, भूमि स्वामित्व का वितरण, कृषिगत रोजगार की संरचना और संस्थागत परिवर्तन की कोटि में एक प्रमुख आयाम भूमि सुधार ही है।
अतः यह इकाई इस प्रकार तैयार की गयी है कि जिससे आपको भारत में भूमि सुधार से सम्बन्धित जानकारी प्राप्त हो सके। इसके अतिरिक्त इसमें भारत सरकार द्वारा निर्मित नवीन कृषि रणनीति की व्यापक चर्चा की जायेगी।

3.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्यनोपरांत आप

- ✓ भूमि सुधार का आर्थिक विकास से सम्बन्ध जान पायेंगे।
- ✓ भूमि सुधार से सम्बन्धित विभिन्न प्रथाओं से अवगत हो सकेंगे।
- ✓ जोतों की सीमा बंधी, चकबंदी सम्बन्धित जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
- ✓ नवीन कृषि रणनीति पर विस्तारपूर्वक चर्चा कर सकेंगे।
- ✓ भूमि सुधार से सम्बन्धित सरकार द्वारा बनायी विभिन्न प्रकार की नीतियों का मूल्यांकन कर सकेंगे।

3.3 भूमि सुधार से आशय

सामान्य रूप से लघु व सीमांत कृषक और कृषि श्रमिक के हित में भूमि संसाधन का पुनर्वितरण भूमि सुधार कहलाता है। विरासत से प्राप्त भूमि प्रणाली में निहित कृषि उत्पादन के अवरोधों को दूर करना और भू–धारण प्रणाली में विद्यमान समस्त शोषण एवं सामाजिक अन्याय को दूर करना भूमि सुधार के उद्देश्य है। छठी पंचवर्षीय योजना में भूमि सुधार के उद्देश्यों को अधिक स्पष्ट रूप से व्यक्त किया गया है। मध्यस्थों की समाप्ति, लगान नियमन, कास्तकारी सुरक्षा तथा कास्तकारों को स्वामित्वाधिकार सहित कास्तकारी सुधार, जोतों पर सीमाबंधी और अतिरिक्त भूमि का वितरण, जोतों की चकबन्दी और भूमि अभिक्षेत्रों का संगठन और नवीनीकरण को भूमि सुधार का मुख्य उद्देश्य माना गया है। अतः भूमि सुधार कार्यक्रम एक ओर भू–धारण प्रथाओं को बदलने के प्रति और दूसरी ओर उत्पादन इकाइयों को आर्थिक आकार में बदलने के प्रति प्रयत्नशील है।

3.4 भूमि सुधार और आर्थिक विकास

भूमि की समस्या भारतीय कृषि में आधारभूत है। जनसंख्या वृद्धि के कारण भूमि पर जनसंख्या का दबाव अधिक बढ़ता जा रहा है। अर्थव्यवस्था के विविधीकरण की अपेक्षाकृत मन्द गति और ग्रामोद्योगों के पतन के कारण भूमि समस्या अधिक दुरूह होती जा रही है। इस परिप्रेक्ष्य में भूमि सुधार की आवश्यकता देश में दीर्घकाल से अनुभव की जाती रही है। भूमि सुधार किसी अर्थव्यवस्था की परम्परागत कृषि में निहित अवरोधों को दूर करता है और रकम व भूमि संसाधनों को अपव्यय से बचाता है। भूमि सुधार एक संस्थात्मक परिवर्तन है और इसे तकनीकी परिवर्तन व वैज्ञानिक कृषि आरम्भ करने के पूर्व किया जाना चाहिए। यद्यपि कुछ ऐसी अर्थव्यवस्थाओं के भी उदाहरण उपलब्ध हैं, जिन्होंने भू–धारण प्रणाली में

समानता और सुधार लाने का विशेष प्रयास नहीं किया, तथापि आर्थिक विकास में बहुत आगे बढ़ गये यथा जापान, हंगरी, इंग्लैंड आदि। इन अर्थव्यवस्थाओं के भू–स्वामियों ने अपने लाभांशों का प्रयोग औद्योगिक विकास हेतु किया। दूसरी ओर ऐसा भी उदाहरण उपलब्ध हैं जहाँ कृषक इन लाभांशों का प्रयोग पूँजी–निर्माण में नहीं करते हैं। इस अवस्था में विलासी व अनुत्पादक अतिरेक को घटाने के लिए भूमि साधन का पुनर्वितरण आवश्यक है। दूसरी ओर समाज के वे लोग जो इस प्रकृति–प्रदत्त संसाधन के लाभों से वंचित हैं, उनका भी इस पर अधिकार हैं, उनके पक्ष में भी इसका पुनर्वितरण होना चाहिए। अधिकांश बड़े भू–स्वामी स्वयं कृषि कार्य न करके असामियों व पट्टेदारों से कराते हैं। जिसमें कास्तकारों की कोई सुरक्षा नहीं होती है और इसके अभाव में कृषि कार्य में अपेक्षित रूचि लिया जाना संदिग्ध हो जाता है। अतः कास्तकारों की सुरक्षा से अवश्य ही उत्पादन बढेगा जोकि आर्थिक विकास में योगदान करेगा। भूमि सुधार में दूसरा महत्वपूर्ण प्रश्न कृषि उत्पादिता बढ़ाकर आर्थिक विकास में योगदान करेगी। भूमि सूधार में दूसरा महत्वपूर्ण प्रश्न कृषि उत्पादिता के सन्दर्भ में जोत आकार से सम्बद्ध है। छोटे व सीमान्त कृषकों को केवल भूमि स्वामित्व प्रदान करना पर्याप्त नहीं है। जोत का उपयुक्त आकार भी होना आवश्यक है। इसके द्वारा भी उत्पादन वृद्धि में सहायता प्राप्त होती है। अतः भूमि सुधार के कुछ अन्य पहलू यथा चकबन्दी, सहकारी खेती एवं जोत सीमाबन्दी भी उत्पादन वृद्धि में येागदान कर आर्थिक विकास को द्रुत बनाते है।

3.5 भारत में भूमि सुधार :

3.5.1 मध्यस्थता उन्मूल

स्वतंत्रता के बाद कृषिक्षेत्र में व्याप्त मध्यस्थों के उन्मूलन को सर्वोच्च प्राथमिकता प्रदान की गई। राष्ट्रीय आकांक्षा के अनुरूप राज्यों की विधान सभाओं द्वारा क्रमशः कानून बनाये गए। अधिकांश राज्यों में मध्यस्थता उन्मूलन का कार्यक्रम 1948 से 1954 की अवधि में लागू किया गया। जमींदारी उन्मूलन सन्नियमों की वैधता को भी चुनौती दी गई तथा विभिन्न पक्षों के प्रति राज्यों के उच्च न्यायालयों और अंततः उच्चतम न्यायालय में मुकदमें दायर किए गए, तथापित इन सन्नियमों को ही सामान्यतः वैधता प्रदान की गई। जमींदारी उन्मूलन कार्यक्रम मुख्यतः जमींदारों की परिसम्पत्ति का राज्य द्वारा क्षतिपूर्ति देकर अधिग्रहण करने का कार्य था। मध्यस्थों की समाप्ति का कार्य 1948 में मद्रास के अधिनियम से आरम्भ हुआ। इसके पश्चात् बिहार, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, बम्बई आदि राज्यों ने भी कानून बनाए। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि पश्चिमी बंगाल में जमींदारी उन्मूलन अधिनियम सबसे बाद में 1954–55 में बनाया गया, जबकि पश्चिमी बंगाल बिचौलियों की लम्बी श्रृंखला और कुप्रभावों से अत्यधिक प्रभावित था सभी राज्यों में जमींदारी उन्मूलन अधिनियम बन चुका है और मध्यस्थों के उन्मूलन का कार्य लगभग पूरा हो चुका है। मध्यस्थता उन्मूलन एक प्रमुख कार्यक्रम था और इसकी उपलब्धि महत्वपूर्ण रही है। देश में कृषि क्षेत्र के 46 प्रतिशत भाग पर मध्यस्थ प्रथा रही है और जिसमें से 54 प्रतिशत भाग पर मध्यस्थों का उन्मूलन किया जा चुका है।

भारत में मध्यस्थ प्रथा यथा जमीदारी, जागीरदारी, इनाम देश के लगभग 40 प्रतिशत भू–भाग पर फैली हुई थीं। इस कार्यक्रम से इनका उन्मूलन हुआ और काश्तकारों की सामाजिक–आर्थिक स्थिति में सुधार हुआ। कुल मिलाकर 173 लाख एकड़ भूमि राज्य के अधिकार में आ गई। सरकार ने 670 करोड़ रूपये की क्षतिपूर्ति कर भूमि पर अपना

स्वामित्व स्थापित कर लिया। इसके साथ–साथ सरकार ने बड़े भूमिखंडों, सामूहिक भूमियों और वनों पर भी अधिकार कर लिया। कृषि सुधार की दिशा में इस शक्तिशाली वर्ग की एक विशेष उल्लेखनीय उपलब्धि थी तथा कृषि सुधार के इतिहास में यह अद्वितीय घटना रही है। मध्यस्थों के उन्मूलन और काश्तकारों को भूमि का स्वामित्व मिलने से कृषकों को उत्पादन बढ़ाने की प्रेरणा मिली। इसके पूर्व मध्यस्थ प्रथा के कारण कृषि में उन्नति के लिए आवश्यक विनियोग नहीं हो पाता था और कृषि की उत्पादिता निम्नकोटि की बनी रहती थी। उत्तरप्रदेश में भूमि सुधार के एक अध्ययन से पता चलता है कि जमींदारी उन्मूलन के कारण जोतों की संरचना समानता की ओर बढ़ी है और जमींदारी उन्मूलन ने व्यक्तिगत पूँजी निर्माण को प्रोत्साहित किया है। यद्यपि बटाई की कुप्रथा पर मध्यस्थों के उन्मूलन का कोई विशेष प्रभाव नहीं हुआ, क्योंकि कानून में इसके निराकरण हेतु कोई व्यवस्था नहीं थी।

3.5.2 काश्तकारी सुधार

जमींदारी और रैयतवारी भूमि व्यवस्था के अधीन देश में पट्टेदारी काश्त प्रचलित रही है। पट्टे पर कृषि कार्य करने वाले किसानों के तीन वर्ग रहे हैं। (क) स्थायी काश्तकार (ख) इच्छित काश्तकार (ग) उप काश्तकार। स्थायी काश्तकार के पट्टेदारी हक स्थायी रहे है। उन्हें पट्टे की स्थिरता और सुरक्षा प्राप्त रहती है। इस कारण अंततः वे कृषि भूमि के स्वामी बन जाते हैं। भूमि व्यवस्था के इस प्रारूप में इच्छित काश्तकारों और उप–काश्तकारों की स्थिति अत्यन्त खराब थी। इन काश्तकारों का भू–स्वामियों द्वारा बार–बार लगान में वृद्धि, बेदखली, बेगार आदि माध्यमों से शोषण किया जाता था। इनकी काश्तकारी भू–स्वामियों की प्रसन्नता तक ही बनी रह सकती थी। राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण के 8वें दौर में यह अनुमान लगाया गया था कि सम्पूर्ण भारत में 1953–54 में लगभग 20 प्रतिशत भूमि पट्टेदारी व्यवस्था के अन्तर्गत थी। इन आँकड़ों में स्थायी काश्तकार की भूमि को सम्मिलित नहीं किया गया था। क्योंकि स्थायी पट्टेदारों को भूमि–स्वामियों के समान अधिकार प्राप्त थे। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद पट्टेदारी में सुधार के निम्नलिखित प्रयास किये गये।

(क) लगान का नियम – स्वतन्त्रता प्राप्ति के पूर्व देश के विभिन्न भागों में लगान की दर अत्यन्त ऊंची थी और साथ–साथ लगान वसूली की अमानुषिक विधि भी प्रचलित थी। पट्टदारों को लगान प्रदान करने के लिए प्रताड़ित किया जाता था। विभिन्न भागों में प्रचलित लगान उपज का 50 प्रतिशत व इससे भी कुछ अधिक था। एच.डी. मालवीय ने अनुमान लगाया कि देश में लगान की दर उपज के 34.75 प्रतिशत भाग तक थी। उस समय लगान या तो परम्परा के आधार पर लिए जाते थे या इनका निर्धारण मांग–पूर्ति की शक्तियों द्वारा होता था। ब्रिटिश शासन के अंतिम चरण तक देश का ग्रामोद्योगी ढाँचा चरमरा गया था। परिणामतः कृषि पर जनसंख्या का बोझ बढ़ जाने से मांग शक्तियाँ अधिक प्रबल हो गयी और लगान बढ़ता गया। इन अंतर्विरोधों को समाप्त करने के लए यह आवश्यक हो गया था कि लगान नियमन किया जाए। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद विभिन्न राज्यों में निर्धारित की गई लगान दरों में विभिन्नता है, तथापि वे एक निश्चिम अंगीकृत मान के आस–पास ही हैं।

प्रथम पंचवर्षीय योजना के अंत में योजना आयोग की ओर से यह सुझाव दिया गया कि सम्पूर्ण देश में लगान का नियमन करके इसके कुल उपज का 20 प्रतिशत से 25 प्रतिशत तक भाग निश्चित किया जाना चाहिए। राजस्थान, महाराष्ट्र और गुजरात में

अधिकतम लगान कुल उपज का छठा भाग नियत किया गया है। उड़ीसा, बिहार, असम, मणिपुर और त्रिपुरा में कुल उपज का 25 प्रतिशत भाग लगान नियत किया गया है। मध्य प्रदेश में लगान भू–राजस्व का गुणज है तथा लगान भू–राजस्व के दुगुने से चार गुने के बीच निश्चित किया गया हे। योजना आयोग ने यह भी सुझाव दिया है कि उपज रूप में लगान निर्धारित करना कठिन है। इस कारण उपज लगान के स्थान पर नकद लगान निर्धारित किया जाना चाहिए, ताकि लगान की दर में होने वाले वार्षिक उच्चावचनों को समाप्त किया जा सके और जोतने वाले को उसके विनियोग का लाभ सुनिश्चित किया जा सके। लगान के सम्बन्ध में विद्यमान किसी भी शोषण और अनिश्चितता को समाप्त करने के लिए प्रयास किया जा रहा है।

(ख) काश्तकारों को स्वामित्व का अधिकार – काश्तकारी सुरक्षा की दिशा में भूमि सुधार कार्यक्रमों का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण पक्ष काश्तकारों के लिए भूमि स्वामित्व अधिकार प्रदान करने की व्यवस्था करता है। भूमि व्यवस्था में न्याय प्रदान करने की दिशा में यह एक महत्वपूर्ण प्रयास है। दूसरी पंचवर्षीय योजना में यह व्यवस्था की गई कि उन जोतों पर जिन्हे भू–स्वामी पुनः नहीं प्राप्त कर सकते, काश्तकारें और सरकार के बीच सम्बन्ध स्थापित किया जाये। इस आकांक्षा के अनुरूप राज्यों ने कानून लागू किये हैं जिनके अनुसार पट्टेदार कृषक भू–स्वामी को निश्चित क्षतिपूर्ति प्रदान कर भू–स्वामित्व प्राप्त कर सकता है। पश्चिमी बंगाल, मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश, उड़ीसा, राजस्थान, महाराष्ट्र, गुजरात और कर्नाटक आदि राज्यों में इसके लिये कानून बनाये जा चुके हैं। भारतीय योजना आयोग के एक अनुमान के अनुसार लगभग 8 मिलियन काश्तकारों और बटाई पर खेती करने वालों के इस व्यवस्था के अधीन उनके द्वारा कृषित भूमि पर उन्हें स्वामित्व का अधिकार प्रदान किया जा चुका है।

3.5.3 जोतों की सीमाबन्दी

समतावादी समाज की स्थापना का विचार भारतीय आर्थिक नीति में आरम्भ से ही निहित रहा है। इस कारण आरम्भ से ही सामाजिक व आर्थिक असमानतायें घटाने के लिए प्रयास किया जाता रहा है और किसी भी प्रकार की असमानता का निषेध नीति निर्धारण का मूल प्रेरक तत्व रहा है। इसी परिकल्पना के अन्तर्गत जोत सीमाबन्दी की नीति बनाई गई। सामान्य रूप से जोत सीमाबन्दी निर्धारण के दो पक्ष हैं। **प्रथम** बड़े कृषकों के जोत के आकार में कमी करना और **द्वितीय** अतिरिक्त भूमि–वितरण द्वारा अत्यन्त छोटी जोतों वाले भू–स्वामियों और भूमिहीनों को भूमि प्रदान करना।

कृषि गणना के आँकड़ों (तालिका 3.5.3) से प्रतीत होता है कि देश की कुल जोतों का लगभग 57.8 प्रतिशत भाग सीमान्त जोतें हैं जिनका आकार 1.0 हेक्टर से छोटा है। परन्तु इन 57.8 प्रतिशत जोतों में कुल क्षेत्र का केवल 13.4 प्रतिशत भाग आता है। इसी प्रकार लघु आकारीय जोतें कुल जोत का लगभग 18.5 प्रतिशत भाग हैं। जिनके अन्तर्गत कुल क्षेत्र का 15.6 प्रतिशत भाग है। दूसरी ओर केवल 2.0 प्रतिशत जोतों का आकार 10.0 हेक्टर से अधिक है, जबकि इनके अन्तर्गत आने वाला कुल क्षेत्र 26.1 प्रतिशत है। तालिका 17.1 से स्पष्ट होता है कि 48.7 प्रतिशत कृषिगत क्षेत्र 4.0 हेक्टर और उससे बड़ी जोतों के अन्तर्गत है, जबकि इन जोतों की संख्या कुल जोतों की केवल 10.1 प्रतिशत ही है। इससे यह ज्ञात होता है कि भारत में भूमि का कुछ हाथों में ही संकेन्द्रण है। अधिकांश सम्पन्न कृषक भूमि के मालिक बने हैं। बहुसंख्यक जोतों का आकार अनार्थिक है। इन छोटी जोतों के अतिरिक्त एक बड़ी संख्या में भूमिहीन कृषि श्रमिक विद्यमान है। भूमि संसाधन का यह

नितान्त विषमता पूर्ण वितरण जोत सीमाबन्दी की अनिवार्यता का संकेत करता है।

तालिका 3.5.3 क्रियात्मक जोतों का आकार

आकार वर्ग	संख्या लाख में		क्षेत्र लाख हेक्टर में	
	1980–81	1985–86	1980–81	1985–86
1.0 हेक्टर में कम	501.5	561.8	197.3	220.4
1.0 से 2.0 हेक्टर तक	160.4	179.2	231.7	257.1
2.0 से 4.0 हेक्टर तक	124.5	132.5	346.4	366.7
4.0 से 10.0 हेक्टर तक	80.7	79.1	485.4	471.4
10.0 हेक्टर से अधिक	21.7	19.2	377.0	330.0
योग	888.6	971.5	1637.8	1654.6

Source : Agriculture Statistical Glance 2002.

आरम्भ से लेकर अब तक जोत सीमाबन्दी के क्षेत्र में हुई प्रगति का विश्लेषण चार आधारों–सीमाबन्दी लागू करने की इकाई, जोत की अधिकतम सीमा, छूट की अधिकतम सीमा और अतिरिक्त घोषित भूमि की उपलब्धि और उसका वितरण–पर किया गया है। प्रथम पंचवर्षीय योजना में सिद्धान्ततः, सीमाबन्दी नीति को मान लिया गया था और राज्य सरकारों को यह स्वतंत्रता दी गयी थी कि अपने ग्रामीण क्षेत्रों की समस्याओं को देखते हुए जोत सीमाबन्दी का निर्धारण करें। भूमि रखने की अधिकतम सीमा लागू करने के सिद्धान्त की घोषणा सर्वप्रथम 1953 में की गयी। भूमि–सम्बन्धी आँकड़ों को एकत्र करने का प्रयास किया गयां 22 राज्यों ने कृषिजोतों की गणना का कार्य किया और 1953–54 के भूमि–सम्बन्धी आँकड़े एकत्र किये। अंततः द्वितीय पंचवर्षीय योजना से सीमाबन्दी नीति को क्रियान्वित करने के प्रयास किये गये।

जोत सीमाबन्दी के संदर्भ में 1972 के नियम के पूर्व सभी राज्यों में व्यक्ति को सीमाबन्दी की इकाई माना गया था। इस आधार पर परिवार का प्रत्येक सदस्य अपने पास एक निश्चित स्तर तक भूमि रख सकता है। परिणामतः जोत सीमाबन्दी के बाद भी प्रत्येक परिवार के पास बड़ी–बड़ी जोतें बनी रहीं। इसी प्रकार 1972 के कानूनों के पूर्व जोत की अधिकतम सीमा का निर्धारण बहुत ऊचें स्तर पर किया गया था तथा उच्चतम और निम्नतम् सीमाओं के बीच अत्यधिक अंतर था। विभिन्न राज्यों ने अपनी परिस्थिति के अनुरूप सीमा निर्धारण किये था। इस कारण विभिन्न राज्यों द्वारा निर्धारित अधिकतम सीमा में भी अन्तर था। उदाहरणार्थ अधिकतम जोत सीमा का विस्तार प्रति व्यक्ति आन्ध्र प्रदेश में 27 से 324 एकड़ तक और राजस्थान में 22 से 326 एकड़ तथा। इस प्रकार आन्ध्र प्रदेश में 5 व्यक्तियों का एक परिवार 324 x 5 = 1620 एकड़ तक जमीन अपने पास रख सकता था। पूर्व के जोत सीमाबन्दी कानूनों में भूमि के लिए विभिन्न प्रकार की छूट की व्यवस्था थी, यथा उत्तर प्रदेश में 20 प्रकार की भूमियाँ, केरल में 17 और पंजाब में 13 प्रकार की भूमियाँ छूट से युक्त थी। छूट प्रदान की गई इन भूमियों में बागान क्षेत्र, सहकारी कृषि फार्म, धर्मार्थ संस्थाओं के अन्तर्गत आने वाली भूमियाँ आदि सम्मिलित थीं। इन छूटों के कारण लोग भूमि को परिवार के अन्य व्यक्तियों और छूट वाले विशिष्ट प्रयोगों में हस्तांतरित करने लगे। परिणामतः अत्यन्त कम भूमि अतिरिक्त घोषित की जा सकी थी। इन विसंगतियों और अल्प निष्पादन के कारण यह आवश्यक हो गया था कि जोत सीमाबन्दी पर पुनर्विचार किया जाए।

जोत सीमाबन्दी पर पुनर्विचार और जोत सीमाबन्दी की नवीन योजना बनाने के लिए एक **केन्द्रीय भूमि सुधार समिति** का **1971** में गठन किया गया। जोत सीमाबन्दी पर

पुनर्विचार पूर्व अधिनियमों की विसंगतियों के अतिरिक्त इस कारण भी आवश्यक था क्योंकि चतुर्थ पंचवर्षीय योजना तक हरित क्रान्ति का प्रभाव दृष्टिगोचर होने लगा था। उत्पादन, उत्पादिता और कीमतें बढ़ने के कारण कृषकों की, विशेषकर बड़े कृषकों की आय बढ़ने लगी थी। अतः उक्त समिति ने राज्य सरकारों के साथ विचार–विमर्श किया और जोत सीमाबन्दी के लिए पृथक् महत्वपूर्ण निर्णय लिए। इसके निर्णयों ने जोत सीमाबन्दी के पुराने कानूनों की विसंगतियों को दूर करने का प्रयास किया। साथ–साथ भूमि की बढ़ती हुई माँग को देखते हुए अपेक्षाकृत नीची जोत सीमा निर्धारित की। इस सन्दर्भ में 23 जुलाई, 1972 को मुख्य मंत्रियों का एक सम्मेलन बुलाया गया। सम्मेलन में हुए विचार–विमर्श के आधार पर जोत सीमाबन्दी के लिए नवीन अधिनियम बनाया गया। 1972 के बाद जोत सीमाबन्दी से सम्बद्ध विभिन्न आयामों का विवरण और तत्सम्बद्ध निष्पादन निम्नवत् रहा है।

वर्तमान सीमाबन्दी नीति के अन्तर्गत अधिकतम जोत सीमाबन्दी के लिए परिवार को आधार बनाया गया है और परिवार की संकल्पना में पति–पत्नी तथा तीन बच्चों को सम्मिलित किया गया है। नवीन नीति के अन्तर्गत अधिकतम सीमा का स्तर और विस्तार घटा दिया गया है। भूमि की उर्वरा शक्ति, स्थिति और सुविधा देखते हुए सिंचित भूमियों के लिए जोत की सीमा 10 से 18 एकड़ निश्चित की गई है। जिन भूमियों पर सिंचाई की सुविधा केवल एक फसल के लिए सीमित थी, उस पर अधिकतम सीमा 56 एकड़ निर्धारित की गई थी। अन्य सभी प्रकार की भूमियों के लिए जोत की अधिकतम सीमा 56 एकड़ निर्धारित की गई थी। नवीन जोत सीमाबन्दी नीति नागालैंड, मेघालय, अरूणाचल प्रदेश और मिजोरम, अंडमान नीकोबार द्वीप समूह ओर गोवा दमन व द्वीव को छोड़कर अन्य सभी राज्यों में लागू कर दी गई है। आठवीं पंचवर्षीय योजना के अन्त तक 74.9 लाख एकड़ भूमि जोत सीमाबन्दी नियमों के अन्तग्रत अतिरिक्त घोषित की गयी है। इसमें से 52.13 लाख एकड़ भूमि 5.5 मिलियन लाभार्थियों में बांटी जा चुकी है। नवीं पंचवर्षीय येाजना में अतिरिक्त भूमि घोषित करने और उसे ग्रामीण भूमिहीन कास्तकारों में बांटने में कोई प्रगति नहीं हुयी। नवीं पंचवर्षीय योजना में भूमि सुधार के अन्य कार्यक्रमों यथा कास्तकारी सुरक्षा और चकबन्दी के क्षेत्र में प्रगति अत्यन्त सीमित रही। इसमें से अधिकांश लाभान्वित लोग अनुसूचित जनजाति परिवारों से थे। यह भूमि कुल 33.76 लाख व्यक्तियों को वितरित की गयी है इसमें से 54.7 प्रतिशत अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित जनजातियों के हैं।

3.5.3.1 जोत सीमा बन्दी का मूल्यांकन :

किसी भी स्तर से देखा जाए तो ऊपर वर्णित सफलता बहुत कम है। बचत घोषित क्षेत्र देश की कुल कुषि योग्य भूमि का लगभग 1.8 प्रतिशत है। परन्तु वास्तव में 1.1 प्रतिशत भूमि ही वितरित की गई। 1981 के आँकड़ों के अनुसार खेतिहर श्रमिकों के केवल 6 प्रतिशत को ही लाभ पहुँचा। इस प्रकार समस्या के केवल किनारे को ही स्पर्श किया जा सका। लाभ प्राप्त करने वालों तथा वितरित क्षेत्र के बारे में आँकड़ों से पता चलता है कि इस योजना के अन्तर्गत लाभ पाने वाले प्रत्येक व्यक्ति को 0.52 हेक्टेयर जमीन उपलब्ध हुई जिसका क्षेत्रफल थोड़ा है और इससे इतना अधिक उत्पादन नहीं हो सकता कि उस परिवार को गरीबी की रेखा से ऊपर उठाया जा सके।

बचत घोषित भूमि तथा भूमिहीनों को वितरित की गई जमीन प्रायः अचछी किस्म की नहीं होती। इसके अलावा जिन लोगों को यह जमीन आवंटित की जाती है वे इतने गरीब होते हैं कि पूरक निवेशों के लिए वे धन नहीं लगा सकते और ऋण प्राप्त करने में उन्हें बहुत कठिनाई का सामना करना पड़ता है। सीलिंग से प्राप्त भूमि जिन लोगों को आवंटित

की गई, उन लोगों को भूमि में सुधार के लिए वित्तीय सहायता उपलब्ध कराने के लिए एक केन्द्रीय योजना 1975–76 से शुरू की गई। परन्तु इस योजना के अन्तर्गत इतनी मामूली धनराशि दी गई जिसका कोई विशेष प्रभाव नहीं हुआ। केन्द्रीय कृषि तथा सिंचाई मंत्रालय द्वारा भूमि सुधारों के बारे में गठित एक कार्यदल ने कई वर्ष पहले बताया कि भूमि सुधार की लागत 700 रूपपे प्रति हेक्टेयर से कम नहीं होगी जबकि केन्द्र योजना के अन्तर्गत केवल 200 रूपये प्रति एकड़ की सहायता उपलब्ध है। यह धनराशि बाद में बढ़ाकर 400 रूपये प्रति एकड़ तथा उसके बाद 1000 रूपये कर दी गयी। अभी भी अतिरिक्त घोषित 74.9 लाख एकड़ भूमि में से 52.13 लाख एकड़ भूमि लाभार्थियों में वितरित की जा सकी है। शेष 22–77 लाख एकड़ भूमि लाभार्थियों में वितरित किया जाना है। इसमें से कुछ भूमि मुकदमे में उलझी है। अतिरिक्त घोषित भूमि में से कुछ भूमि खेती लायक नहीं है उसे खेती योग्य बनाने में भारी लागत आयेगी। कुछ भूमियां वृक्षारोपण और सामाजिक वानिकी जैसे प्रयोजनों के लिए आरक्षित है। इस प्रकार बहुत कम भूमि वितरण के लिये उपलब्ध होगी।

3.5.3.2 चकबन्दी

उपविभाजन और अपखण्डन की समस्या के समाधान हेतु सामान्यतः जोत के आकार में वृद्धि, सहकारी खेती और चकबन्दी के उपाय आवश्यक समझे जाते है। इनमें वर्तमान परिस्थितियों के अनुसार चकबन्दी अत्यन्त सक्षम उपाय माना जाता है। यहाँ चकबन्दी की प्रक्रिया और इस दिशा में हुई प्रगति का संक्षिप्त विवरण दिया गया है।

चकबन्दी की प्रक्रिया में गाँव में प्रत्येक कृषक के विभिन्न स्थानों पर बिखरे खेतों को एक ही स्थान पर लाया जाता है। प्रत्येक खेत का पृथक–पृथक मूल्यांकन किया जाता है। इस विधि से कृषक की सम्पूर्ण जोत का मूल्यांकन कर लिया जाता है। इस आधार पर प्रत्येक कृषक को उसके जोत की भूमि के मूल्य के बराबर की भूमि एक ही स्थान पर प्रदान की जाती है। इस प्रकार भूमि के अपखण्डन की समस्या के समाधान हेतु सबसे सरल और साधारण उपाय चकबन्दी को माना जाता है। चकबन्दी का लक्ष्य एक ही परिवार के बिखरे हुए खेतों को एक चक में बदल करके आर्थिक जोत व लाभप्रद कृषि का आधार सृजन करना है। चकबन्दी किये हुए खेत पर वैज्ञानिक ढंग से कृषि की जा सकती है। एक खेत से दूसर खेत पर आने–जाने वाला श्रम और समय बच जाता है। खेतों के बीच डोर बनाने में भूमि व्यय नहीं होती है। रखवाली करना सुगम हो जाता है और सिंचाई ठीक से की जाती है। अतः खेती का व्यय कम हो जाताा है और आय बढ़ जाती है।

जोतों की चकबन्दी दो प्रकार से की जा सकती है। स्वेच्छापूर्ण प्रयत्नों द्वारा चकबन्दी में व्यक्तिगत किसान पारस्परिक समझौते द्वारा अपने बिखरे और अपखण्डित खेत के विनियम में अन्य खेत लेकर अपनी सम्पूर्ण जोतों को एकत्रित करता है। अनुभव ने बताया है कि स्वेच्छापूर्ण प्रयत्नों द्वारा चकबन्दी बहुत खर्चीली और कठिन होती है। पंजाब में 1920 में सहकारिता के आधार पर चकबन्दी का कार्य प्रारम्भ किया गया था। जो किसान अपने खेतों की चकबन्दी करने के लिये इच्छुक होते थे, वे एक सहकारी समिति का निर्माण करते थे और अपने सम्पूर्ण खेत को एकत्रित करते थे। एकत्रित करने के बाद वे भूमि के पुनर्वितरण की योजना बनाते थे। परन्तु ऐच्छिक प्रयासों का समुचित प्रभाव न होने के कारण 1930 के बाद में अनिवार्यता लागू की गई और अधिनियम बनाये गये। अधिनियमों के अन्तर्गत चकबन्दी की योजना को समस्त स्थानीय भूमि अधिकार रखने वाले किसानों पर अनिवार्य रूप से लागू किया गया। यदि इस प्रकार के आधे काश्तकार, जो

कि भूमि के कम से कम 2/3 हिस्से पर दखल रखते हैं, इस योजना से सहमत हो गये हैं। बाद में इन अधिनियमों में संशोधन हुआ और नए अधिनियम बनाये गये। बम्बई चकबन्दी अधिनियम 1947 के द्वारा सबसे पहले सरकार को यह अधिकार प्राप्त हुआ कि काश्तकारों की बिना अनुमति लिये चकबन्दी की जा सके। अन्य राज्य जहाँ इस प्रकार के कानून लागू कर दिये गये हैं–पंजाब, उत्तर प्रदेश, आन्ध्र प्रदेश का हैदराबाद वाला भाग और जम्मू और कश्मीर हैं।

चकबन्दी की प्रगति – भारत में स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद से ही चकबन्दी का कार्य चल रहा है। यह एक सतत् प्रक्रिया के रूप में चलना भी चाहिए। परन्तु कुल मिलाकर चकबन्दी कार्य की प्रगति मंद रही है। देश में 1979–80 तक कुल 46.2 मिलियन हेक्टर क्षेत्र में चकबन्दी की जा चुकी थी। छठी योजना के अंत तक 56 मिलियन हेक्टर क्षेत्र पर चकबन्दी हो चुकी थी। जो कृषि योग्य क्षेत्र का लगभग 39 प्रतिशत है। 31 मार्च, 2002 तक देश के कुल कृषि योग्य क्षेत्र 142 मिलियन हेक्टर से 66.10 मिलियन हेक्टर पर चकबन्दी कार्य पूरा हो चुका था। जो देश के कुल कृषि योग्य क्षेत्र 142 मिलियन हेक्टर का 46.5 प्रतिशत है। चकबन्दी का कार्य सतत् प्रक्रिया के रूप में चलना चाहिए परन्तु कई राज्यों ने चकबन्दी की प्रक्रिया बंद कर दी है। पंजाब और हरियाणा में चकबन्दी कार्य पूरा हो चुका है। उत्तर प्रदेश, बिहार, गजरात, हिमाचल प्रदेश, जम्मू कश्मीर और कर्नाटक में चकबन्दी लगभग पूर्ण होने की स्थिति में है। मध्य प्रदेश और उडीसा में अच्छी प्रगति है। देश के उत्तर–पूर्व के राज्यों में चकबन्दी पर जोर दिया जा रहा है।

3.6 भूमि सुधारों की अपर्याप्तता

राष्ट्रीय आकांक्षाओं के अनुरूप भारत में स्वतंत्रता–प्राप्ति के बाद आरम्भ किये गये भूमि सुधार कार्यक्रमों का प्रभाव अर्थव्यवस्था पर निश्चित रूप से सकारात्मक रहा है। भूमि प्रणाली अब पर्याप्त रूप से सरल हो गयी हे और भूमि सम्बन्धों में एकत्व व समानता स्थापित हो गयी है। विभिन्न भू–धारण प्रणालियों के स्थान पर अब दो–तीन प्रकार का भू–स्वामित्व ढंग विद्यमान है। कृषक का सरकार से सीधा सम्बन्ध स्थापित हो गया है। स्वतंत्रता के समय देश में जोत की संरचना में अत्यधिक असमानता विद्यमान थी। उस समय ग्रामीण जनसंख्या के लगभग 4 प्रतिशत बड़ें भू–स्वामी 50 प्रतिशत भूमि के स्वामी थे। इसके विपरीत तीन–चौथाई ग्रामीण जनसंख्या केवल 16 प्रतिशत भूमि की मालिक थी। बाद की स्थिति में इसमें उल्लेखनीय परिवर्तन हुआ है। 1971 की कृषि गणना के अनुसार देश के लगभग 4 प्रतिशत बड़े कृषकों के पास कुल कृषित भूमि का 30.1 प्रतिशत भाग था। लगभग 70 प्रतिशत जोतें छोटे आकार की है जिनके पास कुल भूमि का लगभग 21 प्रतिशत भाग था। पट्टेदारी की सुरक्षा व मध्यस्थों के उन्मूलन से भारतीय कृषक के सामाजिक व आर्थिक स्तर में सुधार हुआ है। इन संस्थागत परिवर्तनों से वैज्ञानिक कृषि को प्रोत्साहन मिला है। कृषि उत्पादन व उत्पादिता बढ़ी है।

जोत सीमाबन्दी के पुराने नियम स्वयं में इतने उदार थे कि उनसे किसी आधिक्य की वास्तविक संभावना नहीं थी। जोत सीमा निर्धारण की नवीन नीति अवश्य ही समस्या तक पहुँचने का प्रयास करती है, परन्तु इसका क्रियान्वयन अत्यन्त मंद है। बड़े भू–स्वामी आज ग्रामीण अर्थव्यवस्था पर प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से अपना दबाव बनाये रखने में सफल हैं। उन्हें कोई प्रसन्न कर सकने की स्थिति में नहीं है। साथ–साथ यह भी तर्क दिया जाता है कि यदि नगरीय क्षेत्र में एक ओर झुग्गी–झोपड़ियों की संख्या बढ़ रही है, फुटपाथ ओर अनाथालयों में रहने वालों की संख्या बढ़ रही है, तो दूसरी ओर विलासी उपभोग

करने वालों की संख्या भी बढ़ रही है। महलों और झोपड़ियों का अन्तर बढ़ता जा रहाा है तो वहाँ भी सम्पत्ति और आयगत अधिकतम सीमा लगायी जानी चाहिये। जो भी हो ग्रामीण क्षेत्र में भूमि संरचना का स्वभाव लगभग पूर्ववत् बना है। सतत उपादेय और ह्रासरहित भूमि संसाधन की माँग 'भूमि क्षुधा' बड़े कृषकों में बढ़ती जा रही है। यह देखा जा रहा है कि नगर–स्थित पूँजीपति ग्रामीण क्षेत्र में बड़े–बड़े कृषि फार्म क्रय कर रहे हैं जिसका प्रयोग वे सामाजिक प्रतिष्ठा, आमोद–प्रमोद और आधिक्य अर्जन के लिये करते हैं। इनके कारण सीमान्त कृषकों और भूमिहीन श्रमिकों की संख्या बढ़ रही है।

3.7 भू–सुधार नीति की आलोचना

भू–सुधार प्रोग्राम को एक भरसक उत्साह के साथ आरम्भ किया गया परन्तु यह उत्साह शीघ्र ही शिथिल पड़ गया और भू–सुधार के लिए आरम्भिक जोश ठंडा हो गया। मोटे तौर पर भू–सुधार विधान का परिकल्पन तो ठीक था परन्तु इन कानूनों में बहुत दोष होने के कारण भू–सुधार संविधान द्वारा ग्रामीण जनता को बहुत थोड़ा सा न्याय उपलब्ध हुआ। **प्रोफेसर दन्तवाला** ने ठीक ही कहा, *''मोटे तौर पर भारत में अब तक बनाए गए भू–सुधार सम्बन्धी कानून और निकट भविष्य में कल्पित कानून उचित दिशा में कदम है, किन्तु कार्यान्वयन के अभाव के कारण इनके परिणाम सन्तोषजनक होने से कहीं दूर है।''*

भारतीय भू–सुधार नीति का एक और दोष यह है कि इसके आधीन प्रगति धीमी रही है। इस प्रकार जमींदारों, जागीरदारों तथा अन्य निहित हितों को व्यवहार में इस कानून को खण्डित करने के लिए पर्याप्त समय प्राप्त हो गया।

कार्यक्रम में मूल्यांकन संगठन द्वारा भू–सुधार के दो दोषपूर्ण प्रभावों का पता चलता है एक ओर तो पुराने भू–सुधारों को ध्यान में रखकर सभी राज्यों में राष्ट्रीय मार्गदर्शी सिद्धान्तों को दृष्टि में रखते हुए या तो नए अधिकतम जोत की सीमा के अधिनियम बनाए गए हैं या पुराने कानून संशोधित किए गए हैं। अधिकतर संशोधित अधिनियम अब संविधान के नौंवे परिशिष्ट में शामिल कर दिए गए हैं। इस प्रकार अधिनियमों को न्यायालयों में चुनौती नहीं दी जा सकती। किन्तु असम, जम्मू तथा कश्मीर, तमिलनाडु, महाराष्ट्र और दिल्ली द्वारा पारित कानून राष्ट्रीय मार्गदर्शी सिद्धान्तों के अनुकूल नहीं थे, या वे बहुत देर से पारित किए गए।

कृषि पर राष्ट्रीय आयोग ने सरकारी मशीनरी को याचिकाओं के परिणामों का प्रसार करने में ढील के लिए दोषी ठहराया है। आयोग ने उल्लेख किया है: ''जब सरकार किसी मुकदमे में विजयी होती है, तो याचिकाओं के परिणाम जिले या तहसील तक पहुँचने में महीने या कई बार साल भी लग जाते हैं। इसके विरूद्ध जहाँ कहीं भी व्यक्ति विजयी होते हैं, वे बिना किसी बिलम्ब के प्रयास आरम्भ करते हैं और रिकार्डो में उचित संशोधन करवा कर ही दम लेते हैं।''

निस्सन्देह प्रशासनिक मशीनरी को मजबूत करने की बहुत आवश्यकता है। भू–सुधारों को सही ढंग से लागू करने के लिए और भूमि अधिकतम सीमा कानून की सफलता के लिए भू–स्वामित्व सम्बन्धी रिकार्डो को तैयार करना अत्यन्त आवश्यक है। भू–सुधारों की सफलता के लिए प्रशासनिक मशीनरी में काश्तकारों, फसल सहभाजकों और भूमिहीन मजदूरों के प्रतिनिधि लेने होंगे ताकि बुनियादी स्तर पर जहाँ प्राथमिक स्तर पर अपीलें की जाती हैं, प्रभावी कार्य किया जा सके।

डॉ. पी. के. अग्रवाल जिन्होंने चुने हुए राज्यों में भू–सुधारों का अध्ययन किया है उन्होंने इस सम्बन्ध में कुछ अत्यन्त उपयोगी सुझाव दिए हैं :–

1. बड़े भू–स्वामियों से प्राप्त अतिरिक्त भूमि का वितरण अविलम्भ किया जाना चाहिए। इसके साथ–साथ भू–सुधार से लाभ प्राप्तकर्ताओं की सहायता के लिए इस बात की सख्त आवश्यकता है कि जवाहर रोजगार योजना/प्रधानमंत्री रोजगार योजना में निवेश को आदानों की समय पर पूर्ति से जोड़ा जाए।
2. भू–रिकार्डों की तैयारी रख–रखाव ओर कम्प्यूटरीकरण को प्राथमिकता दी जानी चाहिए। सभी काश्तकार जिनमें फसल–सहभाजक भी शामिल हो, की पहचान की जानी चाहिए और उनके अधिकार रिकार्ड किए जाने चाहिए और एक अभियान के रूप में पश्चिम बंगाल द्वारा कार्यान्वित 'आप्रेशन बरगा' की भांति उनको स्थायी एवं पैतृक अधिकार सौंपे जाने चाहिए। रिकार्ड की एक प्रमाणित प्रतिलिपि उन्हें 'किसान पासबुक' या किसी अन्य रूप में जारी करनी चाहिए।
3. जनजातीय वर्गो की ओर विशेष ध्यान देना चाहिए। इन पर लागू कानूनों में छिद्रों को समाप्त करना होगा और इनके लिए प्रशासनिक मशीनरी मजबूत बनानी होगी। जनजातीय क्षेत्रों में भूमि की सीमा, मूल्य और स्वामित्व सम्बन्धी भू–स्वामित्व सर्वेक्षण जहां कहीं भी न किए गए हों, पूरे करने होंगे।
4. खुद–काश्त की परिभाषा में निम्नलिखित बातों पर बल देना चाहिए :
   (क) जो व्यक्ति खुद काश्त का दावा करता है, उसे काश्त करने की पूरी लागत का वहन करना होगा,
   (ख) वह अपनी भूमि की काश्त या तो स्वयं करे या उसके परिवार के सदस्यों द्वारा इसके लिए श्रम जुटाया जाए और
   (ग) वे और उसके परिवार के सदस्य वर्ष के अधिकतर भाग के दौरान उसी इलाके में रहें जहां उनकी भूमि स्थित है और
   (घ) काश्त ही उसकी आय का मुख्य स्रोत होना चाहिए।
5. कृषि भूमि का कोई भी स्वामित्व स्वांतरण किसी गैर–कृषक को नहीं किया जाना चाहिए।
6. विकलांगों और सेना के कर्मचारियें को छोड़, भू–स्वामियों द्वारा भूमि को पुनःकाश्त करने के लिए स्व–खेती के नाम पर हासिल करने की अनुमति नहीं दी जानी चाहिए।
7. यदि भू–स्वामी और किसी अन्य व्यक्ति अर्थात् काश्तकार या फसल–सहभाजक के बीच विवाद हो जाए, तो इसे प्रमाणित करने का भार भू–स्वामी पर डालना चाहिए। काश्तकार या फसल–सहभाजक को भू–स्वामी का उत्पादन में भाग निकटतम प्राधिकार के पास जमा कराने की इजाजत होनी चाहिए।
8. स्वीकृत किसान संगठनों या कृषि मजदूरों के संगठनों या जानी–मानी स्वैच्छिक संस्थाओं को अनौपचारिक काश्तकारों अथवा फसल–सहभाजकों की पहचान की इजाजत होनी चाहिए और उन्हें प्रासंगिक व्यक्ति की ओर से उचित प्राधिकार के सामने काश्तकारी अधिकार या स्वामित्वाधिकार के दावे करने की अनुमति होनी चाहिए।
9. राजनीतिक इच्छाशक्ति को मजबूत बनाना चाहिए। इसके लिए भूमिहीनों, छोटे और सीमान्त किसानों के प्रतिनिधियों को स्थानीय पंचायत निकायों और मंत्रालयों में प्रतिनिधित्व मिलना चाहिए ताकि वे निर्णय करने के प्रत्येक स्तर के साथ जुडे रहें।
10. गरीब किसानों को सर्वोच्च न्यायालय के स्तर तक कानूनी सहायता प्रदान की जानी चाहिए। ग्रामीण न्यायालयों अर्थात् न्याय पंचायतों या ग्राम न्यायालयों को भू–सुधार

के मामलों में तेजी से फैसले करने चाहिए और इसके साथ–साथ लोक अदालतों को भी इन मामलों को निपटाने का अधिकार दिया जाना चाहिए।

3.8 भू–सुधार और नयी आर्थिक नीति

श्री पी.एस.अप्पू ने 1977 में पश्चिम बंगाल में वाम पंथी मोर्चा सरकार द्वारा अपनाए गए भू–सुधार के लिए ओप्रेशन **बरगा** की सिफारिश करते हुए यह उल्लेख किया: *''अब कृषि विकास को बढ़ावा देने और रोजगार के अवसरों का विस्तार करने के लिए भू–सुधार के कार्यभार पर अधिक बल दिया जाना चाहिए। ग्रामीण गरीबों की आय में उन्नति को अधिक प्राथमिकता केवल निस्वार्थ भाव के कारण ही नहीं देनी चाहिए। आय में वृद्धि का अर्थ है, क्रय शक्ति में वृद्धि। इसके परिणामस्वरूप जनोपभोग वस्तुओं की मांग में वृद्धि से औद्योगिक विकास को बढ़ावा मिलेगा। इसके नतीजे के तौर पर नयी आर्थिक नीति की सफलता का मार्ग साफ हो जाएगा जोकि बाजार को आर्थिक विकास का इंजन समझती है। हमें भारतीय अर्थव्यवस्था के पूंजीवादी पथ पर विकास के लिए जिसको हमने अपनाया है, सुविधाजनक बनाने के लिए भू–सुधार के न्यूनतम उपाय करने आवश्यक है।''*

3.9 नवीन कृषि रणनीति

चतुर्थ पंचवर्षीय योजना का लक्ष्य मुख्य रूप से खाद्यान्न उत्पादन बढ़ाना था। कृषि आयेाग की सिफारिशों के बाद कृषि नीति में व्यापक परिवर्तन किया गया। इस समय तक विकास युक्ति का लक्ष्य **'विकास के लिये विकास'** न होकर 'सामाजिक न्याय के साथ विकास' हो गया था। इस युक्ति के अनुसार वितरणात्मक न्याय पर ध्यान केन्द्रित किया गया। इसी मनोभावना के अनुरूप राष्ट्रीय कृषि आयोग (NCA) ने अपनी रिपोर्ट में यह उल्लेख किया कि विभिन्न कृषि वस्तुओं की माँग और पूर्ति में संतुलन तथा वितरणात्मक न्याय कृषि नीति के मुख्य लक्ष्य होना चाहिये। आयेाग ने अनुमोदित किया कि विनियोग नीति इस प्रकार होना चाहिये ताकि रोजगार अवसरों के सृजन और उत्पादन बढ़ाने में अधिक दक्षता प्राप्त की जा सके। आयेाग ने यह सुझाव दिया कि भारतीय अर्थव्यवस्था में श्रम बहुत सस्ता है, इसलिये प्राविधि का चुनाव सर्तकतापूर्वक किया जाना चाहिए ताकि रोजगार अवसरों में वृद्धि हो। रोजगार वृद्धि को कृषि विकास नीति का आधारित तत्व माना गया। आयोग की रिपोर्ट में इस बात पर भी जोर दिया गया कि कृषि नीति का लक्ष्य न केवल अंतर्वर्गीय विषमतायें घटाना और कमजोर वर्ग के लोगों की आय बढ़ाना है बल्कि इसका उद्देश्य अंतक्षेत्रीय विषमतायें भी कम करना है ताकि समस्याग्रस्त क्षेत्रों तथा पहाड़ी, पठारी, मरूस्थलीय और सूखाग्रस्त क्षेत्रों की कृषि भी विकसित की जा सके। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि आयोग ने उत्पादन वृद्धि को आधारिक महत्व देते हुये वितरणात्मक न्याय की आवश्यकता पर बल दिया।

भारत की कृषि नीति में राष्ट्रीय विकास युक्ति और कृषि आयोग की संस्तुतियों के अनुरूप परिवर्तन आया। जोत सीमाबन्दी के लिये राज्यों को नवीन दिशा निर्देश दिये गये। जोत सीमाबन्दी की सीमा नीची की गयी। सीमाबन्दी की इकाई व्यक्ति न मानकर परिवार माना गया तथा रियायतों में कमी की गयी। भूमि सुधार कार्यक्रमों को अधिक सुदृढ़ किया गया। चकबन्दी कार्य में तेजी लाई गई ताकि कृषक की जोत एक स्थान पर एकत्र हो जाए। कृषिगत अंतर्वर्गीय और अंतर्क्षेत्रीय विषमतायें घटाने की नीति के परिप्रेक्ष्य में लघु एवं सीमान्त कृषकों के विकासार्थ विशेष कार्यक्रम चलाये गये। खेतिहर समुदाय के कमजोर वर्गो को प्रत्यक्ष सहायता देने की विशेष योजनायें चलायी गयी। इसी प्रकार सूखाग्रस्त क्षेत्र

विकास कार्यक्रम, बंजर भूमि विकास कार्यक्रम, रेगिस्तानी क्षेत्र की कृषि के विकास कार्यक्रम चलाये गये ताकि इन समस्याग्रस्त क्षेत्रों की कृषि को भी सक्षम बनाया जा सके। छठी पंचवर्षीय योजना में घरेलू खपत और निर्यात माँग की तात्कालिक और दीर्घकालिक जरूरतों को ध्यान में रखकर कृषि विकास युक्ति बनायी गयी। यह पाया गया कि कृषि उपज की सामर्थ्य तो अधिक सृजित कर ली गयी है परन्तु वास्तविक उत्पादन अत्यन्त कम रहता है। इसलिये छठी योजना की कृषि विकास युक्ति का मुख्य लक्ष्य रखा गया कि कृषि उपज के वास्तविक और संभावित अंतराल को कम किया जाये। इस बात पर भी जोर दिया गया कि नवीन प्रौद्योगिकी को अधिक लोगों तक पहुंचाया जाये। सातंवी योजना में कृषि जलवायु क्षेत्रीय नियोजन के आधार पर कृषि को विकसित करने का प्रयास किया जा रहाा है। देश को कुल 15 कृषि जलवायु क्षेत्रों में विभक्त किया गया है और प्रत्येक क्षेत्र के लिये संसाधनों और भूमि बनावट के अनुरूप उपयुक्त कृषि विकसित करने का प्रयास किया जा रहा है। सातवीं योजना कृषि विकास को देश की गरीबी और बेरोजगारी उन्मूलन का प्रधान घटक मानकर कृषि विकास की दर 4 प्रतिशत प्रतिवर्ष रखा गया।

3.10 नयी कृषि विकास रणनीति

नयी कृषि विकास–रणनीति की मुख्य उपलब्धि अनाजों अर्थात् गेहूँ और चावल के उत्पादन को बढ़ावा देना है। तालिका में पिछले कुछ वर्षो के दौरान मुख्य खाद्य फसलों का उत्पादन दिया गया है। तालिका 3.10.1 पर ध्यानपूर्वक विचार करने से पता चलता है कि चावल का उत्पादन जो 1970–71 में 350 लाख टन था बढ़कर 2008–09 में 990 लाख टन हो गया। जाहिर है भारत की इस मुख्य फसल में उत्पादन तेजी से बढ़ा है। प्रति हेक्टेयर उत्पादन में भी वृद्धि हुई है और यह 1960–61 में 1,123 किलोग्राम से बढ़कर 2008–09 में 2,190 किलोग्राम हो गया।

गेहूँ का उत्पादन जो 1970–71 में 238 लाख टन था यह बढ़कर 2008–09 में कम होकर 810 लाख टन हो गया। इस वृद्धि का कुछ भाग तो क्षेत्रफल में विस्तार के कारण था, परन्तु इसी अवधि के दौरान प्रति हेक्टेयर उत्पादन 1970–71 1,307 किलोग्राम से 2008–09 में बढ़कर 2,890 किलोग्राम हो गया अर्थात् 36 वर्षो के दौरान इसमें 121 प्रतिशत की वृद्धि हुई। जबकि मक्का ने भी प्रभावशाली प्रगति दिखायी है, अन्य मोटे अनाजों और दालों में कोई विशेष वृद्धि नहीं हुई

तालिका 3.10.1 खाद्यान्नों के उत्पादन की प्रगति

	1970–1971	1990–1991	2008–2009
चावल	350	750	990
गेहूँ	110	550	810
मोटे अनाज	230	320	400
(अ) कुल अनाज	690	1620	2200
(ब) कुल दालें	130	140	150
(स) कुल खाद्यान्न	820	176	2350

हरित क्रान्ति की आरम्भिक सफलता के पश्चात् यह आशा की जाती थी कि खाद्यान्न के उत्पादन में वृद्धि की प्रवृत्ति बनी रहेगी। इसी कारण 1970–71 में खाद्यान्न उत्पादन बढ़कर 1,084 लाख टन हो गया। यह बात बड़े गर्व से घोषित की गयी कि हरित क्रान्ति के परिणामस्वरूप खाद्य–आयात बन्द कर दिए गए हैं और काफी अच्छी मात्रा में बफर–स्टॉक एकत्र कर लिए गए हैं। परन्तु 1972–73 में सूखा पड़ने के कारण यह स्थिति

कायम न रह सकी। पाँचवीं योजना के दौरान भी खाद्यान्न के उत्पादन में तेज उच्चावचन हुए हैं। 1974–75 के 1,000 लाख टन के निम्न स्तर से उत्पादन बढ़ कर 1975–76 में 1,210 लाख टन हो गया फिर 1976–77 में यह गिर कर 1,110 लाख टन हो गया। 1985–86 में 1,520 लाख टन का रिकार्ड खाद्यान्न उत्पादन हुआ किन्तु खराब मौसम के कारण यह गिरकर 1987–88 में 1,380 लाख टन रह गया। 1990–91 में खाद्यान्न का उत्पादन एकदम तेजी से बढ़कर 1,760 लाख टन हो गया, परन्तु 1991–92 के दौरान गिरकर 1,670 लाख टन रह गया। 2008–09 में खाद्यान्न उत्पादन पुनः बढ़कर 2350 लाख टन हो गया।

तालिका 3.10.2 के अनुसार, दूसरे अनाजों में चावल का अनाजों के कुल उत्पादन में भाग 1950–51 और 2007–08 के दौरान 48 प्रतिशत से कम होकर 45 प्रतिशत हो गया है। इसी अवधि के दौरान, गेहूँ के महत्व में वृद्धि हुई है और इसका अनुपात दुगुने से भी अधिक हो गया है अर्थात् 15 प्रतिशत से बढ़कर 37 प्रतिशत हो गया। गेहूं में आनुपातिक वृद्धि से संकेत प्राप्त होता है कि मोटे अनाजों का प्रतिस्थापन गेहूं द्वारा हो रहा है। यह प्रवृत्ति तो हरित क्रान्ति के आरम्भ होने से पहले ही शुरू हो गयी थी परन्तु यह अब और बलवती हो गयी है।

तालिका 3.10.2 अनाजों के उत्पादन का प्रतिशत वितरण

	चावल	गेहूं	मोटे अनाज	कुल
1950–51	48	15	37	100
1960–61	50	16	34	100
1990–91	46	34	20	100
2006–07	46	37	17	100
2007–08	45	36	19	100

नयी कृषि विकास रणनीति के आरम्भ के पश्चात् कृषि उत्पादन में उच्चावचन सम्बन्धी दो निष्कर्ष प्राप्त है :–

(क) अनाज का उत्पादन पहले की भाँति मौसम पर बहुत हद तक निर्भर हैं, और

(ख) अब गत वर्षो की अपेक्षा अधिकतम एवं न्यूनतम उत्पादन कहीं अधिक है।

चूँकि हरित क्रान्ति का मुख्य बल खाद्यान्नों के उत्पादन को बढ़ाना था, इसलिए आरम्भ में वाणिज्य फसलों के उत्पादन में वृद्धि की आशा करना उचित नहीं होगा। तालिका से स्पष्ट है कि 1969–70 और 1974–75 के दौरान गन्ने, रूई पटसन और तिलहनों के उत्पादन में कोई उल्लेखनीय उन्नति व्यक्त नहीं हुई। डा. धर्म नारायण ने इस परिस्थिति को रोप–फसलों के उत्पादन में लगभग पक्षाघात की संज्ञा दी है। 1974–75 के पश्चात् गन्ने के उत्पादन में महत्वपूर्ण वृद्धि हुई। परन्तु इस वृद्धि को क्रान्ति कहना उचित नहीं होगा। परन्तु 1980–81 के पश्चात् वाणिज्य फसलों के उत्पादन में भी महत्वपूर्ण वृद्धि हुई।

तालिका 3.10.3 भारत में वाणिज्य फसलों का उत्पादन

वस्तु	इकाई	1960–61	1990–91	2003–04	2009–09
तिलहन (लाख टन)	70	190	210	240	280
गन्ना (लाख टन)	1100	2540	2990	3560	2850
रूई (लाख गट्ठे)	60	100	120	230	230
पटसन (लाख गट्ठे)	40	80	110	110	104
आलू (लाख टन)	30	150	250	300	290

कुल रूप में, हरित क्रान्ति ने दालों के उत्पादन पर कोई प्रभाव नहीं डाला जबकि 1970–71 में खाद्यान्नों में इनका उत्पादन 118 लाख टन था, यह 1990–91 में बढ़कर 140 लाख टन हो गया परन्तु 2008–09 में भी यह मात्र 150 लाख टन था। अतः दालों का उत्पादन पिछले 16 वर्षो में अवरूद्ध हो रहा था। इसमें नाम मात्र वृद्धि हुई। अतः हरित क्रान्ति केवल अनाजों जिनमें मुख्यतः गेहूँ, मक्का और बाजरा गिने जा सकते हैं, तक ही सीमित रही। जबकि चावल का उत्पादन 1968–69 से 1978–79 के दौरान बड़ी मन्द गति से बढ़ा परन्तु इसके बाद चावल के उत्पादन में भी महत्वपूर्ण वृद्धि हुई।

तीसरे, नयी कृषि–तकनीकी को सफलतापूर्वक अपनाने के कारण फसलों के आधीन क्षेत्रफल में लगातार वृद्धि हुई है, कुल उत्पादन बढ़ा है और उत्पादिता उन्नत हुई है। गेहूं, चावल, मक्का, आलू आदि में प्रभावी परिणाम प्राप्त किए गए हैं। नयी कृषि तकनीकी को अपनाने से कृषि–रोजगार की वृद्धि हुई है क्योंकि बहु–फसलीकरण और भाड़े पर लगाए गए श्रमिकों की ओर परिवर्तन से विविध रोजगार–अवसर कायम किए गए है। इसके साथ ही, कृषि–मशीनरी के विस्तृत प्रयोग से कृषि–श्रम का विस्थापन भी हुआ है।

अन्तिम, नयी तकनीकी और कृषि के आधुनिकीकरण से कृषि और उद्योग में सम्बन्ध मजबूत हो गए है। पारम्परिक खेतों के अधीन भी, कृषि तथा उद्योग के बीच अग्र–सम्बन्ध बहुत प्रबल था क्योंकि कृषि उद्योगों के लिए बहुत से आदान उपलब्ध कराती थी, परन्तु प्रतिगामी सम्बन्ध अर्थात् उद्योग से तैयार की गई विनिर्मित वस्तुओं का कृषकों द्वारा प्रयोग कमजोर था। किन्तु अब कृषि–आधुनिकीकरण से उद्योगों द्वारा उत्पन्न वस्तुओं की मांग कृषि–क्षेत्र में बहुत बढ़ गयी है और प्रतिगामी सम्बन्ध भी काफी मजबूत हो गया है। इस प्रकार कृषि और उद्योग के बीच सम्बन्ध प्रबल हो गया है।

3.10.1 नयी कृषि विकास रणनीति की कमजोरियाँ

भारतीय कृषि में पूँजीवादी खेती का विकास–अधिक उपजाऊ किस्म के बीजों से अधिक उत्पादन प्राप्त करने के लिए उर्वरकों और सिंचाई पर भारी निवेश करना पड़ता है। भारी निवेश करना छोटे और मध्यम श्रेणी के किसानों की क्षमता से बाहर है। भारत में लगभग 810 लाख जोतें हैं परन्तु केवल 6 प्रतिशत बड़े किसानों के पास कुल भूमि का 40 प्रतिशत है और केवल वही नलकूप, पम्पिंग सेट, उर्वरक और भारी मशीनरी के रूप में भारी निवेश कर रहे हैं। परिणामतः नई कृषि–उत्पादन रणनीति के कारण भारत में पूँजीवादी खेती का विकास हुआ है। अतः कृषि–क्रान्ति में प्रसार–प्रभाव का अभाव और इस कारण भारतीय खेती में विकास कुछ आर्थिक घेरों में सीमित हो गया है। परिणामतः निर्धन किसानों को लाभ नहीं हुआ बल्कि इसके कारण ग्रामीण जनसंख्या के उच्चतम 10 प्रतिशत भाग के हाथ में सम्पत्ति का संकेन्द्रण हुआ है। अतः भारत में भद्र किसानों की संख्या में वृद्धि का काफी प्रमाण उपलब्ध है। इनमें मिलिटरी की नौकरी से रिटायर हुए अफसर, रिटायर्ड सिविल अफसर, शहरी व्यापारी शामिल हैं जो अपनी आय उद्योग या व्यापारी से प्राप्त करते हैं और जिन्होंने हाल ही में कृषि को एक उद्योग के रूप में चलाना आरम्भ किया है। यह वर्ग कृषि में निवेश को लाभदायक समझता है। पंजाब में इनकी संख्या कुल किसानों की संख्या का 3 प्रतिशत है। पूँजीवादी किसानों, जिनमें भद्र किसानों के अतिरिक्त प्रगतिशील किसान भी शामिल हैं, के आधीन कुल फार्मो का 8.5 प्रतिशत फार्म हैं जो कि कुल कृषि योग्य क्षेत्रफल के 27 प्रतिशत क्षेत्र पर फैले हुए हैं। इस वर्ग के किसान ही ट्रैक्टरों, नलकूपों, पम्पिंग सेटों और अन्य उपकरणों पर विनियोग कर सकते हैं। इसी प्रकार ये किसान अपनी जोतों पर बिल्डिंग, भू–सुधार और अन्य मरम्मत आदि के लिए पूँजी–व्यय

करने की सामर्थ्य रखते हैं। सर्वेक्षण के आधार पर यह परिणाम निकला है कि बड़े फार्मो पर प्रति एकड़ अधिक पूँजी–व्यय किया जाता है जो कि इनमें यन्त्रीकरण का सूचक है।

3.10.2 आय की बढ़ती हुई असमानताएं

कृषि में तकनीकी परिवर्तनों का ग्राम–क्षेत्रों में आय–वितरण पर दुष्प्रभाव हुआ है। भारतीय कृषि में तकनीकी परिवर्तन और वितरण सम्बन्धी लाभों के बारे में अपने अध्ययन से **सी.एच. हनुमन्त** राव ने यह निष्कर्ष प्राप्त किया है: *''तकनीकी परिवर्तनों से एक ओर विभिन्न क्षेत्रों, छोटे और बड़े फार्मो और भू–स्वामियों के बीच आय की असमानताएँ बढ़ी हैं और दूसरी ओर भूमिहीन मजदूरों और मुजारों में खाई और चौड़ी हो गयी है। किन्तु परम रूप में तकनीकी परिवर्तन के लाभ सीमित वर्गो में बँटे हैं। इनका संकेत तकनीकी परिवर्तन के अनुभव करने वाले क्षेत्रों में वास्तविक मजदूरी एवं रोजगार में वृद्धि, और छोटे किसानों की आय में वृद्धि के रूप में मिलता है।''*

फिर भी हरित क्रान्ति के प्रधान लाभ प्राप्तकर्ता तो बड़े किसान ही हैं जो अपने लाभ के लिए उन्नत किस्म के आदानों और ऋण–सुविधाओं को हथिया लेते हैं। परन्तु आवश्यकता इस बात की है कि नीतियों में इस प्रकार परिवर्तन किया जाए। **डॉ. वी. के. आर. वी.** राव के शब्दों में : *''यह बात अब सर्वविदित है कि तथाकथित हरित क्रान्ति जिसने देश में खाद्यान्नों का उत्पादन बढ़ाने में सहायता दी है, के साथ ग्रामीण आय में असमानता में वृद्धि हुई है, बहुत से छोटे किसानों को अपने काश्तकारी अधिकार छोड़ने पड़े और ग्राम–क्षेत्रों में सामाजिक एवं आर्थिक तनाव बढ़े हैं।''*

3.11 अभ्यास प्रश्न

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. सन् 2008–09 में कितने लाख टन दालों की उपज की गयी थी –

(a) 990 (b) 440
(c) 150 (d) 400

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. नयी कृषि रणनीति की मुख्य उपलब्धियां बताइये?
2. स्वतन्त्रता से पूर्व भू–धारण प्रणाली की संक्षेप में चर्चा कीजिए।

3.12 सारांश

सारांश में हम कह सकते हैं कि भूमिहीन गरीबों ओर छोटे किसानों को जिन्हें हरित क्रान्ति से कोई लाभ प्राप्त नहीं हुआ उन्हें सशक्त करना आवश्यक है। भूमिहीन किसानों को भूमि सुधार कार्यक्रमों के तहत उचित दामों पर भूमि उपलब्ध करा उन्हें प्रगतिशील बनाना आज के समय की मांग है।

3.13 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

बहुविकल्पीय उत्तर

1– c

3.13 संदर्भ ग्रन्थ सूची

- Datt and Sundram, R., (2009), India Economy, 61st Edition, Suttam

Chand & Sons.
- Prakash, B.A., (2009), The Indian Economy Since 1991 – Economic Reforms & Performances, Ist edition, Pearson Education.
- Rudra, Ashok, (1975), Indian Plan Models, Ist edition, Allied Publishers, Bombey.
- Mishra, S. K., and Puri, V. K., (2007), Problems of Indian Economy, Mimalaya Publishing House.
- OECD : A preliminary Assessment of the Impact of the Uruguay Round on Developing Countries, Paris. (1994).
- Govt. of India, Planning Commission, Tenth Five Year Plan, Vol-I
- Rudra Ashok, (1974) Indian Plan Models, Allied Publishere, Bombay.
- Sen Amarty (1983) Development Which Way Now Economic Journal.
- Shah and Vakil (Ed) : Agricultural Development of India, Policy and Problems.
- Desai, A.R., (1983) Rural Sociology in India, Popular Prakashan, Bombay.
- Bansil, P. C. (1981), Agricultural Problems of India, Oxford and IBH Publishing Company.
- Economic Sumery, 2008-09
- Economic Sumery, 2009-10

3.14 निबन्धात्मक प्रश्न

1. भू–सुधार से क्या समझते हो? इस हेतु सरकार द्वारा उठाए गये प्रमुख कदमों की व्याख्या कीजिए।
2. निम्न पर टिप्पणी लिखिए–
   (1) चकबंदी
   (2) लगान का नियमन
   (3) जोतों की सीमा बंदी
   (4) काश्तकारी सुधार

इकाई 4 – कृषि / ग्रामीण वित्त एवं कृषि विपणन (AGRICULTURE/RURAL FINANCE AND AGRICULTURAL MARKETING)

4.1 प्रस्तावना
4.2 उद्देश्य
4.3 कृषि/ग्रामीण वित्त का अर्थ
4.4 कृषि विपणन
4.4.1 कृषि विपणन का महत्व
4.4.2 भारत में कृषि–विपणन की वर्तमान अवस्था
4.4.2.1 किसानों को उपलब्ध कृषि विपणन सम्बन्धी मूल सुविधाएँ
4.4.3 कृषि विपणन के दोष
4.4.4 कृषि विपणन को उन्नत करने के उपाय
4.5 विनियमित मण्डियाँ
4.5.1 विनियमित मण्डी के लक्षण
4.6 सहकारी विपणन
4.6.1 सहकारी विपणन समितियों के लाभ
4.7 सरकार और कृषि विपणन
4.8 कृषि विपणन में सुधार संदर्भ मॉडल–ए.पी.एम.सी. एक्ट
4.9 अभ्यास प्रश्न
4.10 सारांश
4.11 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
4.12 संदर्भ ग्रन्थ सूची
4.13 निबन्धात्मक प्रश्न

4.1 प्रस्तावना

भारतीय अर्थव्यवस्था में कृषि क्षेत्र राष्ट्रीय आय एवं कुल रोजगार के अवसरों में महत्वपूर्ण भूकिा रखता है, परन्तु अन्य देशों की तुलना में सापेक्षिक दष्टिकोण से भारतीय कृषि अपनी अल्प उत्पादिता एवं पिछड़ेपन के कारण भरण–पोषण के अतिरिक्त आधिक्य उत्पन्न करने में असमर्थ दिखती है। इसके लिए कृषि के अभिनवीकरण एवं इसमें पर्याप्त विनियोग की आवश्यकता प्रतीत होती है। कृषि/ग्रामीण वित्त इसी विनियोग से सम्बन्धित है। परन्तु विभिन्न प्रकार की नीतियों के चलते उत्पादन में वृद्धि हुई है जिसको किसान साहूकारों साप्ताहिक या अर्ध–साप्ताहिक ग्राम बाजारों या सरकार को समर्पित कीमतों में बेचते हैं, इन्हें वितरण कहते हैं। इस इकाई में आप कृषि/ग्रामीण वित्त और कृषि विपणन के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करेंगे।

4.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्यनोपरांत आप

- ✓ कृषि के अर्थ से परिचित हो सकेंगे।
- ✓ कृषि वित्त के विभिन्न स्रोतों की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
- ✓ भारत में कृषि विपणन की वर्तमान स्थिति से अवगत होंगे।
- ✓ कृषि विपणन के गुण–दोष जान पायेंगे।
- ✓ कृषि वित्त के दोषों को दूर करने के लिए सरकार द्वारा उठाये गये उपायों की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
- ✓ कृषि विपणन में सुधार संदर्भ मॉडल को समझ सकेंगे।

4.3 कृषि/ग्रामीण वित्त का अर्थ

प्रत्येक आर्थिक क्रिया का वित्त से अविभाज्य सम्बन्ध होता है, क्योंकि वित्तीय आधार प्रत्येक आर्थिक क्रिया की एक महत्वपूर्ण पूर्वाप्रेक्षा होती है। यह तथ्य कृषि के लिए समान रूप से लागू होता है। कृषकों को उर्वरक, बीज, कृषि यन्त्र एवं कीटनाशक दवाइयां खरीदने, मजदूरी और लगान का भुगतान करने, भूमि में आधारिक सुधार करने, विभिन्न उपभोग वस्तुओं की प्राप्ति एवं पुराने ऋणों के परिशोधनार्थ वित्त की आवश्यकता होती है। इसे कृषि/ ग्रामीण वित्त कहते हैं।

अधिकांश कृषक अपने निजी चालू आय स्रोतों द्वारा कृषिगत उक्त आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर पाते हैं जिसके परिणाम स्वरूप कृषि साख की समस्या का उदय होता है। नियोजन के पूर्व कृषि का स्वरूप मूलतः परम्परावादी रहा फलतः कृषि साख की आवश्यकता कम थी और उसकी आपूर्ति मुख्यतः निजी स्रोतों से हो जाती थी। नियोजन काल में विशेषकर कृषि की नवीन तकनीक के प्रादुर्भाव के फलवस्वरूप कृषि साख की मांग में विभिन्न नवीन निवेशकों के परिप्रेक्ष में परिवर्तन हो गया है।

कृषि वित्त की व्यवस्था में मुख्यतः कृषि साख अर्थात् कृषि ऋण का प्रयोग किया जाता है। भारत में दीर्घकाल तक कृषि साख संरचना में निजी स्रोतों जिन्हें गैर संस्थागत स्रोत कहा जाता है का ही वर्चस्व रहा। ग्रामीण साहूकार महाजन, सम्बन्धी जन, भू–स्वामी एवं दलाल इसके प्रमुख संघटन तत्व हैं। इसमें महाजन, सगे–सम्बन्धी और व्यापारियों का विशेष महत्व रहा है।

इस अतिरिक्त संस्थागत स्रोतों से वित्त व्यापार के लिये व्यापारिक बैंक, क्षेत्रीय ग्रामीण बैंक और सहकारी समितियाँ शामिल हैं।

तालिका 4.3

स्रोत	कृषि वित्त / कृषि संस्थागत साख कृषि साख का प्रतिशत		
	1997–98	2001–02	2004–05
सहकारी बैंक	44.0	40.7	26.6
क्षेत्रीय ग्रामीण बैंक	6.4	7.3	10.2
व्यापारिक बैंक	49.5	52.0	63.2
योग	1000.0	1000.0	100.2
कुल कृषि साख	31956	66771	80000

इन सभी के अतिरिक्त कृषि एवं ग्रामीण विकास का राष्ट्रीय बैंक (नाबार्ड) भी कृषि वित्त की व्यवस्था करता है।

4.4 कृषि विपणन

विपणन वह मानवीय क्रिया है जो विनिमय प्रक्रिया द्वारा मनुष्य की आवश्यकताओं को संतुष्ट करती है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि विपणन वह प्रक्रिया है जिसमें विभिन्न व्यक्तियों व सामाजिक वर्गों के बीच विनिमय कार्य होता है। इस प्रकार विपणन में वे सभी क्रियायें सम्मिलित हैं जो वस्तुओं ओर सेवाओं को उचित समय पर तथा उचित मात्रा में उपभोक्ताओं पर पहुँचाकर उनकी उपयोगिताओं में वृद्धि करती है। विपणन संरचना में वस्तुओं और सेवाओं का संग्रह, श्रेणीकरण, वित्त व्यवस्था, यातायात एवं बिक्री की क्रियायें सम्मिलित होती हैं। प्रत्येक बाजार संगठन के दो औपचारिक कार्य होते हैं। प्रथम, बाजार संगठन दूर–दूर तक फैले उपभोक्ताओं तक वस्तुओं और सेवाओं को ले जाने का कार्य करता है। यह कार्य अत्यन्त सक्रियता और न्यूनतम लागत पर होना चाहिए और द्वितीय बाजार संगठन उपभोक्ता के विभिन्न स्तरों पर प्रचलित कीमत स्तरों की जानकारी उत्पादक तक पहुँचाता है। इसी प्रकार उत्पादकों की ओर से वस्तुओं और सेवाओं की कीमतों की सूचना उपभोक्ता तक पहुँचाता है। बाजार संगठन के प्राथमिक दायित्व के कारण बाजार में माँगी जाने वाली वस्तुओं और सेवाओं की मात्रा तथा बाजर में भेजी जाने वाली मात्रा के मध्य संतुलन स्थापित हो जाता है। विपणन क्रिया आर्थिक विकास का एक प्रमुख प्रेरक तत्व है। विपणन और बाजार अवसर का प्रसार पिछड़े क्षेत्रों में भी नवीन आर्थिक क्रियाओं के सृजन और प्रसार में सहायक होता है।

4.4.1 कृषि विपणन का महत्व –

कृषि उत्पादन की विभिन्न प्रक्रियाओं, यथा संग्रह, श्रेणीकरण, यातायात, वित्तपूर्ति एवं बिक्री का समावेश कृषि विपणन के अन्तर्गत होता है। कृषि विपणन उत्पादकों एवं उपभोक्ताओं के हितों की सुरक्षा करता है। यह कृषि उत्पादन को उत्पादक से उपभोक्ता व औद्योगिक प्रक्रिया इकाइयों तक अपेक्षित समय व दूरी की सीमा में पहुँचाने में सहायक होता है। इसी प्रकार कृषि विपणन संगठन, कृषि उत्पादनों की कीमत और अन्य जानकारी उपभोक्ताओं तक और फिर उपभोक्ताओं के विभिन्न स्तरों से, उत्पादक तक पहुँचाने में सहायक होता है। सामान्य रूप से कृषि उत्पादन के क्रेताओं के मुख्यतः तीन वर्ग होते हैं। प्रथम वर्ग में वे क्रेता सम्मिलित हैं जो कृषि उत्पादनों का प्रत्यक्ष उपभोग करते हैं, यथा

गेहूँ, चावल इत्यादि के क्रेता। द्वितीय वर्ग में वे क्रेता सम्मिलित हैं जो कृषि उत्पादनों का प्रयोग कच्चे पदार्थ के रूप में करते हैं और कृषि वस्तुओं का माध्यमिक वस्तुओं के रूप में प्रयोग कर विभिन्न् वस्तुओं का निर्माण करते हैं। इसमें गन्ना, कपास, तिलहन, पटसन आदि वस्तुओं के क्रेता सम्मिलित होते हैं। तृतीय वर्ग में वे क्रेता सम्मिलित हैं जो कृषि वस्तुओं का क्रय निर्यात की आवश्यकताओं से करते हैं. इसमें प्रत्यक्ष उपभोग और माध्यमिक प्रयोग की वस्तुओं के अतिरिक्त अन्य तैयार वस्तुयें भी सम्मिलित रहती हैं। प्रत्येक अर्थव्यवस्था में कृषिगत विपणन योग्य अतिरेक एकत्र करने के लिए विपणन संरचना का प्रभावी और सक्षम होना आवश्यक है। यदि उत्पादन वृद्धि के साथ–साथ विपणन–योग्य अतिरेक का सृजन न हुआ तो नगरों और उद्योगों के लिए खाद्य पदार्थ व कच्चे पदार्थ की आपूर्ति न हो पायेगी जो विकास मार्ग में अत्यधिक बाधक तत्व होगा। एक सक्षम विपणन तंत्र की कमी की स्थिति में कृषि उत्पादन, वितरण और उपभोग की आवृत्ति पूरी न हो सकेगी। भारतीय अर्थव्यवस्था अब भी मूलतः कृषि प्रधान है। इस कारण विकास के लिए कृषिक्षेत्र के अतिरेक सृजित किया जाना आवश्यक है। कृषिक्षेत्र की निम्नलिखित विशेषतायें एक उपयुक्त विपणन प्रणाली की आवश्यकता पर विशेष बल देती है।

1. कृषि उत्पादन कार्य व्यापक क्षेत्र में फैला है। इन क्षेत्रों में कृषि उपज एकत्र करना स्वतः एक समस्या है। एक ही उत्पादन की विभिन्न किस्में उपलब्ध हैं। अतएव उनका श्रेणीकरण करना आवश्यक होता है।
2. भारतीय अर्थव्यवस्था में कृषि पदार्थों का लेन–देन देश में होने वाले कुल विनिमय का बहुत बड़ा भाग होता है। कृषि निर्यात देश के कुल निर्यातों का एक महत्वपूर्ण भाग है।
3. कृषि उत्पादन कुछ निश्चित समयों पर ही उपलब्ध होता है जबकि इसकी मांग समान रूप से पूरे वर्ष बनी रहती है। इसलिए संग्रह व परिहवन की समस्या बनी रहती है।
4. कृषि क्षेत्र देश की राष्ट्रीय आय में लगभग 24 प्रतिशत का योगदान करता है और देश की कुल कार्यशील जनसंख्या का लगभग 65 प्रतिशत भाग कृषिक्षेत्र में अपनी आजीविका अर्जित करता है।

4.4.2 भारत में कृषि–विपणन की वर्तमान अवस्था –

किसान अपने अतिरिक्त उत्पादन का कई प्रकार से विक्रय कर सकता है। सबसे पहला और सामान्य तरीका तो यह है कि किसान फालतू फसल ग्राम के साहूकार या महाजन एवं व्यापरी को बेचता है। व्यापारी स्वयं भी कृषि–उत्पादन क्रय कर सकता है या किसी बड़ी वाणिज्यिक फर्म या किसी बड़े व्यापारी का अभिकर्ता बन कर भी फसल खरीद सकता है। यह अनुमान लगाया गया है कि पंजाब में गेहूँ का 60 प्रतिशत, तिलहनों का 70 प्रशित और रूई का 35 प्रतिशत उत्पादन ग्राम में ही बेचा जाता है।

भारतीय किसानों में प्रचलित विक्रय की दूसरी प्रणाली के अनुसार किसान अपने उत्पादन को साप्ताहिक या अर्ध–साप्ताहिक ग्राम–बाजारों में जिन्हें 'हाट' कहते हैं बेच देते हैं। इनके अतिरिक्त धार्मिक उत्सवों के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण ग्रामों या कस्बों में मेले लगाए जाते हैं। किसान इन मेलों में अनी उत्पादन और पशु लाते हैं और उन्हें वहाँ बेचते हैं।

कृषि–विपणन की तीसरी प्रणाली में छोटे तथा बड़े कस्बों में, मण्डियों में, क्रय–विक्रय किया जाता है। मण्डियाँ उत्पादन केन्द्रों से कई मील दूर स्थित भी हो सकती हैं और परिणामतः किसान को अपनी उपज मण्डी तक ले जाने के लिए विशेष प्रयास

करना पड़ता है। मण्डियों में दलालों द्वारा किसान अपनी फसल को आढ़तियों को बेचते हैं। ये आढ़तिए जो थोक व्यापारी होते हैं अपनी फसल या तो फुटकर विक्रेताओं को या आटे की मिलों या विधायन इकाइयों को बेच देते हैं। उदाहरणतया रूई के थोक विक्रेता इसे कपड़ा कारखानों को बेच देते हैं किन्तु खाद्यान्न को आटे की मिलों या फुटकर विक्रेताओं को बेचा जाता है।

4.4.2.1 किसानों को उपलब्ध कृषि विपणन सम्बन्धी मूल सुविधाएँ

कृषि उत्पादन के विक्रय में अधिकतम लाभ प्राप्त करने के लिए किसान को कुछ मूल सुविधाओं की उपलब्धि आवश्यक है –

(क) उसके पास अपनी वस्तुओं को रखने के लिए गोदामों की उचित व्यवस्था होनी चाहिए।

(ख) इसमें कुछ समय के लिए रुक सकने की क्षमता होना चाहिए, जबकि वह इस समय की प्रतीक्षा कर सके जबकि वह अपने स्टांक अच्छे मूल्य पर बेच सके। यदि वह फसल कटने के बाद अपनी उपज के बेचेगा तो उसे कम कीमत ही प्राप्त होगी।

(ग) उसके पास सस्ती परिवहन सुविधाएँ होना चाहिए ताकि वह फसल को ग्राम में ही साहूकार या महाजन व्यापारी को न बेचकर मण्डी में ले जा सके।

(घ) उसे बाजार में विद्यमान परिस्थितियों तथा प्रचलित मूल्यों के बारे में पूर्ण सूचना होना चाहिए, नहीं तो उसे धोखा हो सकता है। व्यवस्थित और निमियमित मण्डियों का विकास होना चाहिए जहाँ किसान को दलाल और आढ़तिए लूट न सके।

(ङ) बिचौलियों की संख्या जितनी कम से कम हो सके, कर देनी चाहिए। इससे किसानों को अपनी फसल के बदले उचित मूल्य प्राप्त होगा।

4.4.3 कृषि विपणन के दोष

भारत में कृषि विपणन की दशा बहुत ही बुरी है। किसान बहुत निर्धन एवं अशिक्षित है। उसे अपनी उपज के क्रय–विक्रय के सम्बन्ध में पूर्ण जानकारी भी उपलब्ध नहीं। सबसे **पहले** तो उसके पास अपनी उपज का संग्रह करने के लिए गोदामों की सुविधा उपलब्ध होना चाहिए। गोदामों के रूप में उपलब्ध सुविधाओं की यह हालत है कि ग्रामों में 10 से 20 प्रतिशत उपज चूहों, चीटिंयों आदि के द्वारा नष्ट हो जाती है।

दूसरे, किसान इतना निर्धन और ऋणग्रस्त है कि वह अपने ऋणों का भुगतान करने के लिए अपनी उपज महाजन या व्यापारी को बेचने के लिए तैयार हो जाता है। इस प्रकार के बाध्य–विक्रय के कारण औसत किसान की कमजोर स्थिति और भी अधिक कमजोर हो जाती है।

तीसरे, ग्रामीण क्षेत्रों में परिवहन सुविधाएँ इतनी बुरी हैं कि समृद्ध किसान भी जिसके पास काफी अतिरेक उपलब्ध होता है, मण्डियों में जाना नहीं चाहते। बहुत सी सड़के कच्ची हैं जो बरसात के मौसम में इस्तेमाल नहीं की जा सकतीं।

चौथे मण्डियों में परिस्थितियाँ इतनी बुरी हैं कि किसान को मण्डियों में जाकर काफी प्रतीक्षा करनी पड़ती है तब ही वह अपनी फसल को बेच पाता है। इसके अतिरिक्त सौदा–प्रणाली ऐसी है कि इससे किसान को नुकसान ही होता है। किसान आढ़तिये को अपनी फसल बेचने के लिए दलाल की सहायता लेता है।

पाँचवें, किसान और अन्तिम उपभोक्ता के बीच विचौलियों की संख्या बहुत अधिक है और इसलिए उपज का काफी भाग वे हड़पकर जाते हैं।

छठे, किसानों को बड़ी–बड़ी मण्डियों में प्रचलित कीमतों के बारे में सूचना भी नहीं मिलती और न ही उन्हें प्रत्याशित बाजार परिस्थितियों और कीमतों सम्बन्धी जानकारी होती है। परिणामतः किसानों को जो भी कीमत दलाल और आढ़तिये देने के तैयार हो जाएँ, स्वीकार करनी पड़ती है।

4.4.4 कृषि विपणन को उन्नत करने के उपाय

सरकार कृषि विपणन की परिस्थितियों को उन्नत करने के बारे में जागरूक है और उन्हें सुधारने के लिए कई उपाय किए हैं। अखिल भारतीय भाण्डारगार निगम की स्थापना की गई है, जिसका उद्देश्य कस्बों तथा मण्डियों में गोदाम कायम करना और उनका प्रबन्ध करना है। ग्रामों में गोदामों की संख्या बढ़ाने के लिए सहकारी समितियों को अनिवार्य वित्तीय स्थिति उत्पन्न करने के लिए और इन्हें महाजनों के चुंगुल से मुक्त कराने के लिए रहकारी साख समितियाँ उधार देती हैं। अतः किसानों की उपज का क्रय–विक्रय करने के लिए सहकारी विपणन एवं विधायन समितियाँ आरम्भ की गई हैं। ग्रामीण परिवहन को विकसित किया जा रहा है। विनियमित मण्डियाँ स्थापित की गयीं और इनमें किसानों के हितों की रक्षा के लिए कदम उठाये गये। खाद्यान्नों की कीमतें सरकार द्वारा कृषि कीमत आयोग की सिफारिशों के आधार पर निश्चित की जा रही हैं। सरकार भारतीय खाद्य निगम और भारतीय रूई निगम द्वारा एक बड़े व्यापारी के रूप में कार्य कर रही है और कृषि–उत्पादन का क्रय–विक्रय करती है।

4.5 विनियमित मण्डियाँ

विनियमित मण्डियों का उद्देश्य किसान को आढ़तियों और दलालों के दोषपूर्ण व्यवहारों से मुक्त कराना है। इनके मुख्य लक्ष्य अस्वस्थ बाजार व्यवहारों को दूर करना, विपणन दायित्व कम करना और किसान को उचित मूल्य का विश्वास दिलाना है। इन उद्देश्यों को दृष्टि में रखकर सभी राज्यीय सरकारों ने विनियमित मण्डियों सम्बन्धी कानून बनाए हैं। 1951 में भारत में 200 से अधिक विनियमित मण्डियाँ थीं। मार्च 1998 के अन्त तक देश में 7,060 कृषि मण्डियाँ विनियमित की गयीं।

4.5.1 विनियमित मण्डी के लक्षण

कानून के आधीन एक विनियमित मण्डी किसी विशिष्ट वस्तु या वस्तु समूह के लिए चलाई जाती है। ऐसी मण्डी के प्रबन्ध के लिए एक मण्डी समिति बनाई जाती है जिसमें राज्यीय सरकार, स्थानीय संस्थाओं (अर्थात् जिला बोर्ड), व्यापारियों, कमीशन एजेन्टों या दलालों और स्वयं किसानों के प्रतिनिध होते हैं। दूसरे शब्दों में, मण्डी समिति में सभी प्रकार के वित्त सम्मिलित होते हैं। इस समिति को एक निश्चित अवधि के लिए सरकार द्वारा नियुक्त किया जाता है और इसे मण्डी के प्रबन्ध का कार्य सौंप दिया जाता है।

मण्डी समिति द्वारा मण्डी में वसूल किये जाने वाले कमीशन भी निश्चित किए जाते हैं। मण्डी समिति इस बात का भी ध्यान रखती है कि दलाल न तो क्रेता की ओर से कार्य करे और न विक्रेता की ओर से। इस प्रकार किसान को दी जाने वाली कीमत में से आनाधिकृत कटौतियाँ समाप्त हो जाती हैं। साथ ही माप और तौल के सही बटों का प्रयोग भी अनिवार्य कर दिया जाता है। यह समिति सभी प्रकार की शिकायतें सुनती है और इनके निर्णय भी करती हैं। झगड़े की हालत में मध्यस्थ निर्णय भी करती है।

4.6 सहकारी विपणन

1954 से पूर्व, सहकारी साथ समितियों की अपेक्षा सहकारी विपणन समितियाँ पृथक् रूप में स्थापित की गयीं। किन्तु 1954 तक किसानों को आधार दने के लिए और अतिरिक्त उपज के क्रय–विक्रय के लिए बहु उद्देश्यीय समितियाँ चालू की गयीं।

4.6.1 सहकारी विपणन समितियों के लाभ

कुछ पश्चिमी देशों में सहकारी विपणन बहुत ही सफल हुआ है। दुग्ध पदार्थों के सहकारी विपणन के लिए डेनमार्क विश्व में प्रसिद्ध है। सहकारी आधार पर कृषि–विपणन के अनेक लाभ हैं। उनमें मुख्य ये हैं –

(1) विपणन समिति वैयक्तिक सौदा शक्ति का प्रतिस्थापन सामूहिक सौदाशक्ति द्वारा करती है। किसान स्वयं निर्बल है परन्तु विपणन समिति बलवान होती है।

(2) यह समिति किसानों को अग्रिम देती है और इन्हें अच्छी कीमतों की प्रतीक्षा करने के योग्य बनाती है, इसके अतिरिक्त यह उन्हें उनकी अन्य आवश्यताओं के लिए भी ऋण देती है।

(3) समिति के अपने गोदाम और भंडारगृह भी होते हैं। इस प्रकार चूहे, चींटियां और नमी से खराब हो जाने वाली फसल को बचाती है।

(4) यह तेज और सस्ते परिवहन का प्रबन्ध भी करती है। कई बार तो यह अपने वाहनों की भी व्यवस्था करती है।

(5) यह किसानों को वर्गीकृत मानकीकृत वस्तुओं के उत्पादन के लिए प्रोत्साहन देती हैं और इन्हें अपनी उपज में मिलावट करने से रोकती है।

(6) यह संभरण की मात्रा का नियन्त्रण करती है और इस प्रकार कीमतों को प्रभावित करती है।

(7) यह बहुत से बिचौलियों को भी हटा देती हैं और इस प्रकार बहुत सा लाभ उनकी अपेक्षा किसान को प्राप्त होता है।

(8) किसानों के द्वारा उत्पादित वस्तुओं को बेचने के अतिरिक्त यह उनको बीज, उर्वरक, उपकरण आदि जैसे अनिवार्य वस्तुयें उपलब्ध कराती हैं।

अतः सहकारी विपणन समिति ग्रामीण बाजार प्रणाली को पुनः व्यवस्थित करने की सर्वोत्तम पद्धति है।

4.7 सरकार और कृषि विपणन

सरकार द्वारा विपणन – सर्वेक्षणों के आधार पर कृषि वस्तुओं के क्रय–विक्रय में सुधार लाने के लिए किए गए उपाय निम्नलिखित हैं –

1. सरकार ने कृषि वस्तुओं के वर्ग–विभाजन तथा मानकीकरण के लिए बहुत सा कार्य किया है। कृषि उपज (वर्ग विभाजन एवं विपणन) अधिनियम के आधीन घी, आटा, अण्डे आदि वस्तुओं के लिए वर्ग विभाजन केन्द्र स्थापित किए हैं। कृषि विपणन द्वारा वर्ग–विभाजित वस्तुओं पर 'AGMARK (एगमार्क)' की मुहर लगा दी जाती है। इस प्रकार इन वस्तुओं के बाजार का विस्तार होता है और इनके लिए अच्छी कीमत प्राप्त हो सकती है। नागपुर में केन्द्रीय कोटि नियन्त्रण प्रयोगशाला बनाई गई है। इसी प्रकार देश के विभिन्न भागों में आठ प्रादेशिक प्रयोगशालाएँ बनाई गई है। इन सब प्रयोगशालाओं का उद्देश्य कृषि–वस्तुओं की किस्म एवं शुद्धता परीक्षण

करना है। कोटि नियन्त्रण को अधिक मजबूत करने के लिए निरीक्षण को बढाया जा रहा है और वर्ग–विभाजन में उन्नति की जा रही है।

2. कृषि–विपणन को सुधारने का एक महत्वपूर्ण उपाय देश भर में विनियमित मण्डियाँ कायम करना है। अब देश में 7.060 विनियमित मण्डियाँ कार्य कर रही हैं। विनियमित मण्डियों की स्थापना का फलस्वरूप मण्डियों में दोषपूर्ण व्यवहारं को दूर किया जा रहा है। यह अनुमान है कि कुल कृषि उपज के लगभग 70 प्रतिशत का क्रय–विक्रय इन्हीं मण्डियों में होता है। इस सम्बन्ध में सरकार द्वारा देश भर में माप और तोल के बाटों का मानकीकरण विशेषकर उल्लेखनीय है। सरकार ने देश में प्रचलित विभिन्न प्रकार के माप और तौल से बट्टों को समाप्त कर इनके स्थान पर मीट्रिक प्रणाली अपनाई गई है। इस प्रकार किसानों के साथ बट्टों के आधार पर होने वाला छल–कपट समाप्त हो गया है।
3. सरकार ने कस्बों तथा ग्रामों में भाण्डागार सुविधाओं को भी उन्नत करने के लिए महत्वपूर्ण कार्य किए हैं। 1957 मं कृषि उपजों में संग्रहण तथा गोदानों एवम भंडारणों के परिचालन के लिए केन्द्रीय भाण्डागार निगम की स्थापनी की गयी। इसी उद्देश्य से विभिन्न राज्यों में राज्यीय भाण्डागार निगम स्थापित किए गए। आज भारतीय खाद्य निगम देश के विभिन्न भागों में गोदामों के एक जाल का निर्माण कर रहा है।
4. किसानों में कृषि सम्बन्धी सूचना के प्रसारण के लिए सरकार रेडियों तथा टेलीविजन का प्रयोग भी करती रही है। रेडियों तथा दूरदर्शन के प्रसारण में मुख्य वस्तुओं के दैनिक मूल्यों, स्टॉक तथा बाजार की गतिविधियाँ सम्बन्धी सूचना दी जाती है। बहुत से किसान इन प्रसारणों को सुनकर लाभ उठाते हैं।
5. **सहकारी विपणन समितियों का संगठन –** भारत सरकार ने बहुउद्देश्य सहकारी समितियों के संगठन को प्रोत्साहन देने के लिए सक्रिय प्रोत्साहन दिया है और इस कार्य में विशेष बल उधार एवं विपणन पर ही रखा गया। प्राथमिक विपणन समितियों को केन्द्रीय समितियाँ और राज्यीय स्तर पर शिखर विपणन समितियाँ और राज्यीय स्तर पर शिखर विपणन समितियाँ कायम करने के लिए प्रोत्साहन दिया जाए। इसी प्रकार राष्ट्रीय सहकारी विपणन संघ भी कायम किया गया। सरकार ने सहकारी विपणन समितियों और संघों को स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया और अन्य राष्ट्रीयकृत बैंकों के माध्यम से अधिक वित्तीय संसाधन उपलब्ध कराए। इस सम्बन्ध में राष्ट्रीय सहकारी विकास निगम का उल्लेख करना उचित होगा जिसकी स्थापना भारत सरकार द्वारा सन् 1965 में की गयी ताकि वह सहकारी समितियों द्वारा कृषि उपज के उत्पादन, संसाधन, भाण्डागार और विपणन के प्रोग्रामों का आयोजन कर सके और उन्हें प्रोत्साहन दे सके।
6. **विशेष बोर्डों की स्थापना –** भारत सरकार ने कुछ विशेष वस्तुओं जैसे चावल, दालें, पटसन, मोटे अनाज, रूई, तम्बाकू, तिलहन, गन्ना, सुपारी आदि के लिए बहुत सी विकास परिषदें भी कायम की हैं जैसे काजू निर्यात प्रोन्नति परिषद और कृषि एवं संसाधित खाद्य निर्यात विकास प्राधिकरण।
7. **कृषि वस्तुओं के निर्यात को बढ़ावा –** सरकारी सहायता के आधीन हाल ही के वर्षो में कृषि निर्यात के बढ़ने की प्रवृत्ति अभिव्यक्त हुई है। उदाहरणार्थ, कृषि वस्तुओं का निर्यात जो 1992–93 में 7,880 करोड़ रुपये था बढ़कर 2003–04 में 34,000 करोड़ रुपये हो गया। भारत के कृषि निर्यात में दालें, चावल, गेंहूँ, तम्बाकू, चीनी, मुर्गी एवं

दुग्धशाला से सम्बन्धित वस्तुएं गर्म मसाले, काजू, तिलहन, मूँगफली, फल एवं सब्जियाँ शामिल हैं। भारत के कुल निर्यात में कृषि निर्यात का भाग 12–15 प्रतिशत के बीच रहा।

भारत सरकार के विदेश व्यापार नीति (2004–09) में कृषि निर्यात पर बल दिया गया है और एक नयी योजना विशेष कृषि उत्पाद योजना चालू की गयी है ताकि फलों, सब्जियों, फूलों और छोटे वन–उत्पादनों का निर्यात प्रोन्नत हो सके। सरकार ने राज्यों के लिए कृषि निर्यात क्षेत्रों की स्थापना के लिए राशि भी निर्धारित कर दी है।

8. **कृषि–विपणन सुधार –** सरकार ने कृषि निर्यात सुधार के लिए एक अंतःमंत्रीय कार्यदल स्थापित किया ताकि कृषि विपणन को अधिक सबल और प्रतिस्पर्धी बनाने के लिए उपायों का प्रस्ताव करे। इस कार्यदल ने अपनी रिपोर्ट जून 2002 में पेश कर निम्नलिखित सुझाव दिये –
   (क) प्रत्यक्ष विपणन और अनुबंध खेती को प्रोन्नत करना।
   (ख) निजी एवं सहकारी क्षेत्रों में कृषि बाजारों का विकास करना।
   (ग) सभी कृषि बाजारों में भावी व्यापार का विस्तार करना।
   (घ) भाण्डागार रसीद प्रणाली को चालू करना।
   (ङ) किसानों को बाजार सम्बन्धी विस्तार सेवाएं उपलब्ध कराने के लिए सूचना तकनीकी का प्रयोग।

   भारत सरकार ने कृषि विपणन के लिए एक माडल कानून तैयार और प्रचारित किया है जो अन्य मदों के साथ प्रत्यक्ष खरीद केन्द्र उपभोक्ताओं को प्रत्यक्ष विक्रय के लिए बाजार कीमत–निर्धारण प्रणाली में पूर्ण पारदर्शिता, किसानों को उसी दिन भुगतान, वर्तमान बाजारों के सार्वजनिक निजी स्वामित्व के लिए व्यावसायिक प्रबन्ध और मुहैया कराएगा। 2004 में, राज्यीय सरकारों ने इस मॉडल कानून को लागू करना स्वीकर कर लिया है। (ताकि थोक एवं खुदरा व्यापारियों के रूप में बिचौलियों को समाप्त किया जा सके)
9. **भावी व्यापार –** आर्थिक सुधारों के अंग के रूप में सरकार ने गुड़, आलू, अरण्ड के बीज, काली मिर्च, हल्दी और पटसन में भावी व्यापार की अनुमति दे दी। 1997–98 में सरकार में भावी व्यापार का विस्तार कर इसमें कॉफी, रूई, अरण्ड तेल और पटसन की वस्तुओं को और बढ़ा दिया।

2003–04 में भारत सरकार ने सभी वस्तुओं में भावी व्यापार को चालू करने के लिए एक मुख्य कदम उठा कर राष्ट्रीय–स्तरीय वस्तु बाजार स्थापित किये हैं। इन बाजारों पर क्रय–विक्रय की जाने वाली मुख्य वस्तुएं हैं : गेहूँ, कपास (रूई), सोया तेल, पटसन, रबड़, काली मिर्च, हल्दी आदि। इन वस्तु बाजारों ने बहुत सी नव क्रियाएं चालू की हैं जिनसे देश में कृषि विपणन की कुशलता बढ़ेगी।

4.8 कषि विपणन में सुधार संदर्भ मॉडल ए.पी.एम.सी. एक्ट

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् व्यापक स्तर पर यह महसूस किया गया था कि कृषि क्षेत्र के बाजार कुशलतापूर्वक कार्य नहीं करते हैं। वितरण की अकुशलता, जिसमें कृषि उत्पाद की बर्बादी सम्मिलित है, इससे सम्बन्धित समस्याओं से निजात पाने के लिए विभिन्न राज्य सरकारों ने अपने अपने ए.पी.एम.सी. अधिनियम बनाए। इन कानूनों द्वारा किसानों को शोषण से बचाने के लिए कठोर प्रावधान बनाए गए। कार्यकुशलता को बढ़ा दिया गया तथा

विभिन्न मदों जैसे बुनियादी ढांचे के विकास पर विपणन शुल्क खर्च करने हेतु विधान बनाए गए।

कृषि उत्पाद विपणन समिति (एपीएमसी), 'मंडियों' में निर्णय लेने वाले शीर्ष निकाय की संरचना इस तरह से बनाई गई कि इसमें एक बड़ा बहुमत किसानों का हो और इस समिति का अध्यक्ष एक किसान हो। इसमें कोई संदेह नहीं है कि समय के साथ हमें कानूनों में संशोधन लाना पड़ता है। चाहे वे अपने मूल रूप में कितने ही अच्छे क्यों न हों। कृषि के क्षेत्र में उभरते परिवर्तन, कृषि विपणन से संबंधित कानूनों में परिवर्तनों की आवश्यक बना देते हैं।

कृषि विपणन व्यवस्था को अधिक जीवंत और प्रतिस्पर्धी बनाने के कथित उद्देश्य से, भारत सरकार ने पहले कृषि विपणन पर एक विशेषज्ञ समिति का गठन किया और बाद में 'कृषि विपणन में सुधार पर अंतर मंत्रालयी टास्क फोर्स' का गठन किया। विशेषज्ञ समिति की मुख्य सिफारिशें निम्नलिखित हैं :–

1. प्रत्यक्ष विपणन को बढ़ावा देने के लिए एक वैकल्पिक विपणन व्यवस्था।
2. कृषि क्षेत्र में ऋण प्रवाह बढ़ाना
3. भण्डारण रसीद की एक प्रणाली शुरु करना
4. 'फार्वर्ड' और 'फ्यूचर्स' कांट्रैक्ट प्रणाली विकसित करना और इससे संबंधित पहलुओं पर कार्य
5. कृषि विपणन के क्षेत्र में सूचना प्रौद्योगिकी को बढ़ावा देना

कृषि विपणन में सुधार पर अंतर मंत्रालयी टास्क फोर्स ने 9 क्षेत्रों को प्राथमिकता दी, जो निम्नानुसार हैं :–

(1) कानूनी सुधार
(2) प्रत्यक्ष विपणन
(3) बाजार का आधारभूत ढ़ांचा
(4) वित्तपोषण
(5) भंडारण रसीद प्रणाली
(6) फार्वर्ड और फ्यूचर्स बाजार
(7) समर्थन मूल्य नीति
(8) कृषि विपणन में सूचना प्रौद्योगिकी
(9) विपणन विस्तार, प्रशिक्षण और अनुसंधान

इस टास्क फोर्स ने कई सिफारिशें की। सबसे महत्वपूर्ण सिफारिशों में शामिल है राज्य एपीएमसी अधिनियम और अनुबंध, खेती में संशोधन।

4.9 अभ्यास प्रश्न

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. भारत में कृषि वितरण को उन्नत करने के लिए सरकार ने कौन–कौन से प्रयास किए हैं?
2. सहकारी वितरण पर टिप्पणी लिखिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. निम्न में से कौन सा कारण भारत में बुरी कृषि विपरण का कारण है –

(a) किसानों की निर्धनता
(b) ऋणग्रस्तता

(c) मण्डियों की ऋणात्मक परिस्थितियाँ
(d) उपर्युक्त सभी

4.10 सारांश

अन्त में यही कहा जा सकता है कि किसानों को विशेष बाजारों की उपलब्धता ने कृषि वितरण की नकारात्मक परिस्थितियों को सकारात्मक रूप देने का प्रयास किया है, परन्तु इस दिशा में केन्द्र के साथ–साथ राज्य सरकारों को भी अहम भूमिका निभानी होगी।

4.11 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

बहुविकल्पीय उत्तर

1– d

4.12 संदर्भ ग्रन्थ सूची

- Datt and Sundram, R., (2009), India Economy, 61st Edition, Suttam Chand & Sons.
- Prakash, B.A., (2009), The Indian Economy Since 1991 – Economic Reforms & Performances, Ist edition, Pearson Education.
- Rudra, Ashok, (1975), Indian Plan Models, Ist edition, Allied Publishers, Bombey.
- Mishra, S. K., and Puri, V. K., (2007), Problems of Indian Economy, Mimalaya Publishing House.
- Govt. of India, Planning Commission, Tenth Five Year Plan, Vol-I
- Shah and Vakil (Ed) : Agricultural Development of India, Policy and Problems.
- Desai, A.R., (1983) Rural Sociology in India, Popular Prakashan, Bombay.
- Bansil, P. C. (1981), Agricultural Problems of India, Oxford and IBH Publishing Company.
- J. W. Mellow; Economics of Agriculatural Development

4.13 निबन्धात्मक प्रश्न

1. कृषि विपणन में सुधार हेतु भारत सरकार द्वारा बनाए गये 'संदर्भ मॉडल' (एपीएमसी एक्ट) की विवेचनात्मक समीक्षा कीजिए?
2. भारत में कृषि विपणन प्रणाली के कौन–कौन से गुण एवं दोष हैं? पूर्ण व्याख्या कीजिए।

इकाई 5 – कृषि मूल्य नीति, खाद्य सहायता और सार्वजनिक वितरण प्रणाली (AGRICULTURAL PRICE POLICY, FOOD SUBSIDY AND PUBLIC DISTRIBUTION SYSTEM)

5.1 प्रस्तावना
5.2 उद्देश्य
5.3 कृषि मूल्य नीति
  5.3.1 कृषि कीमतों की प्रवृतियाँ
  5.3.2 कीमत वृद्धि के कारण
  5.3.3 माँग तत्व से सम्बद्ध तत्व
  5.3.4 पूर्ति तत्व से सम्बद्ध तत्व
  5.3.5 कृषि मूल्य नीति की आवश्यकता
  5.3.6 कृषि कीमत नीति का मूल्यांकन
5.4 खाद्य सहायता
5.5 सार्वजनिक वितरण प्रणाली
  5.5.1 सार्वजनिक वितरण विक्रम में विभिन्न सापेक्ष भाग
  5.5.2 सार्वजनिक वितरण प्रणाली का सम्भरण और निकास
  5.5.3 सार्वजनिक वितरण प्रणाली द्वारा गरीबों को आय हस्तांतरण
  5.5.4 सार्वजनिक वितरण प्रणाली में सुधार नीति
  5.5.5 सार्वजनिक वितरण प्रणाली द्वारा कुल आवंटन एवं कुल निकास
  5.5.6 सार्वजनिक वितरण प्रणाली और गरीबी रेखा के नीचे वाली जनसंख्या
  5.5.7 लक्षित सार्वजनिक वितरण प्रणाली
5.6 अभ्यास प्रश्न
5.7 सारांश
5.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
5.9 संदर्भ ग्रन्थ सूची
5.10 निबन्धात्मक प्रश्न

5.1 प्रस्तावना

पिछले अध्यायों के अध्ययन के उपरांत आप इस तथ्य को जान चुके होंगे कि भारत में योजना काल के दौरान विभिन्न आर्थिक क्षेत्रों की तीव्र प्रगति के बाद, अभी भी अर्थव्यवस्था का मूल चरित्र कृषि प्रधान ही है।

इस अध्याय में आप योजना काल के दौरान कृषि कीमतों में आए उच्चावचों को जान पायेंगे और इसके कारणों की भी जानकारी आपको प्राप्त होगी। उसके उपरांत आप इस इकाई में कृषकों और गरीबों को प्रदान की जाने वाली खाद्य सहायता नीति की पूर्ण जानकारी प्राप्त करेंगे तथा सार्वजनिक वितरण प्रणाली से जुड़े विभिन्न पहलुओं का मूल्यांकन भी कर सकेंगे।

5.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्यनोपरांत आप

- ✓ योजना काल के दौरान कृषि कीमतों की प्रवृत्तियों का विश्लेषण कर पायेंगे।
- ✓ भारत में लगातार बढ़ती खाद्य कीमतों के कारणों की जानकारी प्राप्त करेंगे।
- ✓ भारतीय कृषि मूल्य नीति की विवेचना कर पायेंगे।
- ✓ भारत में गरीबों और किसानों को प्रदान की जाने वाली खाद्य सहायता की विस्तृत जानकारी प्राप्त कर पायेंगे।
- ✓ सार्वजनिक वितरण प्रणाली क्या है, यह कैसे कार्य करती है और भारत में लक्षित सार्वजनिक वितरण प्रणाली आलोचनात्मक मूल्यांकन करने में सक्षम हो जायेंगे।

5.3 कृषि मूल्य नीति

5.3.1 कृषि कीमतों की प्रवृत्तियां

योजना काल में कृषि कीमतें सतत् रूप से बढ़ती रही है। इसका अपवाद केवल पहली पंचवर्षीय योजना है जब कि कीमतों में वस्तुतः गिरावट हुई। अभी तक हमारे पास थोक कीमतों की छः काल श्रेणियां (time series) हैं – पहली का आधार 1952–53 = 100, दूसरी का आधार 1961–62 = 100, तीसरी का आधार 1993–94 = 100 तथा छटी का आधार 2004–05 = 100 है। इन श्रेणियों के अध्ययन से निम्नलिखित निष्कर्ष प्राप्त होते हैं :–

1. कृषि कीमतों की प्रवृत्ति लगातार बढ़ने की है। 1952–53 को आधार मानकर कृषि कीमतों का सूचकांक 1950–51 मे 110 से बढ़कर 1960–61 में 123.8 हो गया परन्तु पहली योजना में इसमें गिरावट हुई और यह 1951–52 में 110 से कम होकर 1955–56 में 88 हो गया, परन्तु दूसरी योजना के शुरु होते की कृषि कीमतें फिर बढ़ने लगी और तब से लगातार बढ़ रही है (केवल 1961–62 को छोड़कर)। 1970–71 में कृषि कीमतें, 1961–62 की तुलना में दोगुनी तथा 1981–82 में 1970–71 की अपेक्षा दो गुणा से भी अधिक थीं। 1993–94 में कृषि कीमतें, 1982–83 की तुलना में ढाई गुणा अधिक थी। 1993–94 में 100 मानकर 2006–07 में कृषि कीमतों का सूचकांक 204.1 था अर्थात् इस अवधि में कृषि कीमतों में लगभग 104 प्रतिशत की वृद्धि हुई।

2. सभी श्रेणियों की समबंधन (splicing) करके पूरा योजनावधि के लिए कृषि कीमतों में वृद्धि का अनुमान लगाया जा सकता है। समबंधन से प्राप्त सूचकांक जो 1950–51 में 100 था 2006–07 में बढ़कर 2,774 हो गया अर्थात् पूरी योजनावधि में कृषि कीमतों में लगभग 28 गुणा वृद्धि हुई।
3. केवल पांच वर्षों 1961–62, 1968–69, 1975–76, 1978–79 तथा 1985–86 को छोड़कर अन्य सभी वर्षों में कृषि कीमतें अपने पहले के वर्ष की तुलना में अधिक रही है। (विचाराधीन अवधि 1955–56 से 2006–07) केवल पांच वर्ष ही ऐसे हैं जबकि प्रतिशत वृद्धि ऋणात्मक है। इस प्रकार 51 वर्षों में से 46 वर्ष ऐसे हैं, जब कीमतें लगातार बढ़ी है। चार वर्ष 1964–65, 1973–74, 1974–75 तथा 1991–92 ऐसे थे जब कृषि कीमतें अपने पहले के वर्ष की तुलना में लगभग 20 प्रतिशत या उससे अधिक बढ़ी थी।

   इन तथ्यों से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि आयोजन काल में कृषि वस्तुओं की कीमतों में अत्यधिक वृद्धि हुई है। इसके कई बुरे परिणाम हुये हैं क्योंकि थोक कीमतों के सूचकांक में कृषि वस्तुओं का भार काफी अधिक है। (1952–53 के आधार वाली श्रेणी में यह भार 46.1 तथा बाद वाली श्रेणियों में क्रमशः 33.2, 40.4 तथा 27.5 था) इसलिए कृषि कीमतों में वृद्धि की प्रवृत्ति के कारण देश मे स्फीतिकारी शक्तियां और मजबूत हुई हैं और सब वस्तुओं का थोक कीमत सूचकांक बढ़ा है। बढ़ती हुई कीमतों का सबसे बुरा प्रभाव जनसंख्या के निम्न आय वर्गों पर पड़ा है जिनकी क्रय शक्ति में तेज गिरावट आने से जीवन निर्वाह मुश्किल हो गया है।
4. अधिकतम कृषि वस्तुओं की कीमतों में वृद्धि हुई है, जिससे कृषि कीमतों का सूचकांक बढ़ा है। इसके अतिरिक्त विभिन्न कृषि वस्तुओं की कीमतों में साल–दर–साल तेज उतार–चढ़ाव हुए हैं जिससे अनिश्चितता और अस्थिरता में वृद्धि हुई है तथा जमाखोरी की प्रवृत्तियों को बल मिला है।

5.2.2 कीमत वृद्धि के कारण

अब प्रश्न यह उठता है कि किन कारणों से लगातार कीमतों में वृद्धि दृष्टिगोचर हो रही है। इस कीमत वृद्धि के लिए प्रमुख रूप से जनसंख्या वृद्धि, नगरीकरण की तीव्र प्रवृत्ति, उपभोक्ताओं की रुचि में परिवर्तन, आय स्तर में वृद्धि, उत्पादन में कतिपय वर्षों में कमी, अनुचित संग्रह आदि तत्व उत्तरदायी रहे हैं। कीमत वृद्धि के लिए उत्तरदायी इन कारणों को मुख्य रूप से हम निम्न वर्गों में विभक्त कर सकते हैं।

5.3.3 मांग पक्ष से सम्बद्ध तत्व

जनसंख्या बढ़ने से खाद्यान्नों और अन्य कृषि उत्पादनों की माँग बढ़ी है। इसके अतिरिक्त आय वृद्धि के कारण उपभोक्ताओं द्वारा श्रेयस्कर कृषि उत्पादनों की मांग में तेजी आयी है। इससे भी कृषि वस्तुओं की मांग पर अधिक तीव्र प्रभाव पड़ा है। औद्योगिक क्षेत्र में कृषि उत्पादनों का अधिक प्रयोग होने लगा है। कई नवीन औद्योगिक इकाईयां कृषि उत्पादन से तत्काल उपयोग योग्य वस्तुएँ बनाने लगी हैं।

5.3.4 पूर्ति पक्ष से सम्बद्ध तत्व

कृषि उत्पादन–स्तर का उच्चावचन पूर्ति पक्ष की ओर से कीमत बढ़ाने वाला सबसे

प्रमुख उत्तरदायी तत्व है। प्रतिकूल मौसम की अवस्था में कृषि वस्तुओं की कीमतें इस कारण बढ़ जाती है, क्योंकि कृषि उत्पादन घट जाता है। यदि हाल के वर्षों के आँकड़ें देखे जाये तो भी इस प्रवृत्ति का आकलन किया जा सकता है। जैसे दलहन की फसलों में जादुई किस्म के बीजों की सफलता न होने के कारण दालों का उत्पादन या तो स्थिर बना रहता है या उसमें कमी आ जाती है। जबकि उपभोक्ताओं द्वारा की जाने वाली मांग लगातार बढ़ी है। इनसे कृषि वस्तुओं की कीमतों में वृद्धि की प्रवृत्ति बनी रही है।

5.3.5 कृषि कीमत नीति की आवश्यकता

कृषि कीमतों में तेज वृद्धि और अधिक उतार–चढ़ाव के कई बुरे प्रभाव पड़ते हैं। उदाहरण के लिए किसी भी फसल की कीमत में तेज गिरावट आने से उसके उत्पादकों पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है। उनकी आय में तेजी से कमी आयी है और अगले वर्ष वे उसी फसल को दुबारा बोने से हिचकिचाते हैं। यदि फसल आम जनता के उपभोग की वस्तु है तो अगले वर्ष पूर्ति मांग की अपेक्षा कम रहने की सम्भावना रहेगी और इस अन्तराल (GAP) को पूरा करने के लिए सरकार को आयात करने पड़ेगे (यदि उसके पास उस कृषि वस्तु के उपयुक्त मात्रा में भंडार नहीं हैं)। इसके विपरीत यदि किसी फसल की कीमते किसी वर्ष बहुत बढ़ जाती है तो उपभोक्ताओं पर बुरा प्रभाव पड़ेगा। यदि यह वस्तु उपभोग की आवश्यक वस्तु है तो उपभोक्ता को उसे खरीदने के लिए अन्य वस्तुओं पर खर्च कम करना पड़ेगा। इसका अर्थव्यवस्था के अन्य क्षेत्रों के विकास पर बुरा प्रभाव पड़ सकता है।

इस बात को ध्यान में रखते हुए एक ऐसी कृषि कीमत नीति बनाने की आवश्यकता है जो उत्पादकों और उपभोक्ताओं दोनों के ही हितों की रक्षा कर सके। अतिरिक्त उत्पादन (surplus production) वाले वर्षों में सरकार को चाहिए कि वह उचित दामों पर किसानों से उत्पादन खरीद ले ताकि उन्हें हानि न हो। ये दाम ऐसे होने चाहिए कि किसानों की उत्पादन–लागत को पूरा करने के बाद कुछ न्यूनतम मुनाफा भी दें। इस प्रकार सरकार के पास जो प्रतिरोधक भंडार (buffer stock) इकट्ठा होंगे उनका इस्तेमाल वह उन वर्षों में मांग को पूरा करने के लिए कर सकती है जब उत्पादन में कमी हो। इससे न केवल आयातों पर निर्भर नहीं रहना पड़ेगा अपितु कीमत–स्तर को भी उचित स्तर पर बनाया रखा जा सकेगा जिससे उपभोक्ताओं की कठिनाई नहीं होगी। इस प्रकार सरकार की कृषि कीमत नीति के दो मुख्य उद्देश्य होने चाहिए – कीमतों को बहुत ज्यादा न बढ़ने देना और कीमतों को एक न्यूनतम स्तर से नीचे न गिरने देना। स्वाभाविक है कि यह तभी हो पायेगा जब सरकार बफर भंडारों का निर्माण करे। इसके लिए उपयुक्त भंडार क्षमता बनाने की जरूरत है। इसके अलावा बड़े पैमाने पर सार्वजनिक वितरण प्रणाली का विकास भी आवश्यक है ताकि उपभोक्ताओं को उचित दाम पर खाद्यान्न व अन्य कृषि वस्तुएं उपलब्ध कराई जा सकें। न्यूनतम समर्थन कीमतों (minimum support prices) तथा वसूली कीमतों (procurement prices) का निर्धारण करते समय सरकार को इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि उत्पादकों को 'उत्पादन करने की प्रेरणा' बनी रहे, अर्थात् कीमतें ऐसे स्तर पर निर्धारित की जाएं जो किसानों को और ज्यादा उत्पादन करने के लिए प्रेरित कर सकें। विकासशील देशों के सन्दर्भ में यह बात बहुत महत्त्वपूर्ण है यहां कृषि क्षेत्र का उद्देश्य केवल 'कीमत व आय स्थिरीकरण' (price and income stabilization) नहीं है अपितु उसका प्रयोग 'संवृद्धि के एक अस्त्र' (instrument of growth) के रूप में करना है। इसलिए विकासशील अर्थव्यवस्था में कृषि कीमत नीति के मुख्य उद्देश्य निम्न होना चाहिए :

(1) किसानों को एक निश्चित न्यूनतम समर्थन कीमत की गारण्टी देना ताकि उनके हितों की रक्षा हो सके, उत्पादन में जोखिम न रहे और वे लोग उत्पादन को और ज्यादा बढ़ाने के लिए निवेश करने को तत्पर रहें;
(2) योजनाओं में निर्धारित लक्ष्यों के अनुरूप विभिन्न फसलों के उत्पादन को निर्देशित किया जा सके;
(3) अधिक लागतों के प्रयोग द्वारा तथा उन्नत किस्म के बीजों, उर्वरकों व अन्य आगतों का प्रयोग करने वाली नई कृषि तकनीक के और प्रसार द्वारा कुल उत्पादन में वृद्धि लाई जा सके;
(4) किसानों को इस बात के लिए प्रेरित किया जा सके कि वे खाद्यान्नों का बढ़ता हुआ हिस्सा बाजार में बेचने के लिए तैयार हो तथा
(5) अत्यधिक कीमत वृद्धि से उपभोक्ताओं की रक्षा करना, विशेष रूप से निम्म आय वर्ग के उपभोक्ताओं की उन वर्षों में जब आपूर्ति मांग से काफी कम हो और बाजार कीमतों में लगातार वृद्धि हो रही हो।

5.3.6 कृषि कीमतों का मूल्यांकन

उपरोक्त विश्लेषण के उपरांत आप समझ चुके होंगे कि भारत में योजना काल में कृषि कीमत नीति का मुख्य उद्देश्य कीमत उत्पादनों की कीमतों में अनुचित उतार–चढ़ाव को रोकना, उपभोक्ताओं विशेषकर कमजोर वर्ग के लोगों के हितों की रक्षा करना तथा उत्पादकों को उत्पादन बढ़ाने तथा नवीन कृषि प्रविधि अपनाने के लिए प्रोत्साहित करना रहा है।

कृषि मूल्य आयोग कृषि लागतों के प्रत्येक संघटकों पर विचार करने के पश्चात कीमतें निश्चित करता है। लागतों का निश्चय करने के लिए लागत 'सी' की संकल्पना का प्रयोग किया गया है. लागत 'सी' की संकल्पना में बीज, उर्वरक, खाद, कीटनाशक, सिंचाई, विद्युत, डीजल, बैलों के रख–रखाव आदि का व्यय, किराए के श्रम के साथ–साथ प्रचलित मजदूरी दर पर आकलित पारिवारिक श्रम लागत, परिसम्पत्तियों के लिए उपयुक्त ब्याज, स्वयं की एवं पट्टे पर ली गयी भूमियों पर लगान, भूमिकर और अधिभार, मशीनरी और अन्य परिसम्पत्तियों का घिसावट व्यय सम्मिलित किया जाता है। अब कृषि आयोग उत्पादन की मंडी तक ले जाने के लिए यातायात लागतों को भी सम्मिलित करता है।

अब तक के अध्ययन के उपरांत निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि उपर्युक्त वर्णित तत्वों को ध्यान में रखकर घोषित कीमत के प्रति यह कहना संदेहास्पद हो जाता है कि इससे लागतें नहीं वसूल हो पाती हैं। भारत में कृषि क्षेत्र को जहां घोषित समर्थित कीमतों से समस्त कृषि लागतों का वापस किया जाना सुनिश्चित किया जाता हो और साथ–साथ अनुदानित दरों पर कृषि निवेश की उपलब्ध कराए जाते हों। परन्तु आज भी कृषि मूल्य आयोग द्वारा संस्तुत और सरकार द्वारा घोषित कृषि कीमतों की लाभदायता भी विवाद का विषय बना हुआ है। सामान्यतः यह कहा जाता है कि कृषि मूल्य आयोग द्वारा संस्तुत कीमतें कम रही हैं और वे उचित तथा लाभपूर्ण नहीं है। घोषित कीमतों से कृषि लागतें भी नहीं निकल पाती हैं। इस तर्क का प्रयोग सामान्यतः राजनीतिक अस्त्र के रूप में किया जाता है। इसी तर्क के आधार पर आंदोलन को बल दिया जाता है परन्तु कृषि कीमतों की प्रवृत्ति और उसकी निर्धारण संरचना इसके गैर–लाभदायता के पक्ष को नकार देती हैं।

5.4 खाद्य सहायता

नियोजन काल में यद्यपि खाद्यान्न उत्पादन मे लगातार वृद्धि की प्रवृत्ति रही है, परन्तु इसमें उतार–चढ़ाव होते रहे हैं। नियोजन काल मे खाद्यान्न उत्पादन में वृद्धि की प्रवृत्ति के बाद भी देश को खाद्यान्न संकट का सामना करना पड़ा और कभी–कभी तो स्थिति अत्यन्त गम्भीर हो गयी। नियोजन काल की अवधि में अनुभव की गयी और सम्प्रति विद्यमान खाद्य समस्या का विश्लेषण मात्रात्मक और गुणात्मक आधार पर किया जा सकता है। खाद्य समस्या का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण पक्ष व्यापक जन समुदाय की गरीबी से सम्बद्ध है।

खाद्यान्नों की मात्रात्मक कमी का भी दबाव अर्थव्यवस्था पर लगातार बना है। पूर्ति पर मांग का आधिक्य बने रहने के कारण आयातों पर निर्भर रहना पड़ता है और लोगों को न्यूनतम आवश्यक कैलोरी के लिए खाद्यान्न नहीं उपलब्ध हो पाते। खाद्य और कृषि संगठन (F.A.O.) के अनुमान के अनुसार खाद्यान्नों की दैनिक उपलब्धि इस स्तर से कम रही है। यद्यपि इसमें अब सुधार आया है परन्तु इस स्तर को बनाये रखने के लिए और खाद्यान्नों की कमी को पूरा करने के लिए नियोजन काल में कतिपय वर्षों को छोड़कर खाद्यान्नों का आयात करना पड़ा है। यद्यपि आयातों की मात्रा में उतार–चढ़ाव होते रहते हैं, परन्तु कभी–कभी आयातों पर निर्भरता अधिक रही। सन् 1959 और 1960 में क्रमशः 39 मिलियन टन और 5.1 मिलियन टन खाद्यान्नों का आयात किया गया, 1965–66 और 1966–67 भारत के लिए अत्यधिक संकट के सहे इस समय 10.3 मिलियन टन और 8.7 मिलियन टन आयात करना पड़ा और 1990–94 में 1238 मिलियन यू.एस. डालर के बराबर अनाज आयात करने पड़े हैं।

खाद्य समस्या के समाधान हेतु सरकार ने विभिन्न प्रयास किए जिसमें खाद्य सहायता या खाद्य सहायिका प्रमुख है। किसानों को दी जाने वाली खाद्य सहायिका की राशि में लगातार वृद्धि हुई है। खाद्य सहायिका कुल राशि 1990–91 में 2450 करोड़ रूपये थी जो क्रमशः 1904–05 में 27,746 करोड़ रुपये हो गयी। भारत सरकार वित्त मंत्रालय के अनुसार 1990–91 की अपेक्षा 2003–04 में दी जाने वाली खाद्य सहायिका में 10.5 गुणा वृद्धि हुयी है। खाद्य सब्सिडी से मुख्य रूप से गरीब तबके के उपभोक्ताओं और किसानों को अपने उत्पादन स्तर को एक न्यूनतम खाद्य स्तर में बनाए रखने में सहायता मिलती है।

खाद्य सहायता में लगातार हो रही वृद्धि के मुख्य रूप से दो प्रमुख कारण हैं – प्रथम विभिन्न कृषि उत्पादों की न्यूनतम समर्थित कीमत में लगातार वृद्धि हुई है। द्वितीय इसके साथ परिवहन, भंडारण, रख–रखाव आदि की लागते बढ़ने से अनाजों की आर्थिक लागतें बढ़ती गयी हैं। इसी के साथ–साथ गरीबों को सस्ते दामों पर खाद्यान्नों की उपलब्ध कराने वाली सार्वजनिक वितरण प्रणाली निर्गत कीमतों में वृद्धि नहीं हुई। इसलिए सहायता राशि बढ़ती गई।

न्यूनतम समर्थित कीमतें बढ़ने से, घरेलू कीमतें भी प्रभावित हुई और भारतीय कृषि उत्पादों की विश्व बाजार में प्रतिस्पर्धात्मकता में कमी आयी। प्रोत्साहन के कारण न्यूनतम समर्थित कीमत पर खुली बिक्री के कारण, खाद्यान्न स्टाक में क्रमशः वृद्धि होती गयी और खाद्यान्नों का बफर स्टाक 2002–03 में बढ़कर 60 मिलियन टन हो गया।

खाद्य साख के अन्तर्गत भारतीय खाद्य निगम, राज्य सरकारों और राज्य सहकारी संगठनों को बैंकों द्वारा दिये गये ऋण से है। खाद्य ऋण बैंकों द्वारा प्रदत्त कुल ऋण का लगभग 5.6 प्रतिशत होता है। खाद्य वसूली बढ़ने पर खाद्यान्न स्टाक बढ़ता है और साथ–साथ बकाया खाद्य ऋण में भी वृद्धि होती है। परन्तु उपभोग में वृद्धि होने पर एक

और खाद्यान्न स्टाक में कमी आती है और दूसरी ओर बकाया खाद्य ऋण में भी कमी आती है। हाल के वर्षों में खाद्य भंडार और बकाया खाद्य ऋण में भारी वृद्धि हुयी थी। खाद्य भंडार जून 2002 में 64.8 मिलियन टन तक पहुंच गया था। इसके पश्चात् भंडार से भारी निकासी होने का कारण खाद्यान्न भंडार और खाद्य ऋण में कमी आयी है। खाद्य भंडार अगस्त 2003 में न्यूनतम मानक से नीचे आ गया था। अब उत्पादन में वृद्धि की आवश्यकता लगातार बढ़ती जा रही है।

निम्न तालिका द्वारा आप खाद्य–सहायता पर केन्द्र सरकार के कुल व्यय को भली–भाँति समझ सकेंगे –

खाद्य–सहायता पर केन्द्र सरकार का व्यय

तालिका–5.4

वर्ष	**व्यय (करोड़ रुपये चालू कीमतों पर)**
1980–81	650
1990–91	2,450
2000–01	12,120
2005–06	27,798
2006–07	31,260
2007–08	43,668
2009–10	46,907

स्रोत – योजना आयोग, दसवी पंचवर्षीय योजना भाग–2, आर्थिक समीक्षा 2009–10

खाद्य–सहायता (Food subsidy) पर खर्च, तालिका में दिया गया है। ध्यान देने योग्य बात यह है कि सार्वजनिक वितरण प्रणाली सम्बन्धी व्यय में लगातार वृद्धि हुई है और यह 1980–81 में 650 करोड़ रुपये से बढ़कर 1990–91 में 2,450 करोड़ रुपये हो गया। केन्द्र सरकार के कुल व्यय के अनुपात में यह 1980–81 के दौरान 2.9 प्रतिशत हो गया परन्तु सरकार ने जनता के दबाव के कारण इसे एक कीमत–स्थिरीकरण उपकरण के रूप में कल्याणकारी प्रोग्राम का हिस्सा बना लिया। 1997–98 के पश्चात् सार्वजनिक वितरण प्रणाली पर व्यय में तीव्र वृद्धि हुई और यह बढ़कर 2000–01 में 12,125 करोड़ रुपये हो गया और फिर 2003–04 में 25,800 करोड़ रुपये के रिकार्ड स्तर पर पहुँच गया लेकिन तदुपरांत वर्ष 2006–07 में यह घटकर 24,014 करोड़ रुपये ही रह गया। वर्ष 2009–10 में यह 46,907 करोड़ रुपये था।

अतः उपर्युक्त विवेचना से आप समझ चुके होंगे कि सार्वजनिक वितरण प्रणाली के माध्यम से सरकार खाद्य सहायता को बल दे रही है परन्तु इससे सार्वजनिक व्यय का बोझ बढ़ता जा रहा है।

5.5 सार्वजनिक वितरण प्रणाली

सार्वजनिक वितरण प्रणाली का आशय सार्वजनिक रूप में उपभोक्ता के निर्धारित कीमतो पर उचित मात्रा में विभिन्न उपभोक्ता वस्तुये वितरित करने से है। इसके अन्तर्गत उपभोक्ताओं को वस्तुएँ इस प्रकार वितरित की जाती हैं जिससे कि उपभोक्ताओं को खाद्य सहायता प्रदान की जा सके। यह प्रणाली हमारे देश में काफी दिनों से प्रचलित है। इससे मुख्यतः दो लाभ प्राप्त होते हैं :

(1) इससे मूल्यों को नीचे स्तर पर बनाये रखने में सहायता मिलती है अर्थात् मूल्य वृद्दि से बचाना।

(2) यह प्रणाली समाज के कमजोर वर्गों (विशेषकर निम्न आय वाले) के लोगों को कम मूल्य पर आवश्यक वस्तुएं उपलब्ध कराती है।

इस प्रकार सार्वजनिक वितरण प्रणाली के मुख्य रूप से दो पहलू हैं प्रथम, केन्द्र सरकार का यह दायित्य होता है कि वह कमी वाले राज्यों की आवश्यकताओं को पूरा करे। इसके लिए अतिरेक वाले राज्यों से खाद्यान्न व अन्य आवश्यक न्यूनता वाले राज्यों में भेजा जा सकता है अथवा केन्द्र सरकार अपने ही भण्डारों, जो पूर्व वर्षों में समाहरण अथवा आयातों द्वारा बनाया गया है, से कमी वाले राज्यों व अंचलों की खाद्य पूर्ति कर सकता है। अतः सार्वजनिक वितरण प्रणाली का एक महत्वपूर्ण पक्ष राशनिंग अथवा उचित मूल्य की दुकान प्रणाली द्वारा कमजोर वर्ग और न्यूनता वाले क्षेत्रों की आवश्यकताओं को पूरा किया जाना है।

1980–81 के दशक के मध्य में सार्वजनिक वितरण प्रणाली (Public Distribution System) का विस्तार कुछ राज्यों मे ग्रामीण क्षेत्रों में किया गया। इस प्रकार इसे कल्याणकारी कार्यक्रम का दर्जा दिया गया। 1985 में प्रयास किया गया कि सभी जनजाति ब्लाकों में जिनकी जनसंख्या लगभग 5.7 करोड़ है, सस्ती दर पर खाद्यान्न उपलब्ध कराए जायें। देश में आज 4.62 लाख उचित मूल्य की दुकान का नेटवर्क बन गया है जो 30,000 करोड़ रुपये की वस्तुएँ प्रति वर्ष वितरित करती है। अतः भारतीय सार्वजनिक वितरण प्रणाली सम्भवतः विश्व मे सबसे बड़ा वितरण नेटवर्क (Distribution network) है। कई रोजगार जनन कार्यक्रमों (Employment generation) में मजदूरी के अंग रूप में सहायतित खाद्यान्न वितरित किये गये।

इस समय सार्वजनिक वितरण प्रणाली मे सात वस्तुएँ – गेहूँ, चावल, चीनी, आयातित खाद्य तेल, घरेलू उपयोग में प्रयोग होने वाला कोयला, मिट्टी का तेल और नियंत्रित कीमत पर बिकने वाला वस्त्र सम्मिलित है। सार्वजनिक वितरण प्रणाली का क्रियान्वयन संयुक्त रूप से केन्द्र सरकार और राज्य सरकारों द्वारा किया जाता है। केन्द्र सरकार का दायित्व खाद्यान्नों की वसूली, संग्रह, परिवहन और भारी आवंटन करना है। केन्द्रीय सरकार विभिन्न वस्तुओं का विक्रय मूल्य निर्धारित करती है, परन्तु राज्य सरकारों को केन्द्रीय विक्रय मूल्य में अन्य आकस्मिक खर्चे जैसे परिवहन व्यय आदि सम्मिलित करने का अधिकार है। इसी के साथ उचित मूल्य की दुकानों के कार्यों पर नियंत्रण रखने के लिए राज्यों में जिला, ब्लाक और ग्राम स्तर पर सलाहकार समितियों का गठन किया गया है। राज्य सरकारें उक्त सात वस्तुओं के अतिरिक्त अन्य वस्तुएँ भी सार्वजनिक वितरण प्रणाली में सम्मिलित कर सकती हैं जिनकी वे सरकारी खरीद कर सकती हैं। इससे उपभोक्ताओं को प्रयोग की अन्य वस्तुये भी सुगमतापूर्वक प्राप्त हो सकेंगी और उचित मूल्य की दुकानों में आर्थिक निर्भरता आ सकेगी। कुछ राज्यों या पश्चिम बंगाल, उड़ीसा, तमिलनाडु और हिमाचल प्रदेश में उचित मूल्य की दुकानों द्वारा दालें, माचिस, साबुन, साईकिल टायर और ट्यूब, कापियाँ, टार्च के सेल आदि भी उपभोक्ताओं को उपलब्ध कराने लगी है।

5.5.1 सार्वजनिक वितरण विक्रय मे विभिन्न मदों का सापेक्ष भाग :

चावल, गेंहूँ, चीनी, खाद्य तेल, सॉफ्ट–कोक, और मिट्टी का तेल सार्वजनिक वितरण प्रणाली की दुकानों पर बेचे जाते हैं, किन्तु इनमें से चार मदों अर्थात् चावल, गेंहूँ, चीनी और मिट्टी का तेल कुल विक्रय में भाग 86 प्रतिशत है। केवल चीनी का भाग 35 प्रतिशत, चावल का 27 प्रतिशत, गेंहूँ का 15 प्रतिशत और मिट्टी के तेल का 15 प्रतिशत है। मोटे

अनाज (बाजरा, ज्वार, और अन्य अनाज) जिनका उपभोग गरीब वर्ग द्वारा किया जाता है का कुल विक्रय में 1 प्रतिशत से भी कम है। दालें जो गरीबों के लिए प्रोटीन का मुख्य स्रोत हैं का भाग 0.2 प्रतिशत से भी कम है।

5.5.2 सार्वजनिक वितरण प्रणाली का सम्भरण और निकास (Supply and offtake)

महँगाई के बढ़ने, उत्पादन के कम और आयातों की मात्रा बढ़ने के कारण सार्वजनिक वितरण प्रणाली द्वारा वितरित की जाने वाली खाद्य कीमतों में भी वृद्धि करनी पड़ी परन्तु सार्वजनिक वितरण प्रणाली में जारी कीमत (Issue price) को बढ़ाने के परिणामस्वरूप इससे अनाज निकासी (offtake) पर दुष्प्रभाव पड़ा क्योंकि सरकारी जारी कीमत (Issue price) और खुले बाजार की कीमत मे अन्तर कम हो गया। अतः सभी राज्यों में निकासी केन्द्रीय आवण्टन से कम रही। **विश्व बैंक की रिपोर्ट** में उल्लेख किया गया है – *''बिहार, उड़ीसा और मध्य प्रदेश जैसे गरीब राज्यों में केन्द्रीय आवंटन (Central allocation) की तुलना में क्रय में महत्वपूर्ण अन्तर का कारण कुछ हद तक केन्द्रीय जारी कीमत (Issue price) और बाजार कीमत में थोड़ा ही अन्तर था और कुछ हद तक इन राज्यों की कमजोर राजकोषीय सामर्थ्य (Fiscal capacity) भी इसके द्वारा वे जारी कीमतों को कम करके इसके लिए अतिरिक्त इन राज्यों ने प्रभावी संस्थानात्मक प्रक्रिया तैयार नहीं की जिसके माध्यम से वे भारतीय खाद्य निगम से उचित कीमत की दुकानों तक माल पहुँचा सकें।''* यह बड़ी विडम्बना है कि जिन राज्यों में गरीबों का अनुपात अधिक है उन्हीं राज्यों में भारतीय खाद्य निगम से क्रय सबसे नीचा है।

5.5.3 सार्वजनिक वितरण प्रणाली द्वारा गरीबों को आय हस्तांतरण

सार्वजनिक वितरण प्रणाली द्वारा सस्ते दर पर खाद्यान्न उपलब्ध कराकर आय–हस्तांतरण (Income Transfer) करना है। आय हस्तांतरण की मात्रा सार्वजनिक वितरण प्रणाली से किये गये क्रय को जारी कीमत और बाजार कीमत के अन्तर से गुना करके प्राप्त की जा सकती है। इस विधि के आधार पर यह निष्कर्ष निकला कि सार्वजनिक वितरण प्रणाली द्वारा दिये गये सभी सहायता से ग्राम क्षेत्रों से आय–हस्तांतरण रु. 2.30 प्रतिमास था जो कि 1986–87 में प्रतिव्यक्ति गैर–सरकारी उपभोग व्यय का 1.6 प्रतिशत था और शहरी क्षेत्रों में 3.68 रुपये। सार्वजनिक वितरण प्रणाली का सर्वोच्च लक्ष्य गरीबों की मदद करना है इसके लिए गरीबों की पहचान बुनियादी समस्या है और इसके लिए ऐसी रणनीति तैयार की जानी चाहिए जो राज्य–अर्थशास्त्र (Political Economy) गुह्यार्थी की उपेक्षा किए बिना, सार्वजनिक वितरण प्रणाली के लाभों को गैर–निर्धनों तक पहुंचने की क्रिया के प्रभाव को न्यूनतम बना सके। इसके लिए सार्वजनिक वितरण प्रणाली में सुधार के लक्ष्य की प्राप्ति के लिए निम्नलिखित सुझाव दिए गए हैं :

1. गरीबों की पहचान के कार्य को नौकरशाही की अपेक्षा पंचायती राज संस्थाओं को सौंप देना चाहिए। इस प्रश्न पर अर्थशास्त्रियों और समाज सेवकों में एकमत प्राप्त हो चुका है।
2. विस्तृत उपभोक्ता सर्वेक्षणों द्वारा ऐसी वस्तुओं की पहचान की जानी चाहिए जो सार्वजनिक वितरण में गरीबों को अधिक आय–हस्तांतरण मे सहायक हो सकें और अन्य वस्तुएं जो गैर–निर्धनों द्वारा इस्तेमाल की जाती हैं, धीरे–धीरे खुले बाजार में हस्तांतरित कर देनी चाहिए।

3. गरीबों को प्रभावी रूप से आय–हस्तांतरण के लिए अनिवार्य वस्तुओं की जारी की गई कीमत और बाजार कीमत में काफी अन्तर होना चाहिए ताकि सार्वजनिक वितरण प्रणाली की वस्तुओं की खरीदने के लिए गरीब आकर्षित हो सकें।
4. सार्वजनिक वितरण प्रणाली को रोजगार जनन कार्यक्रमों जैसे जवाहर रोजगार योजना या रोजगार आश्वासन योजना के माध्यम से लागू करना चाहिए क्योंकि इन प्रोग्रामों को दोहरे लाभ प्राप्त होते हैं। प्रथम, इनमें गैर–निर्धनों के समावेश की त्रुटि न्यूनतम हो जाती है क्योंकि ऐसा प्रायः देखा गया है कि गैर–निर्धन सामान्यतः इन रोजगार कार्यक्रमों का लाभ नहीं उठाते। द्वितीय, निर्धनता समाप्ति रोजगार जनन कार्यक्रमों मे क्रय–शक्ति गरीबों को हस्तांतरित करने के अतिरिक्त सार्वजनिक वितरण प्रणाली द्वारा अतिरिक्त आय भी इन वस्तुओं के माध्यम से लाभप्राप्तकर्ताओं को उपलब्ध करायी जाएगी।
5. पंचायती राज संस्थाओं को अपने लक्षित उद्देश्यों से विकृत होने से रोकने के लिए यह अच्छा होगा कि ऐसी गैर–सरकारी संस्थाओं को जिनका गरीबों की सहायता करने में रिकार्ड सिद्ध हो चुका है, पंचायती राज संस्थाओं के निरीक्षण के साथ जोड़ा जाए।
6. राज्य सरकार को खाद्य–स्टाम्प या प्रमाण–पत्र पंचायती राज संस्थाओं को जारी कर देने चाहिए ताकि वे इनको जवाहर रोजगार प्रोग्राम या रोजगार आश्वासन कार्यक्रम के चालकों को श्रमिकों के लिए सौंप दें।
7. भारतीय खाद्य निगम गरीबों को खाद्य–सुरक्षा उपलब्ध करने का सबसे उचित संस्थान नहीं है। यह कहीं बेहतर होगा यदि भारतीय खाद्य निगम को खाद्य–कीमतों को स्थिर करने की जिम्मेदारी दी जाए और पंचायती राज संस्थाओं को खाद्यान्न के आवंटन का कार्य राज्य सरकारों को सौंप दिया जाए।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि सर्वाजनिक वितरण प्रणाली का कार्यक्षेत्र विस्तृत है और इस कारण यह गरीब वर्ग के बड़े भाग को सहायता पहुँचा सकती है, यदि इसे उचित रूप में लक्षित किया जाए। फिर भी वस्तु–स्थिति यह है कि इसका गरीबों को लाभ रक्त–संचारण की भाँति है, जिससे अस्थायी राहत प्राप्त हो सकती है। गरीबों की स्थायी खाद्य–सुरक्षा उपलब्ध कराने के लिए ऐसी रणनीतियों पर बल देना उचित होगा जो गरीबी को कम करें। इस संबंध में तीव्र आर्थिक विकास के साथ अधिक रोजगार जनन का महत्व केन्द्रीय स्थान रखता है। इस बात को आश्वस्त करने के लिए जो गरीबों को आय के रूप में प्राप्त लाभ कीमतों में वृद्धि की परणिामस्वरूप लोप न हो जाएं, यह जरूरी है कि सरकार कीमत–स्थिरीकरण (Price statbilisation) रणनीतियों को अपनाए।

5.5.5 सार्वजनिक वितरण प्रणाली द्वारा कुल आवंटन एवं कुल निकासी (Offtake)

तालिका–5.5.5
सार्वजनिक वितरण प्रणाली द्वारा कुल आवंटन एवं कुल निकासी

लाख टन

वर्ष	आवंटन			निकासी			3, 6 का प्रतिशत
	गेहूँ (1)	चावल (2)	कुल (3)	गेहूँ (4)	चावल (5)	कुल (6)	
1991–92	103	104	217	88	102	190	87.5

1991–92	103	114	217	88	102	190	87
1995–96	113	146	259	53	94	147	57
2000–01	115	163	278	40	79	120	43
2001–02	131	172	303	56	81	138	46
2005–06	167	277	444	61	73	135	30
2006–07	92	263	253	104	212	316	88
2007–08	87	206	293	77	162	239	82
2008–09	110	174	284	93	157	250	88

इसमें दिसम्बर 2002 तक अन्तोदय को भी शामिल किया गया है।

तालिका 5.5.5 में दिए गए आंकड़ों से पता चलता है कि सार्वजनिक वितरण प्रणाली द्वारा कुल आवंटन (Allocation) की राज्यों द्वारा कुल निकासी (Offtake) जो 1991–92 में 88 प्रतिशत थी गिरकर 1990–00 में 70 प्रतिशत हो गयी। परन्तु 2000–01 तक निकासी के अनुपात में भारी गिरावट आयी और यह 43 प्रतिशत के स्तर पर पहुँच गयी। यह 2002–03 में और गिरकर यह 24 प्रतिशत के निम्न स्तर पर पहुंच गयी। लेकिन बाद में 2008–09 में यह बढ़कर पुनः 88 प्रतिशत तक पहुँच गई। यहां पर ध्यान देने योग्य है कि पूर्व की तुलना में सार्वजनिक वितरण के लिये खाद्यान्नों के आवंटन में भारी कमी की गई है।

सार्वजनिक वितरण प्रणाली की खरीद में तीव्र उच्चावचन का कारण या तो खुले बाजार की कीमत और जारी कीमत में कम अन्तर है या सरकार द्वारा व्यापारियों को सार्वजनिक वितरण प्रणाली से कम मात्रा में माल उपलब्ध कराना है या सार्वजनिक वितरण प्रणाली के प्रति वचनबद्धता का अभाव है। निर्धन राज्यों अर्थात् बिहार, उड़ीसा, उत्तर प्रदेश और मध्य प्रदेश एवं समृद्ध राज्यों अर्थात् पंजाब और हरियाणा में सार्वजनिक वितरण प्रणाली के प्रति वचनबद्धता में कमजोरी के प्रमाण प्राप्त हुए हैं।

5.5.6 सार्वजनिक वितरण प्रणाली और गरीबी रेखा के नीचे वाली जनसंख्या

इस बारे में यह उल्लेख करना प्रासंगिक होगा कि भारतीय खाद्य निगम अच्छी किस्मों के खाद्यान्नों को खरीद कर इन्हें सार्वजनिक वितरण प्रणाली को सौंप देता है, परन्तु इसका बहुत बड़ा भाग खुले बाजार में बेच दिया जाता है और उचित मूल्य की दुकानों पर घटिया अनाज राशन कार्डों पर उलब्ध कराया जाता है। बेचारे उपभोक्ताओं को जैसा अनाज इन दुकानों पर उपलब्ध हो, स्वीकार करना पड़ता है। इस कुप्रबन्ध एवं भ्रष्टाचार को दूर करना होगा ताकि गरीबों को इच्छित लाभ प्राप्त हो सके और सार्वजनिक वितरण प्रणाली द्वारा गरीबी दूर करने के कार्यक्रम में योगदान किया जा सके।

चूंकि गरीबी रेखा के नीचे रहने वाले परिवारों ने घटिया खाद्यान्नों को ऊंची कीमत पर स्वीकार करने से इन्कार कर दिया, इसके नतीजे के तौर पर जुलाई 2002 तक सरकार के पास 630 लाख टन खाद्यान्नों का भारी स्टॉक इकट्ठा हो गया। इस परिस्थिति से निपटने के लिए सरकार के पास दो विकल्प थे; या तो वह जारी कीमतों को कम करे ताकि गरीब परिवार उचित कीमत की दुकानों से अधिक अनाज खरीदने लगे। इसका अर्थ यह है कि सरकार को सहायता के रूप में अधिक भार सहन करना होगा। दूसरा विकल्प यह है कि सरकार चावल और गेहूँ का निर्यात करे।

हाल ही के वर्ष में केन्द्रीय संग्रह से अनाज की निकासी

लाख टन

वर्ष	अनाजों का उत्पादन (1)	सार्वजनिक वितरण प्रणाली एवं अन्य कल्याणकारी योजनाओं के लिए (2)	खुले बाजार में विक्रय के लिए (3)	निर्यात (4)	कुल निकासी (2+3+4)
1999–00	1,964	184	46	–	230
2000–01	1,857	152	15	15	182
2001–02	1,995	210	56	47	313
2002–03	1,636	317	57	124	498
2003–04	1,985	377	13	103	493
2004–05	1,912	310	3	100	508
2005–06	1,603	411	11	–	411
2006–07	2,031	367	12	–	367
2007–08	2,160	374	02	–	370
2008–09	2,192	362	12	–	382

स्रोत : भारत सरकार आर्थिक समीक्षा (2009–10)

5.5.7 लक्षित सार्वजनिक वितरण प्रणाली

सार्वजनिक वितरण प्रणाली की कड़ी आलोचना निम्नलिखित कारणो ंसे हुई।

1. यह गरीबी रेखा के नीचे रहने वाली जनसंख्या को खाद्यान्न उपलब्ध कराने में विफल हुई है,
2. इसका मुख्य बल नगर क्षेत्रों की ओर रहा है,
3. जिन गरीब राज्यों में ग्रामीण गरीबों की संख्या बहुत अधिक हैं, इनमें यह राहत नहीं पहुँचा पाई और
4. भारतीय खाद्य निगम द्वारा उचित कीमत की दुकानों को उपलब्ध कराए गए खाद्यान्नों को खुले बाजार में विक्रय और राशन की दुकानों पर घटिया अनाज उपलब्ध कराना इसकी मुख्य कमजोरी रही है।

इसका ध्यान रखते हुए, सरकार ने इस प्रणाली को सुधारने का प्रयास किया और इसके लिए गरीब परिवारों को विशेष कार्ड जारी किए और जून 1997 से इन्हें विशेष रूप में साहायि्यत कीमतों (SP) पर खाद्यान्न बेचने शुरु किए। लक्षित सार्वजनिक वितरण प्रणाली के आधीन प्रत्येक परिवर को 10 कि.ग्रा. खाद्यान्न अत्यधिक साहायि्यत दरों पर प्राप्त करने का हक दिया गया।

गरीब परिवारों को लाभ की मात्रा बढ़ाने की दृष्टि से गरीब परिवारों को प्रति मास 20 कि.ग्रा. अनाज 1 अप्रैल 2000 से आर्थिक लागत (EC) के 50 प्रतिशत पर उपलब्ध कराना निश्चित किया गया। गरीबी रेखा के ऊपर वाले (APL) परिवारों को 10 कि.ग्रा. अनाज की मात्रा जो 1997 में तय की गयी थी 100 प्रतिशत आर्थिक लागत पर ही उपलब्ध करायी जाएगी। इसका मुख्य उद्देश्य साहाय्य को गरीबी रेखा के नीचे रहने वाले परिवारों की ओर निर्देशित करना था और गरीबी रेखा के ऊपर रहने वाले परिवारों को

निरुत्साहित करना था। इसके नतीजे के तौर पर यह आशा की गयी कि 652 लाख गरीब परिवारों को आय–हस्तांतरण (IT) होगा।

जुलाई 2001 से, गरीब परिवारों को राशन की मात्रा 20 कि.ग्रा. से बढ़ा कर 25 कि.ग्रा. कर दी गयी। इसके अतिरिक्त अत्यन्त निर्धन परिवारों को अन्तोदय अन्न योजना के आधीन 25 कि.ग्रा. खाद्यान्न अत्यधिक साहायि्यत दर पर – गेहूँ के लिए 2 रुपये प्रति कि. ग्रा. और चावल के लिए 3 रुपये प्रति कि.ग्रा. – सार्वजनिक वितरण प्रणाली से उपलब्ध कराने का निर्णय किया गया।

राजग सरकार के शासनकाल के दौरान, हमारी स्थिति दयनीय थी। 647 लाख टन अनाज से भरे हुए गोदाम थे और दूसरी और लगभग 30 करोड़ व्यक्ति देश मे भूख की विभिन्न अवस्थाओं में जीवन व्यतीत कर रहे थे। बुर्जुग और कमजोर जो ग्राम क्षेत्रों में रहते थे, उनके पास सार्वजनिक वितरण प्रणाली से खाद्यान्न खरीदने की शक्ति नहीं थी। पांचवें वेतन आयोग ने बहुत से राज्यों को पंगू बना दिया था और इनके पास केन्द्रीय गोदामों से मुफ्त प्राप्त होने वाले अनाज के लिए परिवहन लागत देने की भी सामर्थ्य नहीं थी। सरकार की नीति एवं प्रवृत्ति खाद्यान्नों के स्टॉक को कम करने के बारे में बिल्कुल सही थी परन्तु यह निर्विजयी रही थी। चावल के निर्यात के लिए सहायता उपलब्ध करना चाहिए और सार्वजनिक वितरण प्रणाली के लिए निर्धारित अनाज को सीधे निजी मिल मालिकों एवं व्यापारियों को सौंप देना चाहिए।

तालिका से कुछ बातों का संकेत प्राप्त होता है –

1. अनाजों का उत्पादन (दालों को छोड़कर) अब समतल स्तर पर पहुंच गया है और केवल 2002–03 को छोड़कर यह 1,900 लाख टन के इर्द–गिर्द रहा है। जबकि यह 1,636 लाख टन हो गया था।
2. सरकारी केन्द्रीय संग्रह के लिए सार्वजनिक वितरण प्रणाली (PDS) एवं अन्य कल्याणकारी योजनाओं के लिए निकासी 2003–04 में 377 लाख टन के उच्चतम स्तर पर पहुँच गयी। कृषि तथा खाद्य–नगरपालिका मंत्रालयों के सरकारी अफसरों ने इस प्रवृत्ति के बारे में सोचा ही नहीं।
3. सरकारी गोदामों से खुले बाजार में विक्रय 2002–03 में 57 लाख टन के अधिकतम स्तर पर पहुँच गया जबकि खराब मौसम के कारण कृषि को काफी बड़ा धक्का लगा।
4. निर्यात जो 2001–02 में 47 लाख टन थे, बढ़ कर 2002–03 में 124 लाख टन के उच्चतम स्तर पर पहुँच गए जबकि हाल ही के वर्षों में 2003–04 में अनाजों का उत्पादन निम्नतम था। परन्तु सबसे आश्चर्यजनक बात यह है कि बाद के दो वर्षों में निर्यात को 100 लाख टन से भी ज्यादा बढ़ने की इजाजत दी गयी।

अतः राजग सरकार ने तीन से चार वर्षों के दौरान खाद्यान्नों के एकत्रित भारी स्टाक को बड़ी बेदर्दी से समाप्त कर दिया। सरकार ने इसके लिए कई बहाने लगाए और यह कहा कि वह अपनी सार्वजनिक वितरण प्रणाली के लिए पर्याप्त स्टॉक रखने के लिए वचनबद्ध है।

जनता और लोकसभा के सदस्य भी कृषि एवं खाद्य मंत्रालय की गतिविधियों से अनभिज्ञ थे। जब भी कभी गेंहूँ और चावल के खुले बाजारों में विक्रय कानूनी एवं गैर–कानूनी और साहायि्यत निर्यात (SE) का प्रश्न उठाया जाता तो सरकार ने साधिकार यह कहा कि केन्द्र सरकार के गोदामों में इन दो खाद्यों के पर्याप्त भण्डार उपलब्ध हैं जो समय–समय पर निश्चित बफर स्टॉक मानदण्डों से कहीं अधिक हैं। तालिका में दिए गए

आंकड़ों से पता चलता है कि इन दो अनाजों के लिए 187 लाख टन का मानदण्ड 2001 के बाद के वर्षों के लिए रखा गया परन्तु 2001 में वास्तविक स्टाक 530 लाख टन था। यह जुलाई 2002 में 640 लाख टन पर भी पहुँच गया। परन्तु अनाजों का स्टॉक लगातार गिरता जा रहा था। इसका कारण इस स्टॉक का कल्याणकारी योजनाओं और साहायि्यत निर्यात में तेजी से इस्तेमाल था और एक समय ऐसा आया कि यह स्टॉक बफर स्टॉक मानदण्डों के ही बराबर हो गया। वास्तव में गेंहूँ में स्थिति अत्यन्त शोचनीय हो गयी जबकि इसका स्टॉक बफर स्टॉक मानदण्डों से भी कम हो गया। वर्ष 2005 में यह स्थिति उत्पन्न हो गयी कि गेहूँ का इतना बड़ा अतिरेक दो वर्षों के जादुई ढंग से लोप हो गया। सरकार ने किसानों पर राष्ट्रीय आयोग के अध्यक्ष डा. एम.एस. स्वामीनाथन को जून 2005 में भी यह यकीन दिलाया था कि सरकारी गोदामों में गेंहूँ के पर्याप्त स्टाक उपलब्ध हैं। यह निर्लज्जापूर्ण गलत जानकारी थी। यू.पी.ए. सरकार ने भी इस बारे में कोई ध्यान नहीं दिया और वर्ष 2008 में भी खाद्यान्नों का कुल केन्द्रीय स्टाक मात्र 191 लाख टन ही था।

व्यापारियों और फ्लोर मिलों ने इस स्थिति को भांप लिया और जमाखोरी द्वारा भारी मुनाफा कमाया। सरकार पिछले तीस वर्षों में पहली बार गेंहूं का आयात करने के लिए मजबूर हो गयी। 2006, में 50 लाख टन गेंहूँ का आयात भारतीय किसानों को दी जाने वाली कीमतों के कहीं ऊँची कीमतों पर किया गया।

प्रश्न उठता है कि भविष्य में क्या होगा? 2004–05 में खाद्यान्न उत्पादन 2,040 लाख टन था जबकि इससे पिछले वर्ष में यह 2,130 लाख टन था। 2005–06 के दौरान में यह फिर कम हो कर 2,083 लाख टन हो गया। खाद्यान्नो अन्तर्राष्ट्रीय उत्पादन ओर भी गिर रहा है। यदि यह स्थिति बनी रहती है तो गेंहूँ की कीमत और बढ़ जाएगी और इसका आयात ऊँची कीमतों पर करना पड़ेगा। राजग सरकार के विघटन का मुख्य कारण कृषि क्षेत्र को उन्नत करने में इसकी विफलता थी। संप्रग सरकार भी राजग सरकार की भान्ति विनिर्माण, सेवा और वित्तीय क्षेत्र को बढ़ावा दने की राजग सरकार की नीति का अनुसरण कर रही है और कृषि क्षेत्र के महत्त्व और विकास के प्रति केवल शाब्दिक सहानुभूति व्यक्त करती है। इसके ऊपर यह बात है कि संप्रग सरकार को विरासत में लगभग खाली गोदाम मिले हैं। देश में अनाजों, दालों एवं सब्जियों की कीमतें बढ़ती जा रही हैं और इनमें अभूतपूर्व वृद्धि हुई है। यह स्थिति लगातार बिगड़ती जा रही है और इसका प्रमाण किसानों की लगातार बढ़ती हुई आत्महत्याएँ हैं और कृषि क्षेत्र की दसवीं योजना के 4 प्रतिशत की लक्षित वृद्धि दर की अपेक्षा वास्तविक वृद्धिदर का गिर कर 1.7 प्रतिशत हो जाना है।

ऐसा प्रतीत होता है कि संप्रग सरकार कृषि में बिगड़ती हुई स्थिति और विशेषकर खाद्य की शोचनीय स्थिति को देखते हुए अब जागी है। इसके लिए स्वामीनाथन आयोग द्वारा सुझाए गए उपायों को उपचार के रूप में इस्तेमाल करने का प्रयास कर रही है।

अर्थात् व्यय का केवल 1.7 प्रतिशत गरीबों के लिए आय–हस्तांतरण ग्राम क्षेत्रों में 2.0 रुपये और शहरी क्षेत्रों में 3.4 रुपये था। अतः खाद्य सहायता द्वारा विषमता को काफी हद तक कम किया जा सका।

5.6 अभ्यास प्रश्न

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. खाद्य सहायता क्या है?
2. लक्षित सार्वजनिक वितरण प्रणाली लिखिये?

बहुविकल्पीय प्रश्न

1.केन्द्र सरकार द्वारा घोषित नई लक्षित सार्वजनिक वितरण प्रणाली के तहत निर्धनता रेखा के नीचे जीवन–यापन करने वालों में वितरण हेतु गेहूँ का केन्द्रीय निर्गम मूल्य कितने रुपये प्रति कि.ग्रा. निर्धारित किया गया है

(A) 3.25 रुपये (B) 2 रुपये
(C) 1.50 रुपये (D) 4 रुपये
Ans. – (B)

5.7 सारांश

सम्पूर्ण इकाई के अध्यनोपरान्त निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि वैश्विक स्तर पर खाद्यान्नों की उपलब्धता का खतरा मण्डरा रहा है ऐसी स्थिति में किसानों को उचित कीमत देकर देश में खाद्यान्नों के उत्पादन को बढ़ावा देना चाहिए। इसके साथ ही हमारी विशाल जनसंख्या के लिए उचित मात्रा में तथा उचित मूल्य पर खाद्यान्न उपलब्ध कराना होगा इसके लिए आवश्यक है कि सरकार उचित मात्रा में खरीद को बल दे।

5.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

बहुविकल्पीय Ans. – (B)

5.9 संदर्भ ग्रन्थ सूची

- Economic Survey, 2008-09.
- Economic Survey, 2009-10.
- Rudra Ashok, (1974) Indian Plan Models, Allied Publishere, Bombay.
- Sen Amarty (1983) Development Which Way Now Economic Journal.
- Shah and Vakil (Ed) : Agricultural Development of India, Policy and Problems.
- Desai, A.R., (1983) Rural Sociology in India, Popular Prakashan, Bombay.
- Bansil, P. C. (1981), Agricultural Problems of India, Oxford and IBH Publishing Company.
- Datt and Sundram, R., (2009), India Economy, 61st Edition, Suttam Chand & Sons

5.10 निबन्धात्मक प्रश्न

1. कृषि कीमत नीति की विस्तारपूर्वक विवेचना कीजिए?
2. ''सार्वजनिक वितरण प्रणाली आम जनतो को खाद्य सुरक्षा प्रदान करने में समर्थ है" इस कथन का आलोचनात्मक मूल्यांकन कीजिए।

इकाई 6 – भारतीय कृषि और विश्व व्यापार संगठन
(INDIAN AGRICULTURE AND WORLD TRADE ORGANIZATION)

6.1 प्रस्तावना
6.2 उद्देश्य
6.3 विश्व व्यापार संगठन और कृषि पर समझौता प्रावधान
  6.3.1 घरेलू समर्थन में कमी
  6.3.2 घरेलू बाजार खोलना
  6.3.3 स्वच्छता एवं पादप स्वच्छता प्रावधान
  6.3.4 व्यापार सम्बद्ध बौद्धिक सम्पदा प्रावधान
6.4 विश्व व्यापार संगठन और भारतीय संदर्भ में कृषि पर समझौता प्रावधान
6.5 अभ्यास प्रश्न
6.6 सारांश
6.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
6.8 संदर्भ ग्रन्थ सूची
6.9 निबन्धात्मक प्रश्न

6.1 प्रस्तावना

यह इकाई तीन भागों में विभक्त की गई है। सर्वप्रथम आप विश्व व्यापार संगठन से जुड़े कुछ तथ्यों को जानेंगे तदुपरांत सदस्य राष्ट्रों के बीच हुए कृषि पर समझौता प्रावधान का विस्तारपूर्वक अध्ययन करेंगे और अंत में WTO और भारतीय संदर्भ में कृषि पर समझौता प्रावधान की चर्चा होगी।

जैसा कि आप को ज्ञात होगा, उरुगुए दौर (Uruguey Round) की समाप्ति पर सन् 1995 में विश्व व्यापार संगठन की स्थापना हुई। इस संगठन ने जनवरी 1995 से काम करना शुरु किया। विश्व व्यापार संगठन एक वैधानिक समझौता है। इसलिए इसके प्रावधानों का अनुपालन सभी पक्षकारों के लिए बाध्यकारी प्रकृति का है। उरुगुए दौर के अधीन, प्रशुल्क एवं व्यापार सम्बन्धी सामान्य समझौते (General Agreement on Tariffs and Trade) के सभी सदस्य देशों ने प्रशुल्कों में व्यापक कमी करने, मात्रात्मक प्रतिबंधों को समाप्त करने तथा अपनी अर्थव्यवस्थाओं को विदेशी प्रतियोगिता के लिए खोलने के कई समझौतों पर हस्ताक्षर किये।

इस प्रकार विश्व व्यापार संगठन के तत्वावधान में जो नया अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक परिवेश जन्म ले रहा है। इसमे लगभग हर आर्थिक गतिविधियों पर घरेलू संरक्षण व रोक समाप्त हो जाये और विदेशी व्यापार पर सारे प्रतिबंध उठा लिये जायेंगे।

6.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्यनोपरांत आप

- ✓ विश्व व्यापार संगठन द्वारा कृषि पर हुए समझौता प्रावधान के मुख्य बिन्दुओं अथवा तथ्यों का निरूपण कर सकेंगे।
- ✓ ग्रीन बॉक्स, ब्ल्यू बॉक्स तथा स्पेशल एण्ड डिफैन्शल बॉक्स की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
- ✓ विश्व व्यापार संगठन का भारतीय कृषि पर हुए समझौते के मुख्य बिन्दुओं का वर्णन कर सकेंगे।
- ✓ विश्व व्यापार संगठन और भारतीय कृषि पर हुए समझौते का प्रभाव कितना सकारात्मक और कितना नकारात्मक रहा, इस बात का विश्लेषण कर सकेंगे।

6.3 विश्व व्यापार संगठन और कृषि पर समझौता प्रावधान(WTOs Accord on Agriculture - AAO)

विश्व व्यापार संगठन में कृषि पर हुए समझौते का लक्ष्य सदस्य देशों में कृषि व्यापार हेतु समता आधारित सुधार कार्यक्रम अपनाना और खाद्य सुरक्षा सुनिश्चित करना है।

धरती पर खाद्य सुरक्षा सुनिश्चित किया जाना प्रत्येक विकास प्रारूप की प्राथमिक आवश्यकता है। खाद्य एवं कृषि संगठन ने खाद्य सुरक्षा को सभी के लिए प्रत्येक समय स्वस्थ और क्रियाशील जीवन हेतु पर्याप्त भोजन तक पहुँच के रूप में परिभाषित किया है।

जहाँ तक कृषि पर समझौते का सम्बन्ध है इसमें विशेष तौर पर तीन मुद्दों पर जोर दिया गया – (1) घरेलू बाजार में प्रवेश आसान बनाना (2) घरेलू समर्थन को नियंत्रित करना (3) निर्यात सहायता को कम करना

कृषि सम्बन्धी समझौता प्रावधान के निम्नलिखित प्रमुख पक्ष हैं –

6.3.1 घरेलू समर्थन में कमी

विश्व व्यापार संगठन के समझौते के अनुसार सभी सदस्य देशों को कृषि क्षेत्र में दी जाने वाली समग्र घरेलू सहायता में कमी करना है। यह प्रावधान किया गया है कि आधार वर्ष 1986–88 की तुलना में विकसित देशों के समग्र घरेलू सहायता में 1995–2000 की अवधि में 20 प्रतिशत तथा विकासशील सदस्य देशों को 1995–05 की अवधि में समग्र घरेलू समर्थन में 1.30 प्रतिशत कमी करना है तकि समर्थन की कुल माप (ए.एम.एस.) आधार अवधि 1986–88 के स्तर तक पहुँच सके। विश्व व्यापार संगठन के नियमों के अनुसार कृषि क्षेत्र को दी जाने वाली समग्र घरेलू सहायता की सीमा विकसित देशों के लिए कृषि उत्पादन के मूल्य का 5 प्रतिशत और विकासशील देशों के लिए कृषि उत्पादन के मूल्य का 10 प्रतिशत निर्धारित की गयी है।

जहाँ तक घरेलू समर्थन में कमी का सम्बन्ध है, कृषि पर समझौते मे घरेलू समर्थन को दो भागों मे बांटा गया है – (1) व्यापार को विरूपित करने वाला समर्थन तथा (2) व्यापार को विरूपित न करने वाले या न्यूनतम विरूपित करने वाला समर्थन व्यापार को विरूपित करने वाले घरेलू समर्थन को अम्बर बॉक्स (Ambar Box) में रखा गया। जहां तक व्यापार को विरूपित न करने वाले घरेलू समर्थन का सम्बन्ध है उसे तीन भागों में विभक्त किया गया –

1. ग्रीन बॉक्स (Green Box)
2. ब्ल्यू बॉक्स (Blue Box)
3. स्पेशल एण्ड डिफ्रैन्शल बॉक्स (Special and Differential Box)

ग्रीन बॉक्स के अधीन वह आर्थिक सहायता रखी गयी जो पर्यावरण संरक्षण कार्यक्रमों के तहत दी जाती है। अनुसंधान प्रशिक्षण इत्यादि सेवाओं पर सहायता, बाजार सूचना के लिए सहायता, ग्रामीण आधारिक संरचना के कुछ रूपों पर सहायता इत्यादि। ग्रीन बॉक्स में शामिल गतिविधियों पर दी जाने वाली सहायता को कम करने की आवश्यकता नहीं है (अर्थात् यह सहायता कम करने की वचनबद्धता से मुक्त है) और इस प्रकार की सहायता पर कोई अधिकतम सीमा नहीं है।

ब्ल्यू बॉक्स के अधीन वह आर्थिक सहायता रखी गयी है जो किसानों को हानिपूर्ति भुगतान (Deficiency Payment) के रूप में या फिर उत्पादन को सीमित करने के बदले में दी जाती है जैसे – अमेरिका में सरकारी न्यूनतम समर्थन कीमत और बाजार भाव के अन्तर के बराबर 'हानिपूर्ति भुगतान' सीधा किसानों को किया जाता है जबकि यूरोपीय संघ के देशों में किसानों को उत्पादन सीमित करने के बदले सीधी आर्थिक सहायता दी जाती है। ब्ल्यू बॉक्स के अधीन दी जाने वाली सहायता भी कम करने की वचनबद्धता से मुक्त है परन्तु इस प्रकार की सहायता पर अधिकतम सीमा है।

स्पेशल एण्ड डिफ्रैन्शल बॉक्स में विकासशील देशों के गरीब व कम आय वाले उत्पादकों को दी जाने वाली निवेश सहयता तथा कृषि आगतों पर सहायता शामिल की गयी है। व्यापार को विरूपित करने वाले सभी घरेलू समर्थन को अम्बर बॉक्स में रखा गया है। इसका आकलन समर्थन समग्र माप (Aggregate Measure of Support) द्वारा करना है और फिर उसे समाप्त करना है। समर्थन के समग्र माप के दो हिस्से हैं –

1. उत्पाद – विशिष्ट समर्थन (Product specific support)
2. गैर – उत्पाद विशिष्ट समर्थन (Non-product specific support)

घरेलू समर्थन कीमतों (जैसे भारत में वसूली कीमतों में बाह्य संकेतक कीमतों (External reference price) में अन्तर को समर्थन प्राप्त उत्पादन से गुणा करके उत्पाद – विशिष्ट समर्थन प्राप्त किया जाता है। गैर–उत्पादन विशिष्ट समर्थन के अधीन विभिन्न कृषि आगतों (जैसे उर्वरकों, बिजली, सिंचाई, साख इत्यादि) पर जी जाने वाली सहायता को शामिल किया गया।

कृषि पर समझौते में यह व्यवस्था की गयी है कि विकसित देश 6 वर्ष की अवधि में समर्थन के समग्रमाप को 20 प्रतिशत तथा विकासशील देश 10 वर्ष की अवधि में 13 प्रतिशत कम करेंगे। कम करने की वचनवद्धता सम्पूर्ण घरेलू–समर्थन के परिप्रेक्ष्य में ज्ञात करनी है न कि व्यक्तिगत वस्तुओं के संदर्भ में। जिन नीतियों से विकसित देशों में उत्पादन के मूल्य के 5 प्रतिशत के कम तथा विकासशील देशों में उत्पाद के मूल्य के 10 प्रतिशत के कम घरेलू समर्थन प्राप्त होता है उन्हें कम करने की वचनबद्धता से मुक्त रखा गया है। इस प्रकार, जिन नीतियों का उत्पादन पर कोई निरूपण प्रभाव नहीं है (या बहुत कम निरूपण प्रभाव है) उन्हें भी कम करने की वचनबद्धता से मुक्त रखा गया है।

6.3.2 घरेलू बाजार खोलना

बाजार का विस्तार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए आवश्यक है। समझौते में सभी सदस्य देशों को अपने 1986–88 के उपयोग के स्तर के आधार पर खाद्यान्न के कुल घरेलू उपभोग का 03 प्रतिशत भाग विदेशों से आयात करने का प्रावधान किया गया है। यह प्रावधान विश्व व्यापार संगठन लागू होने के वर्ष 1995 के लिए था तथा सन् 2000 में यह बढ़कर 5 प्रतिशत हो गया। यह प्रावधान सभी सदस्य देशों के लिए लागू होगा भले ही वे खाद्यान्नों के संदर्भ में आत्मनिर्भर हों। इसी प्रकार प्रत्येक प्रशुल्क सारणी में प्रशुल्कों में कमी करने का भी प्रावधान किया गया। समझौते में उल्लेख किया गया है कि सभी सदस्य देश अपना अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सीमा शुल्क के माध्यम से नियोजित करेंगे और गैर–प्रशुल्कीय प्रतिबंधों को प्रशुल्कीय प्रतिबंधों में परिवर्तित करेंगे।

संक्षेप में यदि कहा जाये तो जहां तक घरेलू बाजार में प्रवेश आसान बनाने का प्रश्न है, 'कृषि पर समझौते' में यह व्यवस्था की गयी है कि जो मौजूदा मात्रात्मक प्रतिबंध व्यापार विरूपित करते हैं, उन्हें समाप्त करना होगा तथा प्रशुल्कों में बदलना होगा ताकि पूर्ववत् संरक्षण प्राप्त होता रहे और बाद में इन प्रशुल्कों को कम करना होगा।

कृषि पर समझौते के अतिरिक्त विश्व व्यापार संगठन के तत्वावधान में लागू किये जाने वाले कुछ अन्य समझौतों का भी कृषि पर प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ा। इनमें प्रमुख हैं – स्वच्छता एवं पादप स्वच्छता प्रावधान, व्यापार सम्बन्ध बौद्धिक सम्पदा अधिकार (Trade related intellectual property right) । इनके अधीन पेटेंट व कॉपीराइट संरक्षण (patents and copyright protection) की व्यवस्था है।

6.3.3 स्वच्छता एवं पादप स्वच्छता प्रावधान

स्वच्छता एवं पादप स्वच्छता प्रावधान विश्व व्यापार संगठन का एक प्रमुख बिन्दु है। इस प्रावधान के कारण कृषि वस्तुओं का विदेशी व्यापार प्रकाशित होने लगा है। विश्व व्यापार संगठन का कृषि पर समझौता प्रावधान उन कृषि उत्पादों के निर्यात का निषेध करता है। जो आयातक देश की कृषि, पशु सम्पदा एवं मानव जीवन तथा स्वास्थ्य के लिए हानिकारण हैं। वर्तमान कृषि उत्पाद व्यापार में स्वच्छता एवं पादप स्वच्छता प्रावधान वरीयता के आधार पर प्रयुक्त होने लगा है। विकास क्रय में स्वच्छता एवं उत्पाद गुणवत्ता

अधिक प्रभावी तत्व हो जाता है और अपेक्षित भी है। विश्व व्यापार संगठन का स्वच्छता एवं पादप स्वच्छता प्रावधान निम्नलिखित बिन्दुओं पर ध्यान केन्द्रित करता है।

1. सदस्य देशों में पादक एवं जीव–जन्तुओं के जीवन या स्वास्थ्य नाशक जीवों बीमारियों, बीमारी वाहक जीवाणुओं या बीमारी उत्पन्न करने वाले जीवाणुओं से रक्षा करना है।
2. सदस्य देशों में मानव एवं पशु जगत के जीवन और स्वास्थ्य की खाद्य, पेय या खाद्य पदार्थों में बीमारी उत्पन्न करने वाले जीवाणुओं और योगिक प्रदूषकों से उत्पन्न होने वाले जोखिमों से रक्षा करना है।
3. सदस्य देशों में मानव जीवन और स्वास्थ्य की बीमारी वहन करने वाले पशुओं, पौधों का पौध उत्पादों से उत्पन्न होने वाली बीमारियों से रक्षा करना है।
4. सदस्य देशों के परिक्षेत्र को नाशक जीवों के प्रवेश स्थापना और फैलाव से बचाना या सदस्य देश की सीमा में उससे होने वाली क्षति को कम करना।

6.3.4 व्यापार सम्बन्ध बौद्धिक सम्पदा प्रावधान :

विश्व व्यापार संगठन का बौद्धिक सम्पदा अधिकार प्रावधान ट्रिप्स भी कृषि क्षेत्र के समझौते में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। बौद्धिक सम्पदा से आशय किसी डिजाइन, प्रौद्योगिकी व वस्तु का किसी व्यक्ति व संस्था द्वारा सृजन करना है। यह वस्तुतः मस्तिष्क का सृजन है। बौद्धिक सम्पदा पर अधिकार से आशय बौद्धिक सम्पदा का किसी अन्य के द्वारा प्रयोग किये जाने पर आविष्कारक से स्वीकृति लेने और आविष्कारक का प्रतिफल ले सकने की व्यवस्था से है। स्वत्वाधिकार की व्यवस्था के अनुसार निर्माणकर्ता की अनुमति के बिना न उसे बेचा जा सकता है न ही खरीदा जा सकता है और न ही उसे परिवर्तित या नष्ट किया जा सकता है।

बौद्धिक सम्पदा में कापीराइट, ट्रेडमार्क, भौगोलिक, इन्डिकेशन, ट्रेड सीक्रेट, इन्डस्ट्रियल डिजाइन, इन्टीग्रेटेड सर्किट डिजाइन और पेटेन्ट सम्मिलित हैं। इन सभी में पेटेन्ट का बिन्दु अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं विवादास्पद रहा है। विश्व व्यापार संगठन के बौद्धिक सम्पदा अधिकार प्रावधान के अनुसार प्रौद्योगिकी के प्रत्येक क्षेत्र, उत्पाद अथवा प्रक्रिया के अन्वेषण पर पेटेन्ट उपलब्ध होगा, बशर्ते कि वे नये हों, नव्यता हो, उनमें गवेषणात्मक घटक हो या वे औद्योगिक उपयोग हेतु सक्षम हो। विश्व व्यापार संगठन के बौद्धिक सम्पदा अधिकार प्रावधान में यह व्यवस्था की गयी है कि मानव एवं पशुओं के उपचार के लिए निदान शास्त्र, चिकित्सा विज्ञान और शल्यक माध्यमों पर तथा सूक्ष्मजीवियों के अतिरिक्त पौधों एवं वनस्पतियों पर पेटेन्ट लागू नहीं होगा।

ट्रिप्स के अंतर्गत सभी आविष्कारों (उत्पाद एवं प्रक्रिया) के लिये 20 वर्षों का संरक्षण दिया जायेगा। विकासशील देशों के 5 वर्षों अर्थात् 1 जनवरी 2000 तक कानून बनाना था। साथ ही विशेष क्षेत्रों तथा दवायें, खाद्य उत्पाद तथा कृषि रसायन के लिए 10 वर्षों में यह प्रणाली लागू करनी थी।

यह भी व्यवस्था है कि गैर–वाणिज्यिक सार्वजनिक उपयोग वाली दवाओं के लिए सरकार अनिवार्य लाइसेंस प्रणाली लागू कर सकेंगी। प्राकृतिक रूप से पैदा न होने वाले जीन्स में पेटेन्ट की आवश्यकता नहीं है। इसीलिए इसमें आयुर्वेदिक दवायें इस कानून में सम्मिलित नहीं हैं। ट्रिप्स के अनुच्छेद–2 में यह व्यवस्था की गयी है कि भारत अपनी जैव विविधता तथा बौद्धिक सम्पदा को पेटेन्ट कर सकता है और ट्रिप्स से संगत अपना कानून, **सूई जेनरिस** बना कर उन्हें संरक्षित कर सकता है।

6.4 भारतीय संदर्भ में कृषि पर समझौता प्रावधान

कृषि भारत में एक जीवन दर्शन है, एक समृद्ध परम्परा है। कृषि ने स्वयं देश के आर्थिक व्यवहार, चिन्तन, दृष्टिकोण और संस्कृति को दिशा प्रदान की है।

विश्व व्यापार संगठन के कृषि पर समझौते के अनुसार सदस्य देशों को अपना कृषि बाजार अन्य देशों के कृषि उत्पादों, प्रौद्योगिकी एवं पूँजी अंतरण के लिए खोलना है। प्रशुल्क और गैर प्रशुल्क प्रतिबंधों को शिथिल और समाप्त करना है। समग्र घरेलू सहायिका में कमी करना है तथा बाजार को प्रतिस्पर्धी बनाना है। कृषि पर समझौता प्रावधान को भारत में पूर्ण निष्ठा और दृढ़ता से लागू किया गया है। तद्नुसार यहां कृषि उत्पादों के आयात पर प्रशुल्क और मात्रात्मक प्रतिबंधों को क्रमशः समाप्त किया जा रहा है। कृषि में विदेशी पूंजी के अंतरण हेतु अनुकूल दशायें बन रही हैं अन्य देशों से कृषि प्रौद्योगिकी अंतरण बढ़ रहा है। भारतीय संदर्भ कृषि पर समझौता प्रावधान का कुछ सकारात्मक और कुछ नकारात्मक प्रभाव की चर्चा हम निम्न रूपों में कर सकते हैं।

1. कृषि आगतों और उत्पादों का बाजार अधिक उदार बनाने के लिए 1970 में भारतीय पेटेन्ट कानून बनाया गया। इसे एक आदर्श पेटेन्ट कानून कहा गया। अंकटाड ने भी इसकी सराहना की थी और अन्य देशों को तद्नुसार अपना पेटेन्ट कानून बनाने की सिफारिश भी की गयी। भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया में भारतीय पेटेन्ट कानून तीन बार 1999 और 2004 में संधोशित किया गया। 2004 का संशोधन 1 जनवरी 2005 से प्रभावी हुआ। इससे कृषि आगतों और उत्पादों का बाजार की अधिक उदार हो गया।
2. कृषि पर समझौते के अनुसार भारत में आयात होने वाले 825 कृषि उत्पादों से मात्रात्मक प्रतिबंध मुक्त किया जाना था। इस संदर्भ मे 1 अप्रैल 2001 से 714 वस्तुओं पर से मात्रात्मक प्रतिबंध हटा लिये गये। फरवरी 2002 में गेहूँ, गेंहूँ उत्पाद, मोटे अनाज, मक्खन ओर बासमती चावल और दलहन के निर्यात पर लगे मात्रात्मक प्रतिबंध को समाप्त कर दिया गया।
3. कृषि क्षेत्र के लिए भारत में दी जाने वाली सहायता पहले से ही अत्यन्त कम है। भारत में आधार अवधि का ए.एम.एस. ऋणात्मक है। दूसरी और अधिकांश विकसित देशों में ए.एम.एस. का स्तर बहुत ऊंचा है। इससे भारत की बाजार पहुंच बाधित हो रही है। यहां कुल 20 फसल उत्पादों को सार्वजनिक वितरण प्रणाली हेतु फसलवार सहायता दी जाती है और प्रत्येक के संदर्भ में यह 10 प्रतिशत से कम है।
4. समझौते के अनुसार लगभग कम आय और कमजोर साधन आधार वाले कृषकों की दी गयी सहायता 10 प्रतिशत की गणना में सम्मिलित नहीं है। समझौते में 2.5 एकड़ के कम जोत आकार वाले कृषकों को कम आय और कमजोर साधन वाला माना गया है। इस आधार पर भारत में अधिकांश कृषकों को दी गई सहायिका उपरोक्त 10 प्रतिशत में सम्मिलित नहीं है।
5. बाजार उपलब्धता प्रावधान की बाध्यता से उन देशों को मुक्त रखा गया है जिनमें भुगतान संतुलन की समस्या है। भारत को भुगतान संतुलन की समस्या वाले देश के रूप में वर्गीकृत किया गया है। अतः कृषि उत्पादों के बाजार खोलने की बाध्यता से इस समय भारत मुक्त है।
6. विकसित देश उच्च सहायिका प्रधान कर कृषि को संरक्षण प्रदान करते हैं। यह आकलन किया गया कि आर्थिक सहयोग संगठन एवं विकास संगठन के देशों द्वारा

कृषि के लिये दी जाने वाली सहायिका वर्ष 1988 के 308 बिलियन डॉलर से बढ़कर 1999 में 361 बिलियन डॉलर हो गयी है। समग्र घरेलू सहायता ग्रीन बॉक्स, ब्ल्यू बॉक्स, विशेष एवं विभेद सहायता तथा डी मिनिमिस को सम्मिलित करते हुए कृषि क्षेत्र को दी जाने वाली कुल सहायिका 1998 में कृषि क्षेत्र के कुल घरेलू उत्पाद का यूरोपीय यूनियन में 58 प्रतिशत, जापान में 58 प्रतिशत, यू.एस.ए. में 40 प्रतिशत और कनाडा में 24 प्रतिशत था। इससे पृथक भारत में नाकारात्मक ए.एम.एस. को छोड़कर कृषि को दी जाने वाली कुल सहायिका कृषि क्षेत्र के कुल घरेलू उत्पादन का 9 प्रतिशत है।

7. निर्यात सहायिका के प्रावधानों के विपरीत विकसित देश कृषि उपायों पर अधिक निर्यात सहायिका दे रहे हैं। ब्ल्यू बॉक्स सपोर्ट और ग्रीन बॉक्स सपोर्ट के माध्यम से कृषि क्षेत्र को छद्म रूप से उच्च सहायिका प्रदान करते हैं। इस प्रकार की सहायता भारत नहीं दे पाता है। इस कारण भारतीय कृषि उत्पाद अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में प्रतिस्पर्धी नहीं रह जाते हैं।
8. विकसित देश विकासशील देश से आयात के संदर्भ में प्रशुल्क दर ऊंची कर देते हैं। यू.एस.ए., कनाडा, योरोपीय यूनियन, जापान एवं कोरिया में कृषि वस्तुओं पर लगी उच्चतम प्रशुल्क दर ऊंची है। ऊंची प्रशुल्क दरों द्वारा वे अपना बाजार संरक्षित कर लेते हैं। इन देशों की तुलना में भारत में कृषि प्रशुल्क दरें नीची हैं। विकसित देशों की ऊंची प्रशुल्क दरों के कारण भारत का निर्यात अत्यन्त कम रह जाता है।
9. कृषि पर समझौता प्रावधान कृषि वस्तुओं के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के स्वतंत्र करने और कृषि वस्तुओं के आयात पर लगे मात्रात्मक प्रतिबंधों के समाप्ति की पुष्टि करता है। स्पष्टतः भारत यह चाहता है कि कृषि वस्तुओं के विश्व व्यापार में भारत को अधिक अंश प्राप्त हो। परन्तु भारत की यह आकांक्षा वास्तविकता को प्राप्त नहीं हो पाया।
10. कृषि पर समझौता प्रावधान कई रूपों में भारत और इस प्रकार की विकासशील अर्थव्यवस्थाओं के हितों के प्रतिकूल है। विश्व व्यापार संगठन के कृषि पर समझौता प्रावधान में कृषि उत्पादों का एक न्यूनतम आयात सुनिश्चित करने की व्यवस्था की गयी है। बाजार उपलब्धता का यह प्रावधान स्वयं विश्व व्यापार संघठन द्वारा बहुप्रचारित स्वतंत्र व्यापार की परिकल्पना के विपरीत है।
11. कृषि उत्पाद बहुत पहले से भारतीय निर्यात की प्रमुख मदें रही हैं। सामूहिक उत्पाद, चावल, चाय, कॉफी एवं मसाले निर्यात की प्रमुख मदें हैं। हाल के वर्षों में यद्यपि मांस, मांस से बने पदार्थ, फल, सब्जियां, प्रसंस्करित फल और सब्जियों के निर्यात में वृद्धि हुयी है परन्तु कृषि वस्तुओं के विश्व व्यापार में भारत का अंश भी अत्यन्त भी कम है।
12. भारत ने कृषि उत्पादों में प्रशुल्क और गैर–प्रशुल्क प्रतिबन्धों को समाप्त किया और पश्चिमी कृषि प्रौद्योगिकी का अंतरण किया है, परन्तु इसका प्रतिस्पर्धात्मक सामर्थ्य कम है। विकसित देशों में जैव प्रौद्योगिकी जन्य बीजों की उच्च उत्पादन सामर्थ्य होती है। अनाज, दलहन, मूँगफली, कपास आदि से संदर्भ में भारत में प्रति हेक्टर उत्पादन यू.एस.ए. की तुलना में आधे से भी कम है।
13. विकसित देशों में आधुनिक कृषि मशीनों का प्रयोग होता है। इनमें उत्पादन लागत में कमी हो जाती है। फलतः अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में कीमतों में घटने की प्रवृत्ति है

जबकि भारतीय बाजार मे कीमतों के बढ़ने की प्रवृत्ति है क्योंकि आज भी भारत में आधुनिक कृषि यन्त्रों का प्रयोग कम है अतः ऐसी दशा में भारत प्रतिस्पर्धी नहीं बन सका है।

14. समझौते के अनुसार भारत जैसे विकासशील देशों जिनकी प्रतिव्यक्ति आय 1000 डॉलर से कम है, को उत्पादों पर छूट देने की अनुमति दी गयी है तथा जिनका विश्व व्यापार मे 3.25 प्रतिशत से कम योगदान है उन्हें भी इसमें शामिल किया गया है। इस प्रकार भारत का 22.8 प्रतिशत निर्यात (चावल, चाय, चमड़ा उत्पाद, रत्न एवं आभूषण) इस नियम से प्रभावित होगा।
15. आर्थिक सहायिकाओं की संरचना एक और विवादास्पद मुद्दा है। कृषि सम्बन्धी समझौते के अनुसार निर्यात सम्बन्धी आर्थिक सहायताएं, उर्वरक तथा बिजली के लिये दी जा रही आर्थिक सहायताएं, किफायती ब्याज दरें तथा बाजार कीमत समर्थन व्यापार को विकृत करने वाले हैं तथा उनको कम किया जाना है। कृषि संबंधी समझौते के अधीन विभिन्न बॉक्सों में आर्थिक सहायिकाओं की संरचना के बारे में जो उल्लेख किया गया है वह विकसित देशों के पक्ष मे है। उदाहरणार्थ, अमेरिका में अपर्याप्त भुगतान के रूप में किसानों को सीधे किए जाने वाले भुगतानों को व्यापार अल्पमात्र विकृत करने वाला माना जाता है तथा उसे कम करने की प्रतिबद्धता व्यक्त करना आवश्यक नहीं है, इसके विपरीत भारत में दी जाने वाली निविष्टगत तथा निर्यात सम्बन्धी आर्थिक सहायिकाएं कम किए जाने की वचनबद्धताओं के अधीन है। इसके अतिरिक्त भारत, निविष्टगत सहायिका जैसे उर्वरक पर दी जाने वाली सब्सिडी को धीरे–धीरे कम कर रहा है। हालांकि अमेरिका में फार्म सुरक्षा और ग्रामीण निवेश अधिनियम 2000 पारित करके फार्म क्षेत्र को अत्यधिक समर्थन प्रदान किया है।
16. कतिपय विकसित देश विश्व व्यापार संगठन के स्वच्छता एवं पादप स्वच्छता (एस. पी.एस.) तथा व्यापारगत तकनीकी व्यवधान के प्रावधानों के कार्यान्वयन का प्रयोग विकासशील देशों के व्यापार के प्रति व्यवधान पैदा करने के लिए कर रहे हैं। उदाहरण के लिए विश्व व्यापार संघठन के आधिकारिक मानदंडों के अनुसार मूंगफली में अफ्लारोक्सिन का अंश जो 15 अंश प्रति बिलियन तक हो सकता है, का एकपक्षीय अतिक्रमण योरोपीय संघ द्वारा 4 अंश प्रति बिलियन के मानदंड द्वारा हो रहा है। इस प्रकार यद्यपि भारतीय उत्पादन विश्व व्यापार संगठन द्वारा निर्धारित मानदंड़ों के अनुरूप है फिर भी यूरोपीय संघ के मानदण्ड भारतीय मूंगफली के व्यापार के लिए व्यवधान होंगे। इसके अतिरिक्त योरोपीय संघ मानदण्डों के अनुपालन के लिए खतरा विश्लेषण तथा अनिवार्य बिन्दु प्रणाली में बड़े पैमाने पर निवेश करने के लिए बाध्य हो जायेंगे जो अत्यधिक पूँजी प्रधान होगा तथा इसी कारण से विकासशील देशों के कई छोटे निवेशकों का निवारण स्वतः करता है। दोहा घोषणा में विकासशील देशों के लिए 'विशेष और निभेदक' (एस. एण्ड डी) उपायों का उल्लेख किया गया है जो समझौते का अभिन्न अंग है। भारत विशेष और विभेदात्मक प्रावधानों को सर्वाधिक प्राथमिकता देता है और चाहता है कि स्वच्छता एवं पादप स्वच्छता तथा विशेष सुरक्षा उपायों जैसे अत्यन्त महत्वपूर्ण बिन्दुओं पर शीघ्र विचार–विमर्श हो और विचार–विमर्श का यह सिलसिला शुरू हो चुका है, क्योंकि यह भारतीय कृषकों के हितों के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण है।
17. अभी तक भारतीय कृषक अपनी उपज का प्रयोग बीज के लिए भी करते रहे हैं।

समर्थ विविधता बनाये रखने और आवश्यक पूर्ति के लिए परस्पर बीजों का अदल–बदल करते थे। अब पेटेन्ट प्राप्त निगमों से प्रचारित बीजों से तैयार की गयी फसल के उत्पादन का व्यावसायिक आधार पर बीज के रूप में विक्रय पर निषेध की स्थिति आ गयी है। कुछ कम्पनियां इसमें भी आगे बढ़कर कृषि व्यवस्था को सर्वांश में नियंत्रित कर लेना चाहती हैं और वे ऐसे बीज बनाने तक आगे बढ़ गयी हैं जिनें पुनर्अंकुरण की सामर्थ्य न होने से दूसरी बार इनकी बीज के रूप में प्रयोग ही नहीं किया जा सकता है। यह बीज प्रणाली कृषकों को अपने लिए भी बीज रखने से पूर्णतः रोक देगी। ऐसे बीजों के चलन से प्रत्येक वर्ष नवीन बीज खरीदना कृषकों की बाध्यता हो जायेगी। भारत में अभी भी 80 प्रतिशत बीज अपनी फसलों या परस्पर अदल–बदल से प्राप्त होते हैं। इन बीजों के व्यापक चयन से स्वतः बीज रखने या अदल–बदल से बीज प्राप्त करने पर स्वतः रोक हो जायेगी। कुछ समय बाद देशज मूल बीज चलन से हट जाते हैं, जैसा कि हमारी विभिन्न फसलों के हजारों किस्म के बीजों के संदर्भ में हुआ। एक और ऊँची कीमत के साथ विदेशी बीजों की नियंत्रित आपूर्ति और दूसरी ओर देशज मूल बीजों का अप्रचलन कृषि प्रणाली में पूर्ण निर्भरता का भय उत्पन्न करता है। इस स्थिति से बीज सम्पदा करोड़ों किसानों के हाथ से निकलकर निजी सम्पत्ति बनते जा रहे हैं।

18. बाजार का खोला जाना सभी देशों के लिए कृषि व्यापार में प्रतिस्पर्धी बाजार सुनिश्चित नहीं करता है। वस्तुतः पैमाने की मितव्यमितायें, विनियोग की अविभाज्यतायें प्रौद्योगिकी अंतराल और राजकीय नीतियों से बाजार की अपूर्णताएं बढ़ती है। इन कारणों के कई प्रसंस्करित उत्पादों के संदर्भ में कतिपय बहुराष्ट्रीय कम्पनियों का वर्चस्व बढ़ रहा है। निगमीय कृषि प्रणाली सामान्य कृषकों और असंगठित उत्पादकों के लिए अस्तित्व की कठिनाई उत्पन्न कर रही है। इससे कृषि उत्पादों में प्रतिस्पर्धी बाजार न बनकर अल्पाधिकारिक बाजार बन रहा है। अल्पाधिकारीय बाजार की प्रभुता सम्पन्न फर्मे उत्पादन लागत से बहुत ऊंची कीमते वसूल रही हैं, जिसका अनुकरण बाजार की अन्य फर्में भी कर रही हैं। इससे अन्तिम उपभोक्ताओं को ऊंची कीमते देनी पड़ रही है और प्राथमिक कृषि उत्पादकों को अत्यन्त नीची कीमतें मिल रही है।
19. कई कृषि उत्पादों के संदर्भ में हमारी राष्ट्रीय उत्पादकता विश्व स्तर से कम है विकसित देश कृषि उत्पादों को ऊंची निर्यात सहायता प्रदान करते हैं। इस कारण भारतीय कृषि उत्पाद लागत और कीमत की दृष्टि से विश्व बाजार में प्रतिस्पर्धी नहीं हो पाते हैं। अतः कृषि व्यापार खुलने के बाद कृषि क्षेत्र के समक्ष गुणवत्ता और उत्पादिता उन्नयन की नयी चुनौतियां उत्पन्न हुयी हैं। अब गांव तक विदेशी कृषि उत्पाद पहुंच रहे हैं और डम्पिंग का भय तो बना ही है।
20. कृषि पर समझौते का प्रभाव यद्यपि अभी स्पष्टतः परिलक्षित नहीं हुआ है क्योंकि भारत जैसी विकासशील अर्थव्यवस्थाओं के लिए घरेलू सहायता में कमी, घरेलू बाजार को खोलना जैसी बाध्यतायें अभी लागू नहीं हुयी हैं। कृषि निर्यात सहायिका की कमी से भी भारत का मात्र 22.8 प्रतिशत निर्यात व्यापार ही प्रभावित हो रहा है। परन्तु पेटेन्ट कानून का प्रभाव निकट भविष्य मे भारतीय कृषि पर अवश्य पड़ेगा। इसलिए कृषि क्षेत्र की उत्पादकता बढ़ाने, गुणवत्ता उन्नत करे और लागत घटाने की साथ–साथ उत्पाद विविधीकरण और प्रसंस्करण की आवश्यकता स्पष्ट होती है। भारत इस समझौते में लाभ लेने के लिए स्वच्छता और पौध स्वच्छता के अन्तर्राष्ट्रीय

मानको की गुणवत्ता के कृषि उत्पादों का घरेलू आवश्यकता से अधिक उत्पादन करना होगा। विक्रय योग्य आधिक्य को विश्व बाजार मे प्रतिस्पर्धात्मक कीमतों पर कम परिवहन लागत के साथ निर्यात करना सुनिश्चित करना होगा।

6.5 अभ्यास प्रश्न

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. निम्न पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए –

(i) विश्व व्यापार संघठन
(ii) घरेलू समर्थन
(iii) मुक्त व्यापार
(iv) भारतीय कृषि और विश्व व्यापार संघठन

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. भारत के निर्यात व्यापार में निर्मित सामान का प्रतिशत हाल के वर्षों में रहा –

(a) 75 प्रतिशत से अधिक (b) 70 से 75 प्रतिशत के बीच
(c) 60 से 70 प्रतिशत के बीच (d) 50 प्रतिशत से कम

2. विश्व व्यापार संघठन की स्थापना किस सन् में हुयी –

(a) 1996 (b) 1999
(c) 1995 (d) 1997

6.6 सारांश

इस प्रकार अब तक के अध्ययन के उपरांत आप समझ चुके होंगे कि कृषि समझौते पर हस्ताक्षर के बाद कई विकासशील देशों में बहुत उत्साह दिखाई दिया क्योंकि उन्हें आशा थी कि इससे विकसित देशों के बाजार खुलेंगे, जिससे उन्हें कृषि वस्तुओं का निर्यात बढ़ाने का मौका मिलेगा।

जहां तक भारत का सम्बन्ध है कृषि को सहायता ऋणात्मक ही रही, जबकि विकसित देशों में कृषि को भारी आर्थिक सहायता दी जाती रही है। कृषि पर समझौते के कार्यान्वयन से यह उम्मीद बंधी कि विकसित देशों मे कृषि को घरेलू समर्थन में काफी गिरावट आयेगी जिससे अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में कृषि वस्तुओं की कीमतें बढ़ेगी। इससे भारत एवं अन्य विकासशील देशों को कृषि वस्तुओं के निर्यात से काफी आय प्राप्त होगी परन्तु वास्तव मे इसका उल्टा हुआ है। विश्व व्यापार संघठन की स्थापना के बाद के वर्षों मे कृषि वस्तुओं की अन्तर्राष्ट्रीय कीमतों में तेज गिरावट आयी है। जिससे भारत (व अन्य विकासशील देशों) की कृषि वस्तुओं से निर्यात आय कम हुई है। विश्व व्यापार संघठन के सोलह वर्ष पूरे हो चुके हैं और अब भी कृषि पर समझौता प्रावधान एक विवादास्पद मुद्दा बना हुआ है क्योंकि कहीं न कहीं यह प्रतीत होता है कि ये समझौते विकसित देशों के पक्ष में रहे हैं।

6.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

बहुविकल्पीय उत्तर

1– a, 2– c,

6.8 संदर्भ ग्रन्थ सूची

- Datt and Sundram, R., (2009), India Economy, 61st Edition, Suttam Chand & Sons.
- Prakash, B.A., (2009), The Indian Economy Since 1991 – Economic Reforms & Performances, Ist edition, Pearson Education.
- Rudra, Ashok, (1975), Indian Plan Models, Ist edition, Allied Publishers, Bombey.
- Mishra, S. K., and Puri, V. K., (2007), Problems of Indian Economy, Mimalaya Publishing House.
- OECD : A preliminary Assessment of the Impact of the Uruguay Round on Developing Countries, Paris. (1994).
- Govt. of India, Planning Commission, Tenth Five Year Plan, Vol-I

6.9 निबन्धात्मक प्रश्न

1. विश्व व्यापार संगठन का कृषि पर हुए समझौता प्रावधान की विस्तृत व्याख्या कीजिए?
2. विश्व व्यापार संगठन का भारतीय संदर्भ में हुए कृषि समझौता प्रावधान का विवेचनात्मक मूल्यांकन कीजिए?

इकाई 7 – भारतीय कृषि आयकर और कृषि श्रम
(INDIAN AGRICULTURE INCOME TAX AND AGRICULTURAL LABOUR)

7.1 प्रस्तावना
7.2 उद्देश्य
7.3 कृषि कराधान या कृषि कर
  7.3.1 भू–राजस्व
  7.3.2 कृषि आयकर
  7.3.3 कर भार में अंतर्क्षेत्रीय असमानता
  7.3.4 कृषि अतिरिक्त करारोपण हेतु राज समिति के प्रस्ताव
  7.3.5 कृषि जोत कर
7.4 कृषि श्रम
  7.4.1 भारत में कृषिश्रम की वर्तमान स्थिति
  7.4.2 कृषि श्रम का परिमाण
  7.4.3 कृषि श्रमिकों की हीन आर्थित दशा के कारण
  7.4.4 कृषि श्रमिकों की दशा सुधारने की लिए सुझाव
  7.4.5 कृषि श्रम के सम्बन्ध में सरकार द्वारा किए गये उपाय
  7.4.6 कृषि मजदूर और न्यूनतम मजदूरी
7.5 अभ्यास प्रश्न
7.6 सारांश
7.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
7.8 संदर्भ ग्रन्थ सूची
7.9 निबन्धात्मक प्रश्न

7.1 प्रस्तावना

आपको यह भली–भाँति ज्ञात है कि कृषि क्षेत्र भारतीय अर्थव्यवस्था का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण क्षेत्र है। राष्ट्रीय आय संरचना में कृषि क्षेत्र का और कृषि श्रमिकों का महत्वपूर्ण योगदान है। इसी कारण इस इकाई में आप भारतीय कृषि से सम्बन्धित दो महत्वपूर्ण कारणों का अध्ययन करेंगे प्रथम कृषि आयकर इसे हम कृषि कराधान के रूप में भी जानते हैं और द्वितीय कृषि श्रम।

उत्पादक क्षेत्र होने के कारण यह अपेक्षा किया जाना स्वाभाविक है कि कृषि क्षेत्र को आर्थिक विकास की लागत पूरा करने के लिए अतिरेक सृजित कर सहयोग करना चाहिये। प्रमुख रूप से इसी आकांक्षा के आधार पर कृषि कराधान की व्यवस्था है। दूसरी और जहाँ तक कृषि श्रम का प्रश्न है भारतीय अर्थव्यवस्था में आजीविका हेतु कृषि श्रम की प्रधनता होना सामान्य है।

इस इकाई में आप इन्हीं दो विषयों का विस्तारपूर्वक अध्ययन पायेंगे।

7.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्यनोपरांत आप :

- ✓ कृषि कराधान क्या है तथा यह कितने प्रकार का होता है, इस विषय की पूर्ण जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
- ✓ भू–राजस्व और कृषि आय कर में विभेद कर सकेंगे।
- ✓ कृषि तथा गैर कृषि क्षेत्र में लगाये गये प्रत्यक्ष करों का विवरण प्राप्त करे करेंगे।
- ✓ कृषि जोत कर का पूर्ण रूपेण मूल्यांकन कर सकेंगे।
- ✓ कृषि श्रम का अर्थ तथा भारतीय कृषि श्रम परिमाण की व्याख्या कर सकेंगे।
- ✓ कृषि श्रमिकों की हीन आर्थिक दशा का कारण जान पायेंगे।
- ✓ कृषि श्रमिकों की दशा सुधारने हेतु सरकार द्वारा बनायी गयी नीतियों की आलोचनात्मक व्याख्या कर सकेंगे।
- ✓ कृषि मजदूर और न्यूनतम मजदूरी में सम्बन्ध स्थापित कर सकेंगे।

7.3 कृषि कराधान (Agricultural Taxation)

व्यापक संकल्पना के आधार पर कृषि कराधान से आशय कृषकों द्वारा भुगतान किये जाने वाले प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष करों से है। भूमि राजस्व, अधिभार, भूमि विकास कर एवं कृषि आयकर प्रत्यक्ष कृषि कराधान की श्रेणी में आते हैं। इसके साथ–साथ विभिन्न कृषि आगतों और उत्पादों पर लगाये जाने वाले कर अप्रत्यक्ष करों की श्रेणी में हैं। कृषि क्षेत्र विभिन्न अप्रत्यक्ष करों जैसे उत्पादन शुल्क, बिक्री कर, सीमा शुल्क, पंजीकरण शुल्क, यातायात कर, सिंचाई शुल्क आदि का भुगतान करता है। इससे केन्द्र और राज्य सरकारें आय प्राप्त करती हैं। यद्यपि इनमें प्रत्येक के पृथकृ–पृथक अनुमान उपलब्ध हैं तथापि यह स्पष्ट है कि उक्त सभी राजकोष में योगदान करते हैं।

प्रसिद्ध अर्थशास्त्री **मेलक** का कहना है कि *"आर्थिक विकास की गति बढ़ाने के लिए कृषि कराधान की अत्यन्त प्रमुख भूमिका है, क्योंकि कृषि क्षेत्र पर केवल अनिवार्य उगाही द्वारा ही आर्थिक विकास हेतु बचतों को बढ़ाया जा सकता है।"* इस प्रकार कृषि कराधान आर्थिक विकास हेतु बचतों की आपूर्ति बढ़ाता है। कृषि उत्पादिता और कृषकों की आय

बढ़ने के साथ–साथ कर प्रणाली को उससे सम्बद्ध करने की आवश्यकता है। इससे कृषि अतिरेकों को आर्थिक विकास हेतु प्रयुक्त किया जा सकता है। कृषि क्षेत्र करोरोपण द्वारा अतिरिक्त आय प्राप्त करने का तर्क विभिन्न दृष्टिकोण से युक्ति संगत माना जाता है।

कुछ प्रमुख अर्थव्यवस्थाओं के ऐतिहासिक तथ्य यह संकेत करते हैं कि इनमें भारी भूमिकर और अनिवार्य उगाही द्वारा कृषि अतिरेकों को औद्योगिक विकास के लिये गतिशील बनाया गया। सोवियत रूस, जापान, चीन, मैक्सिको, कोरिया, ताइवान आदि अर्थव्यवस्थाओं में कृषि पर भारी करों द्वारा औद्योगिकरण और समग्र आर्थिक विकास को गति मिलती है।

कृषि पर भारी करारोपण कृषि के व्यवसायीकरण को बढ़ावा देता है। कृषि व्यवसायीकरण का प्रभाव बाजार कीमतों और बाजार की अन्य शक्तियों पर पड़ता है। कृषि करारोपण कृषकों को उन्नत कृषि प्रविधियों की ओर अग्रसर करता है ताकि आर्थिक लाभ कमाया जा सके। इससे अंतर्क्षेत्रीय आदान–प्रदान बढ़ता है। भारतीय अर्थव्यवस्था के योजनाकाल में कृषकों की विशेषकर बड़े कृषकों की आय बढ़ी, परन्तु आय बढ़ने के बाद भी कृषकों ने संसाधन एकत्र करने में समान रूप से योगदान नहीं किया। यह निर्विवाद रूप से सत्य है कि योजनाकाल में बड़े कृषक बढ़ी हुई आय से आर्थिक सुविधादायक वस्तुओं के उपयोग में संलग्न हुए। यदि किसी सीमा तक यह माना जाये कि कृषि क्षेत्र के संसाधन का कृषि विकास में ही प्रयोग किया जाये तो भी कृषि क्षेत्र पर अधिक करारोपण की आवश्यकता है।

कृषि करारोपण भारत में राजस्व प्राप्ति का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्रोत रहा है। भारत में ईस्ट इण्डिया कम्पनी का शासक भी बंगाल, बिहार और उड़ीसा की दीवानी प्राप्ति के लिए हुआ। 1948 के बाद भू–राजस्व से सरकारी आय बढ़ गयी। जमींदारी उन्मूलन से लागान को भू–राजस्व में बदल दिया गया।

7.3.1 भू–राजस्व (Land Revenue)

भू–राजस्व एक प्रत्यक्ष कर है जो भूमि के क्षेत्रफल पर आधारित है। यह जोतों पर प्रति एकड़ एक समान दर से लगाया जाता है, चाहे जोत बड़ी हो या छोटी हो। भू–राजस्व सरकार की आय का प्रमुख स्रोत रहा है। योजनाकाल में भू–राजस्व में लगातार वृद्धि हुई है। 1950–51 से भू–राजस्व की प्राप्ति का यद्यपि निरपेक्ष स्तर बढ़ा है। परन्तु राज्यों की आय में इसका सापेक्षिक महत्व कम होता गया है। 1950–51 में भू–राजस्व से प्राप्त आय राज्यों की कुल आय का 17 प्रतिशत थी। इसका राज्यों की आय में सापेक्षिक महत्व लगातार कम होता गया। 1984–85 में राज्यों की आय मे भू–राजस्व का अंश घटकर लगभग 2 प्रतिशत हो गया। यही प्रवृत्ति बाद के वर्षों में भी बनी है।

7.3.2 कृषि आयकर (Agricultural Income Tax)

कृषि आय कर कृषि कराधान का दूसरा प्रमुख घटक है। भारतीय आयकर अधिनियम, 1961 के अनुच्छेद 2(IA) में कृषि आय का आशय स्पष्ट किया गया है। इसके अनुसार कृषि आय में (i) भूमि से प्राप्त किराया या लगान, (ii) भूमि पर कृषि कराने से प्राप्त आय, (iii) भूमि पर उपज को विक्रय योग्य बनाने वाली क्रिया से प्राप्त आय, (iv) और कृषि के कार्य में आने वाले मकान की आय भी सम्मिलित की जाती है। भारतीय आयकर अधिनियम, 1961 के अनुच्छेद 10(1) के अनुसार कृषि आय केन्द्र सरकार द्वारा लगाये गये आय कर से मुक्त है। परन्तु गैर–कृषि आय पर आयकर निर्धारण के लिये कृषि आय को कुल आय में जोड़ने का प्रावधान राज समिति की सिफारिशों के बाद 1973 से

किया गया। परन्तु यहां कृषि आय पर करारोपण नहीं होता। वरन कर योग्य गैर–कृषि आय पर कर की सीमान्त दर मात्र बढ़ जाती है।

कृषि आय पर करारोपण राज्य सरकारों का विषय है। कृषि आय पर कर लगाने का आधिकार राज्य सरकारों को सर्वप्रथम 1935 में दिया गया और बिहार सरकार ने सर्वप्रथम 1938 में कृषि आय पर कर लगाया। भारतीय संविधान के अनुसार कृषि आय पर कर लगाने का अधिकार एकमात्र राज्य सरकारों के पास है। विभिन्न राज्य सरकारें कृषि आय पर कर लगाती हैं. कई राज्यों जैसे – असम, पश्चिमी बंगाल, बिहार, उत्तर प्रदेश, राजस्थान, मध्य प्रदेश, कर्नाटक, तमिलनाडु और केरल में कृषि आय कर लगाया जाता है। कृषि आय कर भी राज्यों द्वारा लगाया और एकत्र किया जाता है।

तालिका–7.3.2

(कृषि कराधान) करोड़ रु. में

वर्ष	भू–राजस्व	कृषि आयकर	योग	राज्यों की आय में कृषि करों का अंश प्रतिशत में
1950–51	48.0	4.0	52.0	18.6
1960–61	97.0	10.4	107.0	17.1
1970–71	113.0	10.0	123.0	5.4
1980–81	146.0	46.0	192.0	2.9
1994–95	1123.6	100.2	1223.8	0.9
1999–2000	1655.0	197.6	1852.6	1.0

गैर–कृषि आयकर अर्थात् व्यक्तिगत आय कर और निगम कर की तुलना में कृषि आय कर की प्राप्ति निरपेक्ष वृद्धि हुई है परन्तु इसकी प्राप्तियों का भी राज्यों की कुल कर प्राप्तियों में सापेक्षिक महत्व घटा है। 1950–51 में लगभग 1.0 प्रतिशत था जो 1984–85 में घटकर 0.4 प्रतिशत हो गया। तालिका–1 में भू–राजस्व और कृषि आयकर की विभिन्न वर्षों की प्राप्तियों को दिखाया गया है। अन्य राजकीय करों की आय में अपेक्षाकृत अधिक वृद्धि होने के कारण कृषि कराधान से प्राप्त आय का अंश लगातार घटता जा रहा है।

7.3.3 कर भार में अंतर्क्षेत्रीय असमानता (Inter-Sectoral Inequality in Taxation)

भारत में कृषि क्षेत्र और गैर–कृषि क्षेत्र के मध्य कर–भार में अत्यधिक विषमता व्याप्त है। कई शोधकर्ताओं ने कृषि क्षेत्र पर कर के निरपेक्ष भार और कर भार की अंतर्क्षेत्रीय विषमता को मापने का प्रयास किया है। इस संदर्भ में ई. टी. मैथ्यू, वेद पी. गांधी और आई. एस. गुलाटी के निष्कर्ष विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

मैथ्यू के अनुसार 1958–59 में प्रति व्यक्ति कृषि करारोपण का कुल भार रु0 14.52 था जो कृषि क्षेत्र में प्रति व्यक्ति आय का 6.8 प्रतिशत है। दूसरी और इसी वर्ष गैर कृषि क्षेत्र में प्रति व्यक्ति कुल कर भार रु0 46.0 था जौ गैर कृषि क्षेत्र में प्रति व्यक्ति आय का 9. 2 प्रतिशत है। इसी प्रकार कृषि क्षेत्र में प्रति व्यक्ति शुद्द कर भार 1958–59 में रु0 6.83 था जो प्रति व्यक्ति आय का 3.2 प्रतिशत था। दूसरी और गैर कृषि क्षेत्र में प्रति व्यक्ति शुद्ध कर, गैर कृषि क्षेत्र की प्रति व्यक्ति आय का 7.2 प्रतिशत रहा है। इस आधार पर उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला कि भारत के कृषि क्षेत्र पर निरपेक्ष रूप से और सापेक्ष रूप से तथा आर्थिक विकास के लिये अतिरिक्त संसाधन एकत्र करने की दृष्टि से कर भार कम है।

कृषि कराधान के भार और करापात का अधिक व्यापक और स्पष्ट अध्ययन वेद पी.

गांधी द्वारा किया गया। उन्होंने कुल कर भार तथा कर की औसत और सीमान्त दरों के आधार पर कर भार की अंतर्क्षेत्रीय असमानताओं को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। 1951–52 में प्रत्यक्ष और परोक्ष कृषि करों से 200 करोड़ रूपये प्राप्त हुए जबकि गैर कृषि क्षेत्र से 450 करोड़ रुपये प्राप्त हुए। दोनों क्षेत्रों की कर आय के आधार पर यह कहा जा सकता है कि कृषि क्षेत्र का अंशदान 45 प्रतिशत था। इन करों के रूप में 1968–69 में कृषि क्षेत्र से 900 करोड़ रुपये प्राप्त हुए जबकि गैर कृषि क्षेत्र से 2700 करोड़ रुपये प्राप्त हुये। इस प्रकार कृषि क्षेत्र का सापेक्षिक अंशदान घटकर 33 प्रतिशत हो गया। प्रति व्यक्ति करापात के दृष्टिकोण से 1950–51 में कृषि क्षेत्र और गैर कृषि क्षेत्र में प्रति व्यक्ति पर भार क्रमशः 80 रुपये और 41.8 रुपये था जो 1961–62 में क्रमशः 14.0 रुपये और 75.0 रुपये हो गया। एक अन्य अध्ययन के अनुसार कृषि और गैर कृषि क्षेत्र में 1969–70 में प्रति व्यक्ति करापात क्रमशः 30.0 रुपये और 200.0 रुपये रहा। वेद पी. गांधी ने अपने अध्ययन में क्षेत्रीय असमानताओं को प्रदर्शित करने के लिये सीमान्त कर भार का आकलन किया। सीमान्त कर भार किसी अवधि में अतिरिक्त करों का अतिरिक्त आय से अनुपात प्रदर्शित करता है। वेद पी. गांधी के अनुसार 1950–51 और 1960–61 की अवधि में कृषि क्षेत्र में 1717 करोड़ रुपये अतिरिक्त आय हुई अतिरिक्त करारोपण 198 करोड़ रुपये रहा। इस प्रकार कृषि क्षेत्र में सीमान्त कर भार 11.5 प्रतिशत था। दूसरी और उक्त अवधि में गैर–कृषि क्षेत्र में 2420 करोड़ रूपये अतिरिक्त आय हुई जिसमें अतिरिक्त करारोपण 499 करोड़ रुपये थी अर्थात् सीमान्त कर भार 20.6 प्रतिशत था।

इन अध्ययनों से कृषि क्षेत्र पर अपेक्षाकृत कम कर भार की स्थिति स्पष्ट है। भारत सरकार की प्रत्यक्ष कर जाँच समिति ने अंतर्क्षेत्रीय असमानता को स्पष्ट करते हुए यह विचार प्रकट किया कि यद्यपि कृषि क्षेत्र का राष्ट्रीय आय में योगदान लगभग 50 प्रतिशत है, परन्तु इसके द्वारा 113 करोड़ रुपये की राशि ही करों द्वारा एकत्र की जाती है। इसके विपरीत गैर कृषि क्षेत्र से उक्त धनराशि से लगभग 6 गुना अधिक धनराशि करों से एकत्र की जाती है। प्रत्यक्ष करों द्वारा कृषि आय का 1.0 प्रतिशत से भी कम अंश प्राप्त होता है जबकि गैर कृषि क्षेत्र में यह अंश अधिक है। नगरीय जनसंख्या पर कर का भार तुलनात्मक रूप से अधिक है। यह भार इतना अधिक है कि एक करदाता जिसकी आय 1. 0 लाख रुपये वार्षिक है, कर देने के बाद उतनी ही आय बचा पाता है जितनी कि अत्यन्त कम कृषि आय वाला दूसरा व्यक्ति। कर जाँच समिति द्वारा दिये गये आँकड़े नगरीय क्षेत्र में अधिकर कर भार की स्थिति स्पष्ट करते हैं। कृषि तथा गैर कृषि क्षेत्र मे प्रत्यक्ष कर का विवरण निम्नलिखित तालिका–2 में दिया गया है। यह भी एक निश्चित तथ्य है कि नगरीय क्षेत्रों में अप्रत्यक्ष करों का भार ग्रामीण क्षेत्रों की तुलना में अधिक है। उपरोक्त अध्ययन स्पष्ट करते हैं कि कृषि क्षेत्र के समृद्ध वर्ग पर प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष करों का कुल भार गैर कृषि क्षेत्र की तुलना मे अत्यन्त कम है। यद्यपि लघु एवं सीमान्त कृषकों का कर भार सम स्थिति वाले नगरीय श्रमिकों एवं उत्पादकों के मध्य लगभग समान है।

तालिका–7.3.3

कृषि तथा गैर कृषि क्षेत्र में प्रत्यक्षकर का विवरण

वर्ष	कृषि क्षेत्र		गैर कृषि क्षेत्र	
	कुल प्रत्यक्ष कर (करोड़ रु. में)	कृषक आय में प्रत्यक्ष कर का प्रतिशत	कुल प्रत्यक्ष कर (करोड़ रु. में)	गैर कृषक आय में प्रत्यक्ष कर का प्रतिशत
1951–52	52.3	1.8	187.2	3.6

1961–62	104.6	1.5	334.9	4.4
1965–66	121.8	1.2	596.3	5.4
1966–67	100.2	0.8	655.1	5.3

कृषि करारोपण का विश्लेषण यह स्पष्ट करता है कि आर्थिक विकास के लिये संसाधन संग्रह में कृषि करारोपण का योगदान अत्यन्त कम है। योजनाकाल में भारत में आर्थिक विकास के लिये संसाधन एकत्र करने में केन्द्र और राज्य सरकारों ने प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष करों से अधिक राशि एकत्र की है। अपेक्षाकृत, अधिक जनसंख्या से कर लेने के प्रयास किये गये हैं। परन्तु कृषि करारोपण अपर्याप्त, अक्षम और गैर–लोचशील ही बना है। प्रत्येक योजना में किये जाने वाले निवेश से कृषि क्षेत्र में सुधार हुआ है। संस्थागत और तकनीकी आयामों से कृषि क्षेत्र जीवन–निर्वाह का व्यवसाय न रहकर अब लाभार्जन की स्थिति में आ गया है। संस्थागत साख संस्थाओं की साख सुविधा से नवीन कृषि निवेश कृषि क्षेत्र के लिये सुलभ हो गये। हरित क्रान्ति के परिणामस्वरूप कृषि उत्पादन और उत्पादिता बढ़ी है। इसके अतिरिक्त कृषि कीमतों में योजनाकाल में लगातार वृद्धि हुई है। समर्थित कीमतें लगातार बढ़ रही हैं। इससे कृषि उत्पादनों से लाभ होने लगा है। व्यापारिक फसलों के अंतर्गत क्षेत्र और उत्पादन बढ़ने से कृषकों को अधिक लाभ होने लगा है। इसलिये यह अपेक्षा किया जाना उचित ही है कि कृषि क्षेत्र को आर्थिक विकास के लिये अधिक संसाधन प्रदान करना चाहिये।

कृषि क्षेत्र पर गैर कृषि क्षेत्र की तुलना में कर अत्यन्त कम है। सिंचाई, विद्युत, उर्वरक कृषि यंत्र, पौध संरक्षण, कृषि की सुधरी हुई विधियों आदि पर व्यय होने से कृषकों को अधिक लाभ हुआ है। विशेषकर बड़े कृषकों को अधिक लाभ मिला है। कृषि निवेशों का अधिक लाभ समाज के कमजोर वर्गों, खेतिहर मजदूरों, भूमिहीन मजदूरों, ग्रामीण शिल्पकारों और सीमान्त कृषकों को नहीं प्राप्त होता है। इसलिये ग्रामीण समाज में अंतर्वर्गीय विषमतायें बढ़ी हैं। कृषि विकास के लाभ शुष्क कृषि वाले और अधिक वर्षा वाले क्षेत्रों में अपेक्षाकृत कम प्राप्त हुआ है। अतः सामाजिक न्याय की दृष्टि से भी यह आवश्यक है कि भारत में विकसित कृषि क्षेत्रों और मध्यम तथा बड़ी जोत वाले कृषकों पर अधिक कर लगाया जाए। इस संदर्भ में सबसे सरल उपाय यह है कि भू–राजस्व को जोत आकार से सम्बद्ध करके प्रगतिशील बनाया जाये। इससे अधिक राजस्व प्राप्त होगा और सीमान्त छोटे कृषकों पर कर भार भी कम होगा। विभिन्न पंचवर्षीय योजनाओं में कृषि और सम्बन्धित क्रियाओं पर जो व्यय किया गया, इससे सृजित अवस्थापनागत सुविधाओं का लाभ विशेषकर बड़े कृषकों को मिला है। इसलिये यह न्यायपूर्ण है कि उन पर प्रगतिशील भूमि कर लगाया जाए।

7.3.4 कृषि पर अतिरिक्त करारोपण हेतु राज समिति के प्रस्ताव

कृषि क्षेत्र पर अतिरिक्त करारोपण की संभावना का पता लगाने और उसकी क्रियाविधि निश्चित करने के लिए केन्द्र सरकार ने फरवरी, 1972 में डा. के. एन. राज की अध्यक्षता में एक समिति गठित कि गई। कृषि आय एवं धन के करारोपण पर गठित इस समिति ने अक्टूबर, 1972 में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की। समिति ने कृषि आय एवं धन के करारोपण के सन्दर्भ में मुख्य रूप से 5 सिफारिशें की। **प्रथम,** जिन कृषकों के पास आकलन योग्य कोई अन्य आय नहीं है उन पर प्रगतिशील जोतकर लगाया जाना चाहिए। **द्वितीय,** यदि कृषक के पास गैर–कृषि कर योग्य आय है तो आय की गणना करते समय कुल आय में कृषि आय को भी सम्मिलित किया जाना चाहिए। **तृतीय,** पशुपालन, मत्स्य पालन, मुर्गीपालन, डेयरी आदि की आयों पर भी कर लगाया जाना चाहिए। **चतुर्थ,** कृषि

सम्पत्ति पर कर लगाया जाना चाहिए और **पाँचवा** कृषि भूमि के हस्तांतरण पर पूँजी लाभ कर लगाया जाना चाहिए।

7.3.5 कृषि जोत कर

राज समिति ने अपने विश्लेषण में भू–राजस्व के संदर्भ में दो विसंगतियों का उल्लेख किया। प्रथम, यह कि देश के विभिन्न भागों मे भू–राजस्व की दर कृषि उत्पादिता की दृष्टि से असमान है और द्वितीय, यह कि भू–राजस्व का निर्धारण निश्चित दर पर होता, अतः इसमें प्रगतिशीलता का तत्व नहीं है। इन विसंगतियों को ध्यान में रखते हुए राज समिति ने कृषि जोत कर का सुझाव दिया। कृषि जोतकर कृषि जोत के शुद्ध निर्धार्य मूल्य पर एक कर है। वस्तुतः यह शुद्ध कृषि आय पर कर है।

कृषि जोत कर के आकलन हेतु राज समिति ने यह सुझाव दिया की भूमि और जलवायु की समरूपता के आधार पर देश का विभिन्न सक्षम क्षेत्रों में विभाजन किया जाना चाहिए। पिछले 10 वर्षों के विभिन्न किस्म की फसलों के प्रति हेक्टर औसत उत्पादन के आधार पर विभिन्न फसलों का प्रति हेक्टर औसत उत्पादन ज्ञात किया जाना चाहिए तथा विगत तीन वर्षों की फसल कीमत का औसत आधार पर समग्र उत्पादन का मूल्यांकन किया जा सकता है। इससे विभिन्न फसलों के समग्र उत्पादन का मूल्यांकन किया जा सकता है। इससे विभिन्न फलसों के समग्र उत्पादन का कुल मूल्य ज्ञात हो जायेगा। कृषि के कुल उत्पादन मूल्य मे से सिंचाई और पूंजी क्षय की लागतों को छोड़कर भुगतान की गयी अन्य लागतों को घटा दिया जाता है। राज कमेटी के प्रस्ताव में भुगतान की हुयी लागतों को समग्र उत्पादन मूल्य की 40 से 60 प्रतिशत तक माना गया है। समग्र कृषि आय में से भुगतान की हुयी लागतों को घटाने के बाद प्रत्येक क्षेत्र के लिए प्रति हेक्टर कर योग्य आय प्राप्त हो जायेगी। कर योग्य आय में से राज समिति ने सिंचाई व्यय को घटाने का सुझाव दिया। सिंचाई व्यय को घटाने की प्रक्रिया के सन्दर्भ में राज समिति ने सुझाव दिया कि यदि सिंचाई राजकीय स्रोत से हो रही है तो इसके लिए किये गये वास्तविक भुगतान को घटाना चाहिए। यदि सिंचाई निजी स्रोत से की जा रही है तो कुल निर्धार्य मूल्य का 20 प्रतिशत सिंचाई व्यय के लिए घटाया जाना चाहिए। समग्र उत्पादन मूल्य से भुगतान की हुयी लागतें और सिंचाई व्यय घटाने के बाद शेष बची राशि को समग्र निर्धार्य मूल्य कहा जाता है। पुनः राज समिति का सुझाव था कि समग्र निर्धार्य मूल्य मे से प्रत्येक जोत के लिए 1000 या समग्र निर्धार्य मूल्य का 20 प्रतिशत विकास छूट के रूप में घटाया जाना चाहिए। समग्र निर्धार्य मूल्य में से विकास छूट घटाने के बाद बची शेष राशि को शुद्ध निर्धार्य मूल्य कहा जाता है। राज समिति ने कृषि जोत कर की गणना के लिए निम्नलिखित प्रारूप प्रस्तुत किया।

$$\text{कृषि जोत कर} = \frac{X}{2} \times \text{जोत के शुद्ध निर्धार्य मूल्य का प्रतिशत}$$

यहाँ,

X = हजार रुपये की संख्या

शुद्ध निर्धार्य आय = कुल निर्धार्य आय – विकास शुल्क

कृषि जोतकर की गणना के लिए जो समिति ने उक्त प्रारूप के आधार पर निम्नलिखित उदाहरण दिया। माना जोत का निर्धार्य मूल्य 10,000 रुपये और विकास छूट 1000 रुपये हैं। इस आधार पर कृषि जोत कर की गणना की निम्नवत् की जा सकती है।

समग्र निर्धार्य आय = 10,000 रुपये

विकास छूट = 1000 रुपये
शुद्ध निर्धार्य आय = 9000 रुपये
X 9
अब,

कृषि जोत कर $= \frac{X}{2} \times \% \times 9000$

$= \frac{9}{2} \times \frac{1}{100} \times 9000 =$ 405 रुपये

कृषि जोत कर के संदर्भ में राज समिति ने सुझाव दिया कि इसे दो चरणों में लगाया जाना चाहिए। प्रथम चरण उन जोतों का भू–राजस्व समाप्त किया जाना चाहिए जिन पर शुद्ध निर्धार्य मूल्य 5000 रुपये से अधिक नहीं हो। द्वितीय चरण में 5000 रु. से कम निर्धार्य मूल्य वाली जोतों पर भू–राजस्व समाप्त करना चाहिए।

7.4 कृषि श्रम

जैसा कि आप सभी को ज्ञात है कि भारतीय अर्थव्यवस्था में कृषि अत्यन्त महत्त्वपूर्ण क्षेत्र है, जिसमें समस्त कार्यकारी जनसंख्या के 68 प्रतिशत लोगों को रोजगार मिलता है और जो देश की कुल राष्ट्रीय आय में लगभग 32 प्रतिशत योगदान करती है। कृषि देश की समस्त जनसंख्या की खाद्यान्न पूर्ति का मुख्य स्रोत है, साथ ही साथ यह उद्योगों के लिए आधारित कच्चे माल की पूर्ति भी करती है। यह कृषि श्रमिकों की समस्याओं और उनके सम्भव निराकरण का अध्ययन विकसित और विकासशील दोनों ही अर्थव्यवस्थाओं में महत्त्वपूर्ण है। भारत जैसे देश मे यह अध्ययन अत्यन्त महत्वपूर्ण है क्योंकि यहां कृषि–उत्पाद की तकनीक मुख्यतः श्रम प्रधान है।

कृषि श्रमिकों से आशय उन ग्रामीण मजदूरों से है जो कृषि कार्य में मजदूरी पर लगे हैं। ग्रामीण जनसंख्या का एक बहुत बड़ा भाग होने के कारण कृषि श्रमजीवी जनसंख्या की रोजगार परिस्थितियाँ कृषि विकास की गति को विशेष रूप से प्रभावित करती हैं।

7.4.1 भारत में कृषि श्रम की वर्तमान स्थिति

भारत में कृषि श्रम जोकि मुख्यतः आर्थिक एवं सामाजिक दृष्टि से पिछड़े वर्गों द्वारा उपलब्ध कराया जाता है, को चार वर्गों में विभाजित किया जा सकता है –

1. जमींदारी से बंधे हुए भूमिहीन श्रमिक
2. व्यक्तिगत रूप में स्वतंत्र, किन्तु पूर्णतः औरों के लिए काम करने वाले भूमिहीन श्रमिक
3. छोटे किसान जिनके आधीन अत्यन्त छोट–छोटे खेत हैं, वे अपना अधिकांश समय औरों के लिए काम करने में लगाते हैं।
4. वे किसान जो आर्थिक दृष्टि से पर्याप्त जोतों के स्वामी हैं किन्तु जिनके एक–दो बच्चे या आश्रित अन्य समृद्ध किसानों के यहां काम करते हैं।

7.4.2 कृषि श्रम का परिमाण (Magnitude of Agricultural Labour)

कृषि श्रमिकों की संख्या, आय और जीवन मान (Standard of living) आदि के विषय में सही–सही आंकड़ें उपलब्ध नहीं हैं। किन्तु समितियों और आयोगों की रिपोर्टों के

रूप में थोड़ी बहुत जानकारी उपलब्ध है। 1960 में प्रकाशित कृषि श्रम जाँच (Second Agricultural Enquiry) की रिपोर्ट के अनुसार कुल ग्राम परिवारों में कृषि श्रमिक परिवार लगभग 25 प्रतिशत थे। इस जाँच के अनुसार ग्राम श्रमिकों में से 85 प्रतिशत अनियत श्रमिक (Casual labourers) थे, जो किसी भी किसान के यहां काम कर सकते थे। केवल 15 प्रतिशत श्रमिक विशेष भू–स्वामियों के यहां नियत श्रमिक के रूप में काम करते थे। आधे से अधिक श्रमिकों के पास बहुत थोड़ी सी भूमि थी। ऐसे श्रमिकों की संख्या वस्तुतः बहुत कम थी जिनके पास आर्थिक दृष्टि से लाभकर जोत (Economic holding) थी, पर जो श्रम के फालतू होने के कारण दूसरे लोगों के यहाँ काम करते थे।

कृषि मजदूरों की भारी संख्या अनुसूचित जातियों, जनजातियों एवं अन्य पिछड़े वर्गों से है। एक अनुमान के अनुसार कुल कृषि–मजदूरों का 75 से 80 प्रतिशत अनुसूचित जातियों से सम्बन्धित है। ग्रामीण श्रम के राष्ट्रीय आयोग (1991) के अनुसार 1987–88 के दौरान कुल 1.084 लाख ग्राम परिवारों में 430 लाख परिवार ग्रामीण–श्रम–परिवार थे और इनमें 333 लाख परिवार कृषि–श्रम–परिवार थे। सापेक्ष रूप में, कुल ग्रामीण परिवारों में ग्रामीण–श्रम–परिवारों का अनुपात 39.7 प्रतिशत और कृषि–श्रम–परिवारों का 30.7 प्रतिशत था। इसका अर्थ यह हुआ कि कृषि–श्रम–परिवारों की मात्रा 1987–88 में कुल ग्रामीण श्रम परिवारों के 77 प्रतिशत के बराबर थी।

1981 की जनगणना के आँकड़ों से पता चलता है कि कृषि–श्रमिकों की संख्या 644 लाख है। देश में कुल श्रमिकों (मुख्य एवं सीमान्त) की संख्या 2.246 लाख थी और इस प्रकार कृषि श्रमिक कुल श्रम–शक्ति का 26.3 प्रतिशत थे। 1961 मे कृषि–श्रमिकों की संख्या केवल 310 लाख थी। इससे जाहिर है कि कृषि श्रमिकों की तीव्र वृद्धि हुई है। ग्रामीण श्रम पर राष्ट्रीय आयोग ने उल्लेख किया है : ''सत्तर और अस्सी के दशकों के दौरान, ग्रामीण जनसंख्या में 2 प्रतिशत और 1.5 प्रतिशत की क्रमशः वृद्धि हुई है। किन्तु तद्नुरूप दशकों में कृषि–श्रमिकों की संख्या में अपेक्षाकृत अधिक वृद्धि हुई जो क्रमशः 4.1 प्रतिशत और 3.0 प्रतिशत प्रति वर्ष थी।"

सांतवीं ग्रामीण श्रम जाँच (1999–00) के अनुसार, पुरुष एवं स्त्रियों के लिए औसत भृति–रोजगार 222 दिन और 192 दिन प्रति वर्ष था। यह 1993–94 के दौरान औसत 235 दिन और 203 दिनों के क्रमशः पुरुषों एवं स्त्रियों के लिए उपलब्ध भृति रोजगार से कम है। इससे साफ जाहिर है कि भृति–रोजगार के दिनों की संख्या में गिरावट आयी है।

यह भी देखा गया है कि कुल श्रम–शक्ति मे भृति–श्रम (Wage labour) का अनुपात जो 1972–73 में 34.1 प्रतिशत था बढ़कर 1987–88 के दौरान 41.4 प्रतिशत हो गया। इसी अवधि के दौरान, कुल भृति–श्रम में अनियत भृत्ति–श्रम (Casual wage labour) का अनुपात जो 1972–73 में 64.8 प्रतिशत था बढ़कर 1987–88 में 75.8 प्रतिशत हो गया। कृषि श्रम के अनियतीकरण (Casualisation) की बढ़ती हुई प्रवृत्ति की व्याख्या करते हुए, ग्रामीण श्रम पर राष्ट्रीय आयोग ने साफ शब्दों में उल्लेख किया है : ''कृषि में तकनालाजीय परिवर्तन, छोटे किसानों का सीमान्तीकरण (Marginalisation), पारम्परिक कुटीर उद्योगों की समाप्ति, स्फीति आदि कुछ ऐसे महत्त्वपूर्ण कारण तत्त्व हैं जो देश के विभिन्न क्षेत्रों मे अलग–अलग रूप में क्रियाशील हो रहे हैं और इनके परिणामस्वरूप कृषि–श्रमिकों की संख्या बदस्तूर बढ़ती जा रही है।"

भारत की जनगणना (1991) द्वारा उपलब्ध कराए गये आँकड़ों के अनुसार, कृषि–श्रमिकों की संख्या जो 1951 में 275 लाख थी बढ़कर 1991 में 746 लाख हो गयी अर्थात् 40 वर्षों की अवधि में इसमें 171 प्रतिशत की वृद्धि हुई। इसी दौरान कृषि में लगे

हुए कुल कामगारों (काश्तकार जमा कृषि–श्रमिक) की संख्या 1951 में 972 लाख से बढ़कर 191 में 1,853 लाख हो गयी अर्थात् 40 वर्षों में लगभग 91 प्रतिशत की वृद्धि। इससे ग्रामीण श्रम पर राष्ट्रीय आयोग के इस विचार की पुष्टि हो जाती है कि हरित क्रान्ति के परिणामस्वरूप छोटे किसानों के सीमान्तीकरण और मुजारों की बेदखलियों के नतीजे के तौर पर भूमिहीन कृषि–श्रमिकों की संख्या में तीव्र वृद्धि हुई है। इस बात का ध्यान रखना होगा कि जनगणना के आँकड़ें मुख्य कामगारों (Main workers) तक सीमित हैं और इनमें अनियत श्रमिक शामिल नहीं किए गए। परिणामतः कृषि कामगारों में कृषि–श्रमिकों का अनुपात जो 1951 में 28.3 प्रतिशत था बढ़कर 1991 में 40.3 प्रतिशत हो गया।

भू वितरण के औपचारिक आँकड़ों से पता चलता है कि ग्रामीण परिवरों के पास या तो भूमि है ही नहीं या उनके पास एक हेक्टेयर के कम भूमि के अलाभकार टुकड़े हैं। कुल मिलाकर 16 प्रतिशत परिवारों के पास कृषि–आधीन क्षेत्रफल के केवल 8 प्रतिशत है। इनमें 22 प्रतिशत परिवार ऐसे हैं जिनके पास कोई भूमि नहीं है। अन्य 25 प्रतिशत के पास आधे हेक्टेअर (या 1.2 एकड़) के कम भूमि है। अतः ये सीमान्त किसान भूमिहीन किसानों की फोज में भर्ती होते चले जाते हैं। चूँकि ये निर्धनता रेखा की सीमा पर रहते हैं, ये धीरे–धीरे इसके नीचे खिसकते जाते हैं।

7.4.3 कृषि श्रमिकों की हीन आर्थिक दशा के कारण

कृषि श्रमिकों की दयनीय आर्थिक स्थिति के अनेक कारण हैं। उनकी कम मजदूरी और हीन आर्थिक स्थिति के कारणों में प्रमुख कारण निम्नलिखित हैं –

(1) **निम्न सामाजिक स्थिति –** अधिकांश कृषि–श्रमिक युग–युग से उपेक्षित एवं दलित जातियों के सदस्य हैं। निम्न और दलित जातियों के लोग सामाजिक दृष्टि से बंधे एवं घुटे हुए हैं। इमने कभी भी दबंग बनने का साहस नहीं रहा। उनकी स्थिति निरीह–मूक पशुओं की सी रही है।

(2) **असंगठित –** कृषि श्रमिक अनपढ़ और अजागरूक हैं। वे गाँवों में बिखरे हुए असंगठित रूप में रहते हैं। वे अपने को संघों के रूप में संगठित नहीं कर पाए हैं। इनके विपरीत शहरों में श्रमिक अपने को संगठित करने में सफल हो सके हैं। नगरों में राजनीतिक दल भी श्रम–संघों (labour unions) की गतिविधियों में रुचि लेते हैं। कृषि–श्रमिक इस लाभ से सर्वधा वंचित हैं, फलतः वे मदजूरी के सवाल को लेकर जमींदारों से सौदेबाजी नहीं कर सकते।

(3) **मौसमी रोजगार –** कृषि श्रमिक को सारा वर्ष लगातार काम नहीं मिल पाता। सातवें कृषि–श्रम की जाँच (1990–00) के अनुमान के अनुसार कृषि श्रमिक को वर्ष भर में केवल 222 दिन ही काम मिलता है और शेष समय बह बेकार रहता है। ग्राम क्षेत्रों में अल्प रोजगार (Under-employment) के अलावा बेकारी भी है। अल्परोजगार एवं बेकारी दोनों भारतीय कृषि–श्रमिक की कम आय और हीन आर्थिक स्थिति के लिए जिम्मेदार हैं।

(4) **कृषि–भिन्न व्यवसायों की कमी –** ग्रामों में कृषि भिन्न व्यवसायों (Non-agricultural Occupations) की कमी भी कृषि–श्रमिकों की कम मजदूरी और हीन आर्थिक दशा के लिए जिम्मेदार है। ग्रामों में आबादी की निरन्तर वृद्धि के कारण भूमिहीन श्रमिकों की संख्या भी बढ़ती जा रही है। किन्तु दूसरी और खेती–भिन्न काम–धन्धों की कमी तथा एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश में न आने–जाने के कारण जमीन पर आबादी का दबाब और भी अधिक होता जा रहा है।

(5) **ग्राम–ऋणग्रस्ता** (Rural Indebted) – कृषि श्रमिक बुरी तरह ऋण ग्रस्त हैं। साधारणतया, ये श्रमिक अपने भू–स्वामियों से ही ऋण लेते हैं इन्हें कम मजदूरी करने पर बाध्य होना पड़ता है। चूँकि उनके पास रेहन रखने के लिए कुछ भी नहीं होता, वे अपने आपको ही महाजनों और समृद्ध जमींदारों के पास रेहन रख देते हैं और बन्धुआ मजदूर बन जाते हैं।

7.4.4 कृषि श्रमिकों की दशा सुधारने के के लिए सुझाव

कृषि–श्रमिकों की दशा में सुधार करने के लिए निम्नलिखित सुझाव दिए गए हैं–

(1) **कृषि दासता (Agricultural serfdom) समाप्त करना** – कृषि दासता जोकि भारत मे बहुत से भागों में विद्यमान है, समाप्त की जानी चाहिए। वस्तुतः भारत के संविधान में तो सभी प्रकार की दास–प्रथा का निषेध किया गया है। किन्तु शताब्दियों से चलती आ रही दासता आसानी से नहीं मिटाई जा सकती। इसका कारण यह है कि भारत के कृषि अनपढ़ और निस्सहाय हैं। दास–प्रथा की समाप्ति के उपायों में ग्राम–जनता का शिक्षण और उसे अपेक्षाकृत उन्नत अवसर उपलब्ध कराना मुख्य है।

(2) **कृषि क्षेत्र में न्यूनतम मजदूरी नियमों को उचित ढंग से लागू करना –** पंजाब, हरियाणा और केरल को छोड़कर देश के शेष भागों में कृषि–श्रमिकों को बहुत कम मजदूरी मिलती है। उनकी मजदूरी बढ़ाना नितान्त आवश्यक है क्योंकि बिना इसके उनकी आर्थिक दशा सुधारी नहीं जा सकती। न्यूनतम मजदूरी कानून बना देना भर पर्याप्त नहीं, उसे लागू करने के उपाय किए जाने चाहिए।

(3) **भूमिहीन कृषि–श्रमिकों को पुनः बसाना –** कृषि–दासता की दशा सुधारने के लिए भूमिहीन कृषि श्रमिकों को भूमि देना आवश्यक है। इसके अनेक ढ़ंग हो सकते हैं, जिनमें एक यह है कि नई सुधरी भूमि केवल इन्हें बाँट दी जाए। दूसरा उपाय यह है कि विद्यमान भूमि को ही सब लोगों में फिर बाँट दिया जाए। ऐसा स्वेच्छा से भी हो सकता है और अनिवार्य भी। भूदान आन्दोलन का उद्देश्य भूपतियों से भूमिहीनों को स्वैच्छिक रूप में जमीन दिलाना था।

(4) **कृषि में सुधार –** भारतीय कृषि के मौसमी स्वरूप के कारण कृषि–श्रमिकों को पूर्वकालिक रोजगार नहीं मिल पाता। कृषि कार्य बढ़ाने के लिए सघन खेती (Intensive cultivation) और सिंचाई के विस्तार दोनों की अत्यन्त आवश्यता है। इन उपायों से दोहरी फसल होने लगेगी, जिससे श्रमिक को वर्ष भर कार्य मिल सकेगा इसके अतिरिक्त, श्रमिक की उत्पादिता में भी वृद्धि होगी, जिससे उसकी मजदूरी भी बढ़ेगी।

(5) **सार्वजनिक निर्माण कार्यक्रम (Public Works programme)** – ग्राम श्रमिकों को काम दिलाने और ग्राम–श्रम का पूरा–पूरा उपयोग करने के उपायों से बढ़िया उपाय सार्वजनिक निर्माण कार्यक्रम है। सरकार गाँवों में अपनी परियोजनाएँ इस ढंग से अमल में ला सकती है कि रीते मौसम (off-season) में खाली श्रमिकों को काम मिल सके– सड़के बनाना, तालाबों तथा नहरों की खुदाई और उन्हें गहरा करना, जल–संग्रहन (Water harvesting) वनारोपण आदि ऐसी परियोजनाएं हैं।

(6) **कृषि–श्रमिकों के किसान संघ संगठित करना –** जहाँ कहीं भी कृषि श्रमिकों को किसान संघों के रूप में संगठित कर लिया गया, वहाँ उनकी मजदूरी सुरक्षित का जा सकी है और उन्हें शक्तिशाली जमीदारों एवं महाजनों के शोषण से बचाया जा सका। अतः आवश्यकता इस बात की है कि फार्म–श्रमिकों के संगठन पर बल दिया जाए

और सरकार को ऐसे श्रम–संघों की स्थापना में सक्रिय कार्यभाग निभाना चाहिए।

7.4.5 कृषि श्रम से सम्बन्ध में सरकार द्वारा किये गये उपाय –

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् केन्द्र तथा राज्य सरकारें दोनों ने ही कृषि श्रमिकों की दशा उन्नत करने के विषय में प्रशंसनीय कार्य किया है। कृषि श्रमिक की मजदूरी बढ़ाने के विषय में कुछ उपाय किए गए हैं, जिनमें मुख्य ये हैं –

(1) **न्यूनतम मजदूरी अधिनियम –** 1948 में न्यूनतम मजदूरी अधिनियम बनाया गया था। इस अधिनियम के आधीन प्रत्येक राज्य सरकार द्वारा तीन वर्षो में कृषि श्रमिकों की न्यूनतम मजदूरी स्थानीय लागत (local cost) और जीवन –मान को ध्यान में रखकर नियत की जाती है। चूँकि देश के अलग–अलग भागों में स्थिति अलग–अलग है और विधान के अनुसार एक राज्य में मजदूरी दरें अलग–अलग निश्चित की गई हैं। बहुत से राज्यों में मजदूरी की न्यूनतम दर चालू दरों के भी कम नियत की गई है। न्यूनतम मजदूरी अधिनियम व्यवहार में कृषि–श्रमिकों की मजदूरी बढ़ाने मे सफल नहीं हो सका।

(2) **अन्य वैधानिक उपाय –** विधान बनाकर जमींदारी प्रथा सभी राज्यों में समाप्त कर दी गई। इससे सम्बद्ध सभी प्रकार का शोषण भी देश भर मे मिट गया है। इसके अतिरिक्त काश्तकारों और मजदूरों के हितों की रक्षा करने तथा जिस जमीन पर वे खेती करते हैं, इसे प्राप्त करने में उसकी मदद करने के लिए बहुत से राज्यों में काश्तकारी कानून बना दिए गए हैं।

(3) **श्रम सहकारी समितियों (Labour co-operatives) का संगठन –** दूसरी योजना में श्रम सहकारी सेवा सहकारों (Service co-operatives) के निर्माण को प्रोत्सहान देने का प्रयत्न किया गया था. इन सहकारों के सदस्य जो कि श्रमिक होते हैं, सड़के बनाने, नहरें और तालाब खोदने तथा जंगल लगाने आदि सरकारी कामों का ठेका लेते हैं। ये सहकार रीते मौसम (off season) में कृषि श्रमिकों को रोजगार प्रदान करते हैं तथा निजी ठेकेदारों के शोषण से उनकी रक्षा कर सकते हैं।

(4) **रोजगार गारन्टी योजना (Employment Gurantee Scheme) –** महाराष्ट्र सरकार ने रोजगार गारण्टी योजना चालू की जिसके आधीन कोई काम करने योग्य व्यक्ति अपने जिले के जिलाधीश (Collector) या उसके द्वारा अधिकृत किसी छोटे अफसर को रोजगार के लिए प्रार्थना–पत्र दे सकता है। इस योजना के अनुसार सरकार को प्रार्थी को उसके निवास स्थान के 5 किलोमीटर के बीच रोजगार उपलब्ध कराना होगा। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए सरकार को विभिन्न सार्वजनिक निर्माण प्रोग्राम सम्बन्धी योजनाएँ (अर्थात् सिंचाई, सड़क निर्माण आदि) तैयार रखनी होंगी। इनमें मजदूरी की दर ऐसी नहीं होगी जिससे कृषि क्रियाओं में सामान्य रोजगार प्राप्त श्रमिक आकर्षित हो सकें। यह सभी व्यक्तियों को रोजगार उपलब्ध कराने का अभिनन्दनीय कदम है। महाराष्ट्र की सरकार द्वारा सुझाये गए उपाय का अनुकरण करते हुए केन्द्र सरकार ने 2005 में रोजगार गारंटी कानून बनाया है। इसके आधीन प्रत्येक ग्रामीण बेरोजगार परिवार को 100 दिन का रोजगार उपलब्ध कराने का वचन दिया गया है। केन्द्रीय स्तर पर यह एक अद्वितीय कदम है। राज्य सरकारों को इस कानून को लागू करने का निर्देश दिया गया है। इस पर व्यय की 90 प्रतिशत राशि केन्द्र सरकार द्वारा उपलब्ध करायी जायेगी। राज्य सरकारें किस हद तक इस कानून के आधार पर गारंटीकृत रोजगार उपलब्ध कराती हैं। यह कार्यान्वयन की सफलता पर निर्भर

करेगा।

(5) **बन्धुआ श्रम का उन्मूलन (Abolition of Bonded Labour)** – भारतीय संविधान में बन्धुआ श्रम दास्ता प्रथा का एक रूप है और यह अपराध माना गया है। इसी कारण 1975 में 20–सूत्री कार्यक्रम के आधीन इसे समाप्त करने ओर कृषि मजदूरों की दशा सुधारने के कई उपाय किए गए। भारत में भूमिहीन मजदूर जो कुल श्रम–शक्ति का लगभग 26 प्रतिशत हैं, की दशा बहुत ही दयनीय रही है। भूमिहीन श्रमिक समाज का सबसे अधिक शोषित वर्ग है। उनकी आर्थिक दशा को सुधारने और उनके कल्याण को प्रोन्नत करने की और ठोस उपाय करने की आवश्यकता है।

(6) **कृषि श्रमिक सामाजिक सुरक्षा योजना –** कृषि श्रमिक सामाजिक सुरक्षा योजना 1 जुलाई 2001 से शुरु की गयी। इस योजना में 3 रुपये प्रतिदिन का प्रीमियम है जिसमें से 1 रुपया प्रतिदिन अर्थात् (365 रुपये वार्षिक) श्रमिकों द्वारा भुगतान किया जाना है तथा शेष 2 रुपया प्रतिदिन अर्थात् (730 रुपया वार्षिक) केन्द्र सरकार द्वारा दिए जाने का प्रावधान है। इस योजना के लाभ हैं–

1– 60 वर्ष से कम आयु में मृत्यु होने की दशा में 26,000 रुपये, दुर्घटना से मृत्यु अथवा स्थायी अपंगता होने की दशा में 50,000 रुपये देने का प्रावधान है।

2– 60 वर्ष तक जीवित रहने की दशा में 100 रुपये से 1900 रुपये प्रतिमाह पेंशन तथा मृत्यु के बाद 13,000 रुपये से 2.50 लाख रूपये की एकमुश्त राशि बीमित श्रमिक के परिवार को देने का प्रावधान है।

7.4.6 कृषि मजदूर और न्यूनतम मजदूरी (Agricultural Labour and Mainimum Wages)

1948 में न्यूनतम मजदूरी कानून लागू होने के पश्चात् सरकार पर यह दबाव डाला गया कि इस कानून का क्षेत्र विस्तार किया गया किन्तु फिर भी कुछ ऐसे राज्य हैं जिनमें कृषि–श्रम के अधिकतम भाग इस कानून के आधीन न लाए जा सकें। जिन राज्यों में यह कानून लागू भी किया गया, उसमें न्यूनतम मजदूरी के निश्चयन एवं पालन के लिए एक–सी मशीनरी कायम नहीं की गई। मोटे तौर पर यह कहा जा सकता है कि (1) यह कानून प्रत्येक राज्य में मृत–अधिनियम ही रहा है। (2) कृषि में न्यूनतम मजदूरी को बहुत समय से संशोधित नहीं किया गया। (3) लगभग हर जगह, वास्तविक मजदूरी अधिक कामकाज वाले मौसम में न्यूनतम मजदूरी से अधिक हो जाती है और कम कामकाज वाले मौसम में न्यूनतम मजदूरी से कम हो जाती। (4) इस कानून की प्रभावी रूप में पालना करने की मशीनरी बिल्कुल अपर्याप्त है। इस कानून के आधीन न ही मुकदमा चलाया जा सकता है और परिणामतः न ही इसमें सफलता प्राप्त है (5) कानून को लागू करने का अन्य कठिनाइयों में मुख्यतः कृषि मजदूरों में दरिद्रता एवं अनक्षरता, वर्तमान कानून सम्बन्धी जानकारी का अभाव, कृषि फार्मों का बिखरा होना, रोजगार का अनियमित होना, कृषि श्रम का असंगठित होना आदि हैं।

मई 1987 में हुए श्रम मंत्रियों के सम्मेलन में यह सिफारिश की कि न्यूनतम मजदूरी निर्धनता–रेखा के साथ सम्बन्धित होना चाहिए। इस बात को ध्यान में रखते हुए राज्यों को 15 मई, 1990 को यह सलाह दी गई कि न्यूनतम मजदूरी 15 रुपये प्रतिदिन होगी जिसके नीचे प्रत्येक रोजगार के लिए न्यूनतम मजदूरी निश्चित नहीं की जाएगी। किन्तु ग्राम श्रम पर राष्ट्रीय आयोग ने 20 रुपये प्रतिदिन की न्यूनतम मजदूरी निश्चित करने की सिफारिश की।

इन सिफारिशों के परिपालन के लिए, सामान्य न्यूनतम मजदूरी की एक नई धारणा कल्पित की गई जिसमें सामान्य श्रमिकों के लिए खाद्य, ईंधन एवं मकान के रूप में श्रमिकों की अनिवार्यताएं उपलब्ध कराने का निर्णय किया गया जो न्यूनतम मजदूरी कानून के आधीन नहीं आते थे। ध्यान देने योग्य बात यह है कि ग्रामीण निर्धनता का उन्मूलन न्यूनतम मजदूरी की गारन्टी पर निर्भर करता है।

दिसम्बर 1998 में भारत सरकार द्वारा जारी एक अधिसूचना के अनुसार केन्द्र सरकार ने सभी राज्य एवं संघीय क्षेत्रों की सरकारों को निर्देश दिया कि वे असंगठित क्षेत्र में बुनियादी निर्वाह मजदूरी (Basic Subsistence wage) 40 रुपये प्रतिदिन से कम न्यूनतम मजदूरी निश्चित न करें।

श्रम मंत्रालय ने फरवरी 2004 में सभी राज्यों को यह सुझाव दिया कि वे सभी अनुसूचित रोजगारों (Scheduled employment) में न्यूनतम मजदूरी को संशोधित करें और इसे 66 रुपये प्रतिदिन से कम न रखें। 31 दिसम्बर 2004 तक उपलब्ध सूचना के अनुसार विभिन्न राज्जीय सरकारों द्वारा निर्धारित न्यूनतम मजदूरी की न्यूनतम एवं अधिकतम दरें तालिका–3 में दी गयी हैं–

तालिका–7.4.6

विभिन्न राज्यों में न्यूनतम एवं अधिकतम मजदूरी दरें (2008–09)

राज्य	प्रतिदिन न्यूनतम दर (रु.)	न्यूनतम मजदूरी की अधिकम दर (रु.)
1. केरल	72.00	328.00
2. महाराष्ट्र	46.13	201.30
3. तमिलनाडु	57.94	158.70
4.पश्चिम बंगाल	57.01	126.42
5. उत्तर प्रदेश	76.31	115.27
6. कर्नाटक	76.96	132.10
7. गुजरात	55.00	115.80
8. हरियाणा	138.00	138.00
9. असम	54.80	76.60
10. पंजाब	102.60	104.31
11. मध्य प्रदेश	88.20	133.65
12. छत्तीसगढ़	69.00	103.28
13. बिहार	75.00	89.00
14. जम्मू तथा कश्मीर	66.00	66.00
15. उड़ीसा	70.00	70.00
अखिल भारत	**78.00**	**186.00**

स्रोत भारत सरकार, श्रम और रोजगार मंत्रालय, वार्षिक रिपोर्ट (2008–09)

ध्यान देने योग्य बात यह है कि न्यूनतम मजदूरी का निश्चयन इस बात की कोई गारंटी नहीं कि वह कृषि–मजदूरों को दी जाएगी। यह तो इस बात पर निर्भर करता है कि राज्य क्या कार्यभाग अदा करता है और कृषि श्रमिकों में किस हद कर संघीकरण (Unionization) हुआ है।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि कृषि श्रम ग्रामीण जनसंख्या का सब से गरीब वर्ग है। ग्रामीण श्रम के राष्ट्रीय आयोग (National Commission on Rural

Labour) ने यह बात रिकार्ड की है कि 1987–88 में सामान्य ग्रामीण निर्धनता अनुपात के 33.4 प्रतिशत के विरुद्ध ग्रामीण–श्रम–परिवारों में आयोग के अनुसार निर्धनता अनुपात लगभग 57 प्रतिशत था। अतः आयोग ने कई सिफारिशें की हैं ताकि यह वर्ग जो शताब्दियों से घोर निर्धनता में जीवन व्यतीय कर रहा है, निर्धनता स्तर से ऊपर उठ सके। यह सत्य है कि जहाँ कृषि–श्रम ने हरित क्रान्ति में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है, कुछ राज्यों को छोड़ जिनमें मजदूरी में वृद्धि के रूप में कुछ लाभ प्राप्त हुआ है, इसकी सामान्य दशा में उन्नति नहीं हुई है। कृषि–श्रमिकों की सहायता के लिए एक ओर विकास की रोजगार–प्रधान रणनीति की सिफारिश की है और दूसरी ओर कृषि–श्रमिकों के मजदूर संघों की व्यवस्था का सुझाव दिया है ताकि उनकी सौदाशक्ति उन्नत की जा सके। इन प्रयासों की सहायता के लिये आयोग ने संकेत किया है कि केन्द्र सरकार को सामाजिक सुरक्षा की योजना चालू करने के विधान की पहल करनी चाहिए।

ग्रामीण श्रम के राष्ट्रीय आयोग की सिफारिशों के पश्चात् केन्द्र सरकार ने कृषि–श्रमिकों के केन्द्रीय विधान का मसौदा तैयार किया है और इसे राज्यीय श्रम मंत्रियों के 42वें सम्मेलन में 7 जुलाई, 1993 को वितरित किया ताकि उनकी राय जान सके। यह बात बड़ी उत्साहवर्धक है कि केन्द्र सरकार ग्रामीण–श्रम के राष्ट्रीय आयोग की सिफारिशों के कारण जागी है ताकि हमारे समाज के गरीबों में सबसे गरीब वर्ग की दशा सुधारने के लिए कुछ कदम उठा सके।

7.5 अभ्यास प्रश्न

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. कृषि कराधान से आप क्या समझते हैं?
2. कृषि आय पर संक्षिप्त नोट तैयार कीजिए?
3. कृषि पर अतिरिक्त करारोपण हेतु राजसमिति ने कौन से प्रस्ताव दिए? संक्षेप में बताइये।
4. भारत में कृषि श्रम के कितने प्रकार हैं?

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. बाल श्रम उन्मूलन योजना का सम्बन्ध है –
   (A) कृषि उद्योग में लगे बाल श्रमिकों से
   (B) खतरनाक उद्योगों में लगे बाल श्रमिकों से
   (C) कृषि कार्यों में लगे बाल श्रमिकों से
   (D) उपर्युक्त सभी
   Ans. – (B)
2. भारत में अधिकांश अदृश्य बेरोजगारी पायी जाती है –
   (A) कृषि में (B) उद्योग में
   (C) व्यापार में (D) यातायात में
   Ans. – (A)

7.6 सारांश

सम्पूर्ण इकाई के अध्ययन के बाद आप समझ गये होंगे कि कृषि कराधान के माध्यम से जहां एक और धनी किसानों की आय में स्थिरीकरण आया है वहीं दूसरी ओर गरीब किसानों को आर्थिक सहायता पहुँचा कर सरकार उन्हें लाभान्वित करने का प्रयास कर रही है। 21 जनवरी 2004 को किसान कॉल सेन्टर की स्थापना की गयी जिसमें

किसान बिना शुल्क दिए 1551 नम्बर डायल करके कृषि सम्बन्ध जानकारी प्राप्त कर सकता है। इसका एक उदाहरण है।

वही कृषि श्रमिकों की सामाजिक और आर्थिक दशा को सुधारने के लिए भी सरकार ने कई सार्थक कदम उठाए हैं। जिसमें कृषि श्रमिक सुरक्षा योजना 2001 को आज विशेष, महत्व दिया जा रहा है। अतः स्पष्ट है कि कृषि और किसान भारतीय अर्थव्यवस्था के दो प्रमुख स्तम्भ हैं।

7.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

बहुविकल्पीय

1.

Ans. – (B)

2.

Ans. – (A)

7.8 संदर्भ ग्रन्थ सूची

- Report iof the First Agriculatural Labour Enquiry Committee (1951), Government of India.
- NIRD : (1986); Rural Development in India – Some Facts, Hyderabad.
- Sen Amartya (1983), Development, Which Way Now Economic Journal.
- Haq, Mahabubul : (1997); Human Development in South Asia, Oxford University Press, New Delhi.
- Government of India; Report of the National Commission on Agrivulture (1976).
- J. W. Mellow; Economics of Agriculatural Development.
- E. T. Mathew : Agricultural Taxation and Economic Development of India,
- Ved. P. Gandhi; Tax Burden on India Agriculture
- Govenment of India; Direct Tax Enquiry Committee, pg. 45
- Taxation of Agriculaural Land, EPW, Annual No. 1973
- Economic Sumery, 2008-09
- Economic Sumery, 2009-10

7.9 निबन्धात्मक प्रश्न

1. कृषि कराधान से आप क्या समझते हैं?
2. भारतीय कृषि श्रमिकों की समस्याओं का उल्लेख कीजिए इन समस्याओं के निदान हेतु आप क्या सुझाव देंगे?
3. श्रम से क्या आशय है? कृषि श्रमिकों की स्थिति सुधारने के लिए सरकार ने कौन–कौन से कदम उठाये हैं?

इकाई 8 – औद्योगिक विकास एवं नीतियाँ
(INDUSTRIAL DEVELOPMENT AND POLICIES)

8.1 प्रस्तावना
8.2 उद्देश्य
8.3 योजनाकाल में भारत का औद्योगिक विकास
8.4 औद्योगिक समृद्धि के चरण
8.5 औद्योगिक नीति
8.5.1 औद्योगिक नीति का अर्थ
8.5.2 औद्योगिक नीति की आवश्यकताएं
8.6 स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् भारत की औद्योगिक नीति
8.7 अभ्यास प्रश्न
8.8 सारांश
8.9 शब्दावली
8.10 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
8.11 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
8.12 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री?
8.13 निबन्धात्मक प्रश्न

8.1 प्रस्तावना

भारतीय अर्थशास्त्र से सम्बन्धित यह अठारहवीं इकाई है। इससे पहले की इकाईयों के अध्ययन के बाद आप बता सकते हैं कि भारतीय कृषि नीति क्या है? विश्व व्यापार संगठन इसे किस तरह से प्रभावित करता है।

देश के औद्योगिक विकास में औद्योगिक नीतियों एवं पंचवर्षीय योजना के महत्व को जानते हुए भारतीय अर्थशास्त्रियों ने अनेक औद्योगिक नीतियाँ बनायीं है। इन नीतियों के अन्तर्गत सार्वजनिक क्षेत्र और निजी क्षेत्र को स्पष्ट रूप से विभाजित किया गया है। प्रस्तुत इकाई में विस्तार से औद्योगिक नीतियों एवं पंचवर्षीय योजनाओं में भारतीय औद्योगिक विकास का विश्लेषण प्रस्तुत है।

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप औद्योगिक नीति एवं पंचवर्षीय योजना में औद्योगिक विकास तथा इसकी आवश्यकता एवं महत्व को समझा सकेंगे। औद्योगीकरण से सम्बन्धित विचारधारा या दृष्टिकोण का विश्लेषण कर सकेंगे।

8.2 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के बाद आप बता सकेगें कि :

- ✓ पंचवर्षीय योजना में औद्योगिक विकास कैसे हुआ।
- ✓ औद्योगिक नीति का अर्थ एवं इसकी आवश्यकता को समझा सकेंगे।
- ✓ विभिन्न औद्योगिक नीतियों के उद्देश्य को स्पष्ट कर सकेंगे।

8.3 योजनाकाल में भारत का औद्योगिक विकास

सन 1950 में भारत में योजना आयोग का गठन किया गयाद्य जिसके बाद देश के विकास हेतु 1951 में आयोजन अपनाने के बाद योजनाकर्त्ताओं ने देश की अर्थव्यवस्था को सुदृढ़ एवं संतुलित विकास प्रदान करने के लिए औद्योगिक विकास के प्रति विशेष रूचि दिखाई। इसके फलस्वरूप औद्योगिक अर्थव्यवस्था का आधार मजबूत हुआ। योजनाकाल में उद्योगों का विकास उत्साहवर्द्धक रहा है। विभिन्न योजनाओं के अन्तर्गत औद्योगिक विकास निम्न प्रकार हुआ है–

➢ पहली पंचवर्षीय योजना (1951–56)

देश की अल्पविकसित अर्थव्यवस्था तथा आयोजन के पूर्व की परिस्थितियों को देखते हुए योजनाकर्ताओं ने देश की प्रथम पंचवर्षीय योजना में औद्योगिक विकास को नहीं, बल्कि कृषि विकास को सर्वोच्च प्राथमिकता देने का निर्णय लिया। अतः इस योजना में कृषि क्षेत्र की ओर विशेष ध्यान दिया गया था। फिर भी इस योजना के अन्तर्गत औद्योगिक विकास की उपेक्षा नहीं की गई थी। इस योजना के अन्तर्गत केन्द्र एवं राज्य सरकार द्वारा किया गया कुल व्यय रू0 2069 करोड़ था। सार्वजनिक क्षेत्र के विकास कार्यक्रमों पर किया गया कुल व्यय निम्न तालिका 8.3 से स्पष्ट है :

तालिका–8.3 : प्रथम पंचवर्षीय योजना में किया गया कुल व्यय

रू0 करोड़ प्रतिशत

मद	कुल व्यय	प्रतिशत
कृषि एवं जन–समुदाय विकास	361	17.5
सिंचाई	168	8.1
बहुउद्देशीय सिंचाई एवं ऊर्जा परियोजना	266	12.9
ऊर्जा	127	6.1
परिवहन एवं संचार	497	24.0
उद्योग	173	8.4
सामाजिक सेवाएं (Social Services)	340	16.4
पुनर्वास (Rehabilitation)	85	4.1
अन्य	52	2.5
कुल व्यय	2069	100

स्रोतः प्रथम पंचवर्षीय योजना (1951–56) भारत सरकार, योजना आयोग, भारत सरकार, नई दिल्ली।

इस योजना के अन्तर्गत उद्योग पर किया गया व्यय रू0 173 करोड़ था जिसमें से रू0 140 करोड़ वृहद उद्योगों में लगाया गया और रू0 27 करोड़ कुटीर एवं लघु उद्योगों में लगाया गया। विज्ञान एवं औद्योगिक अनुसंधान और खनिज पदार्थ के विकास के लिए रू0 6 करोड़ व्यय किए गये। इस योजना में औद्योगिक विकास के लिए कुल विनिमय रू0 477 करोड़ था।

प्रगति

पहली पंचवर्षीय योजना में औद्योगिक विकास मुख्य रूप से उपभोक्ता वस्तु, उद्योग जैसे सूती वस्त्र, चीनी, नमक, कागज आदि उद्योग तक सीमित था। मध्यवर्ती उद्योग जैसे कोयला, सीमेण्ट, इस्पात, ऊर्जा शक्ति, अलौह धातुएँ, रसायन इत्यादि भी थे परन्तु उनकी उत्पादन (सीमेण्ट को छोड़कर) आवश्यकता से काफी कम थी। पूँजीगत वस्तु उद्योग की शुरूआत की गई थी। इस योजनाकाल में अनेक आधारभूत उद्योगों सार्वजनिक क्षेत्र में स्थापित किए गए– जैसे हिन्दुस्तान शिपयार्ड, हिन्दुस्तान मशीन, टूल्स, सिन्दरी फर्टिलाइजर फैक्ट्री (अमोनियम सल्फेट) हिन्दुस्तान एंटीबॉयाटिक्स, हिन्दुस्तान केबिल्स, हिन्दुस्तान इंसैक्टिसाइड्स, इंट्रीगल कोच फैक्ट्री, यू0पी0 गवर्नमेण्ट सीमेंट फैक्ट्री तथा नेपा (न्यूजप्रिंट) निजी क्षेत्र में भी बाइसिकल, टाइपराइटर्स, डीजल पम्प एवं इंजन मशीनरी औजार आदि के उत्पादन में काफी वृद्धि हुई। इस अवधि में औद्योगिक उत्पादन में 74 प्रतिशत की वृद्धि हुई।

➢ दूसरी पंचवर्षीय योजना (1956–61)

प्रथम पंचवर्षीय योजनाकाल में कृषि क्षेत्र में काफी प्रगति होने के कारण देश में तीव्र औद्योगिक विकास के लिए स्थितियाँ अब कहीं अधिक अनुकूल थी। फलस्वरूप दूसरी पंचवर्षीय योजना में औद्योगिकरण पर विशेष बल दिया गया। इस योजना का कुल व्यय रू0 4800 करोड़ था जिसमें से रू0 3800 करोड़ पूँजीगत उद्योगों के विकास के लिए रखा गया शेष राशि रू0 1000 करोड़ चालू विकास खर्च के लिए

रखा गया। सार्वजनिक क्षेत्र के बड़े पैमाने के उद्योग जिसमें खनन, अनुसंधान इत्यादि के लिए रू0 690 करोड़ निर्धारित किए गये।

इस योजना के अन्तर्गत आधारभूत उद्योग जैसे लोहा एवं इस्पात, कोयला, उर्वरक, इंजीनियरिग, उद्योग एवं भारी इलेक्ट्रिकल कल–पूर्जों व मशीनों के विकास पर बल दिया गया। ग्रामीण एवं लघु और कुटीर उद्योगों के विकास के लिए रू0 200 करोड़ निर्धारित किए गये। इसमें से रू0 59.5 करोड़ और रू0 55 करोड़ हैण्डलूम उद्योग एंव लघु पैमाने के उद्योग के लिए खर्च किए गये तथा रू0 55.5 करोड़ खादी एवं ग्रामीण उद्योग पर व्यय किये गये। इस योजना में उन उद्योगों के विकास को महत्व दिया गया जो देश की अर्थव्यवस्था को सुदृढ़, आत्मनिर्भर बनाने में मदद कर सकें। ये उद्योग थे–इस्पात, पूँजीगत उद्योग, मशीन टूल्स आदि। सार्वजनिक क्षेत्र के उद्योगों के साथ–साथ निजी क्षेत्र के उद्योगों में भी रू0 575 करोड़ नया विनिवेश इस उम्मीद से किया गया कि ये उद्योग योजना के उद्देश्यों की पूर्ति के लिए कार्य करेंगे।

प्रगति

1. सार्वजनिक क्षेत्र में तीन बड़े इस्पात कारखानों की स्थापना भिलाई, राउरकेला, और दुर्गापुर में लगाये गये।
2. सार्वजनिक क्षेत्र ने लोहा व इस्पात, लिग्नाइट, उर्वरक, रेलवे इंजन व डिब्बे, मशीन टूल्स, भारी रसायन, जहाज निर्माण, एंटिबायोटिक्स इत्यादि का उत्पादन शुरू कर दिया।
3. इस योजना में विनिर्माण क्षेत्र में उत्पादन की वृद्धि दर का लक्ष्य 10.5 प्रतिशत प्रतिवर्ष रखा गया था लेकिन 7.25 प्रति वर्ष प्राप्त किया जा सका।
4. इस योजना में मूल उद्योगों (Basic Industries) का विकास तीव्र गति से हुआ।

➢ तीसरी पंचवर्षीय योजना (1961–66)

पंचवर्षीय योजना में औद्योगिक विकास का आधार बनाने का लक्ष्य रखा गया वही तीसरी पंचवर्षीय योजना में इस आधार को और मजबूत बनाने और इसका आगे विस्तार एवं उत्पादक उद्योगों की विद्यमान क्षमताओं को पूर्ण उपयोग करने एवं नवीन क्षमताओं का सृजन करने का प्रयास किया गया। इस योजनाकाल में उन औद्योगिक परियोजनाओं को सर्वोच्च प्राथमिकता दी गयी जिन्हें विदेशी विनिमय संकट के कारण कुछ समय के लिए स्थगित करना पड़ा था। उत्पादन क्षमता में तीव्र गति से विस्तार सुनिश्चित करने के लिए उत्पादन उद्योगों (भारी मशीनरी तथा इंजीनियरिंग, लोहा व इस्पात, उर्वरक तथा पेट्रोलियम) को प्राथमिकता की दृष्टि से दूसरा स्थान प्रदान किया गया। तीसरे स्थान पर आधारभूत कच्चे पदार्थ जैसे अल्युमीनियम, खनिज तथा रासायनिक तत्वों के उत्पादन को रखा गया। इसके अतिरिक्त औद्योगिक विस्तार के कार्यक्रम पर बल दिया गया विशेषकर पूँजीगत एवं उत्पादक उद्योग जिसमें प्रबन्धन क्षमता को बढ़ाना, तकनीकी विकास पर विशेष जोर दिया गया। इस योजना का कुल व्यय रू0 7500 करोड़ था।

प्रगति

1. अल्युमीनियम, आटोमोबाइल्स, बिजली के ट्रांसफार्मस, मशीन टूल्स, डीजल इन्जन, वस्त्र उद्योग के लिए आवश्यक मशीनरी इत्यादि में 15 प्रतिशत प्रतिवर्ष से भी अधिक संवृद्धि दर प्राप्त करने में सफलता मिली।

2. इस योजनाकाल के शुरूआत में तो औद्योगिक उत्पादन में काफी तेजी से वृद्धि हुई परन्तु अन्तिम वर्ष में उत्पादन में कमी आ गयी। कुल मिलाकर औद्यागिक उत्पादन में 6.8 प्रतिशत वार्षिक दर से वृद्धि हुई, जो निर्धारित लक्ष्य (10.7 प्रतिशत) से लगभग चार प्रतिशत कम थी।

➢ वार्षिक योजनाएँ (1966–69)

तीसरी पंचवर्षीय योजना के बाद चौथी पंचवर्षीय योजना को तीन वर्षों के लिए स्थगित करना पड़ा और इस अवधि में (1966–69) में तीन वार्षिक योजनाओं का सहारा लिया गया। अन्तिम 8 वर्ष में (जिसमें तीसरी पंचवर्षीय योजना और वार्षिक योजना भी शामिल है) औद्योगिक प्रगति में काफी उतार–चढ़ाव देखने को मिला। प्रथम चार वर्ष औद्योगिक निवेश एवं संवृद्धि के अनुकूलतम थे परन्तु उसके बाद के तीन वर्षों में अर्थव्यवस्था में स्थिरता सी आ गयी। 1964–65 की अवधि में दो भयंकर सूखा एवं 1965 के युद्ध के कारण औद्योगिक संवृद्धि में गिरावट हुई।

प्रगति

1. 1968–69 के अन्त में 1,40,000 लघु पैमाने की इकाईयों का पंजीकरण हुआ।
2. 1961–69 के दौरान सहकारी औद्योगिक इकाईयों जिसमें हैण्डलूम, हैण्डीक्राफ्ट आदि शामिल थी। इनकी संख्या 37,000 से बढ़कर 51,000 तक पहुँच गयी। इनके सदस्यों की संख्या भी 2.92 मिलियन से बढ़कर 3.88 मिलियन हो गयी। इनके बिक्री में भी वृद्धि दर्ज हुई जो 111.9 करोड़ से बढ़कर 331.9 करोड़ हो गयी।
3. 1967–68 में कृषि उत्पादन में वृद्धि होने के कारण औद्योगिक प्रगति में सुधार हुआ।
4. 1968 में ही आगत क्रान्ति (अर्थात्, बीज, उर्वरक, सिंचाई) हुई जिसे हरित क्रान्ति के नाम से जानते है।

➢ चौथी पंचवर्षीय योजना (1969–74)

चौथी योजना के अन्तर्गत औद्योगिक ढ़ाँचे के असंतुलन को दूर करने एवं सृजित क्षमता को अधिकतम उपयोग मे लाये जाने पर विशेष बल दिया गया। इस योजना काल का कुल व्यय रू0 24882 करोड़ निर्धारित किया गया। कुल व्यय में से रू0 15902 करोड़ और रू0 8980 करोड़ सार्वजनिक क्षेत्र और निजी क्षेत्र के लिए क्रमशः निर्धारित किया गया। निवेश के लिए रू0 13655 करोड़ और उत्पादक पूँजी के लिए 22635 करोड़ रूपये के व्यय की व्यवस्था की गयी। 2247 करोड़ रूपये चालू व्यय के लिए निर्धारित की गयी। इस योजना में औद्योगिक निवेश के लिए निम्न उद्देश्य रखे गयेः (1) पहले से चल रहे विनियोग कार्यों को पूरा करना, (2) भावी विकास की आवश्यकतानुसार वर्तमान क्षमता में वृद्धि लाना, विशेष रूप से आयात–प्रतिस्थापन एवं निर्यात–संवर्धन की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए पर्याप्त मात्रा में जरूरी चीजों को देश में उपलब्ध करने के लिए व्यवस्था, (3) घरेलू उपलब्धियों को ध्यान में रखते हुए नये उद्योगों की स्थापना अथवा उद्योगों के लिए नये आधारों को निर्माण करना।

प्रगति

औद्योगिक उत्पादन में मात्र 3.9 प्रतिशत प्रतिवर्ष की वृद्धि हुई जबकि लक्ष्य 8.10 प्रतिशत प्रति वर्ष था। इस धीमी विकास के कई कारण जिम्मेदार थे जिनमें मुख्य निम्नलिखित हैः

(1) माँग की कमी,
(2) आधारभूत कच्चे माल की कमी,
(3) मजदूरों में बढ़ती हुई कीमतों के कारण असन्तोष
4) परिवहन सम्बन्धी कठिनाइयाँ,
(5) ऊर्जा शक्ति की कमी।

➢ पाँचवी पंचवर्षीय योजना (1974–79)

चौथी योजना के काल में औद्योगिक क्षेत्र में हुई असन्तोषजनक प्रगति को ध्यान में रखते हुए पाँचवी पंचवर्षीय योजना मे आत्म निर्भरता तथा संवृद्धि के साथ सामाजिक न्याय के उद्देश्यों को प्राथमिकता दी गयी। निवेश और उत्पादन के निम्न पैटर्न की संकल्पना की गयीः दीर्घकालिक आर्थिक विकास की दृष्टि से प्रमुख क्षेत्र या आधार मूलक क्षेत्र (Core sector) उद्योग जैसे इस्पात, अलौह धातु, उर्वरक, खनिज तेल, कोयला और मशीन निर्माण उद्योगों के विस्तार को उच्च प्राथमिकता दी गयी। निर्यात संवर्धन उद्योग, लोक–उपभोग वस्तुओं की पर्याप्त आपूर्ति, ग्रामीण व लघु उद्योगों को बढ़ावा, औद्योगिक दृष्टि से पिछड़े हुए इलाकों का विकास, तथा अनावश्यक वस्तुएँ के उत्पादन पर रोक लगायी गई। पाँचवी योजना का कुल व्यय 39,426 करोड़ रूपये था जिसमें औद्योगिक क्षेत्र का हिस्सा 8,989 करोड़ रूपये (22. 8 प्रतिशत) था।

प्रगति

1. औद्योगिक संवृद्धि का लक्ष्य 7 प्रतिशत प्रतिवर्ष रखा गया था जबकि उपलब्धि 5.9 प्रति वर्ष रही।
2. औद्योगिक सम्बन्धों में बिगाड़ तथा असन्तोषजनक प्रबन्धन।
3. इस योजना के राष्ट्रीय खाद्यान्न सुरक्षा प्रणाली के कारण 1979 के सूखे को बिना खाद्यान्न आयात के ही काबू पा लिया गया।

➢ छठीं पंचवर्षीय योजना (1980–85)

छठीं पंचवर्षीय योजना में गरीबी उन्मूलन के कार्यक्रम चलाये गये। इस योजना के अन्तर्गत आधारभूत ढाँचा एवं औद्योगिक विकास को बहुत ऊँची प्राथमिकता दी गयी। उपलब्ध संसाधनों का अधिकतम प्रयोग, उत्पादन एवं उत्पादकता में सुधार, प्रविधि का विकास आदि पर बहुत जोर दिया गया। सार्वजनिक क्षेत्र के अन्तर्गत बड़े पैमाने के उद्योगों के विकास पर अधिक बल दिया गया। औद्योगिक विकास के सन्दर्भ में इन बातों पर विशेष ध्यान दिया गया– (1) उपभोग वस्तुओं एवं पूँजीगत वस्तुओं के उत्पादन को बढ़ाना, (2) उत्पादन तकनीकी में सुधार लाने के लिए अनुसंधान की समुचित व्यवस्था करना, तथा (3) पिछड़े क्षेत्रों के विकास के लिए नये उपायों की खोज करना अथवा उपयुक्त कार्य–नीतियाँ तैयार करना आदि। इस योजना में सार्वजनिक क्षेत्र के विकास के लिए 97500 करोड़ रूपये 1979–80 के कीमत पर निर्धारित किया गया।

प्रगति

1. औद्योगिक उत्पादन में 5 गुना की वृद्धि दर्ज की गयी।
2. औद्योगिक उत्पादन में वार्षिक वृद्धि दर लगभग 6.2 प्रतिशत थी, जो 6.9 प्रतिशत के निर्धारित लक्ष्य से थोड़ी कम थी।

➢ सातवीं पंचवर्षीय योजना (1985–90)

सामाजिक न्याय, आत्मनिर्भरता, आधुनिकीकरण के साथ आर्थिक संवृद्धि तथा उत्पादकता में सुधार के निर्देशक सिद्धान्तों के अनुसार सांतवी पंचवर्षीय योजना में औद्योगिक क्षेत्र के लिए निम्न उद्देश्य निर्धारित किए गये :

(1) उचित कीमतों पर और अच्छे किस्म की लोक–उपभोग की वस्तुओं की पर्याप्त आपूर्ति को सुनश्चित करना,

(2) व्यापक घरेलू बाजार तथा निर्यात संभाव्यता वाले उद्योगों के विकास पर जोर देना,

(3) उपलब्ध सुविधाओं का पुनर्गठन और तकनीकी सुधार के साथ भरपूर प्रयोग करना,

(4) नये एवं उभरते हुए उद्योग (Sunrise Industries) का विकास करना जैसे– इलेक्ट्रानिक्स एवं कम्प्यूटर उद्योग आदि तथा

(5) महत्वपूर्ण क्षेत्रों में आत्मनिर्भरता एवं कुशल और प्रशिक्षित श्रमिकों के रोजगार सृजन की दिशा में एकीकृत नीति अपनाना। इस योजना के अन्तर्गत रोजगार सृजन एवं उत्पादन में वृद्धि के अलावा सामाजिक आर्थिक उद्देश्य भी रखे गये थे जैसे संवृद्धि का क्षेत्रीय फैलाव, ग्रामीण और लघु उद्योगों के विकास को बढ़ावा देना तथा एकाधिकार को रोकना आदि।

प्रगति

1. योजना के प्रथम दो वर्षों में प्रगति संतोषजनक रही। दोनो वर्षों में प्रगति लक्ष्य से अधिक रही। वार्षिक वृद्धि दर 1985–86 में 8.7 प्रतिशत और 1981–87 में 9. 1 प्रतिशत थी।
2. इस योजनाकाल में औद्योगिक उत्पादन में हुई वार्षिक वृद्धि दर 8.5 प्रतिशत थी, जो कि 8.3 प्रतिशत के निर्धारित लक्ष्य से थोड़ी सी अधिक थी।

➢ वार्षिक योजना (1991–92)

इस योजना अवधि में 22 जुलाई 1991 को औद्योगिक नीति बनाई गयी इसके अन्तर्गत जो 17 उद्योग सार्वजनिक क्षेत्र मे थे उनको घटा कर 8 कर दिया गया। शेष उद्योग निजी क्षेत्र के लिए खोल दिये गए।

प्रगति

1. मार्च 31, 1991 में भारत सरकार का 246 केन्द्रीय लोक क्षेत्र उद्यम (PSE) का स्वामित्व था। जिसमें कुल निवेश 1.13,234 करोड़ था। इन उद्यमों में से मात्र 236 सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यम कार्यरत थे जिसमें 101,702 करोड़ की पूँजी लगी थी और 23.1 लाख कर्मचारी थे। इसमे से 131 उद्यम 1990–91 की अवधि मे 5,731 करोड़ का लाभ कमाये तथा 109 उद्यमों को 3064 करोड़ रूपये की हानि हुई।
2. 1991 मे ही नयी आर्थिक नीति का निर्माण हुआ जिसे उदारीकरण, निजीकरण और वैश्वीकरण के नाम से जाना गया।

3. अगस्त 1991 में लघु, सूक्ष्म एवं ग्रामीण उद्योग के लिए पैकेज नीति तैयार की गयी।

➢ आठवीं पंचवर्षीय योजना (1992–97)

आठवीं पंचवर्षीय योजना में आर्थिक सुधार एवं उदारीकरण का दौर आरम्भ हुआ जिसमें वर्ष 1991 में प्रस्तुत उदारीकृत औद्योगिक नीति के अधीन आठवीं योजना में मात्रात्मक लक्ष्यों पर कम जोर दिया गया। विभिन्न क्षेत्रों में वांछित संवृद्धि प्राप्त करने के लिए इस योजना में औद्योगिक, व्यापार तथा राजकोषीय नीतियों में आवश्यक फेर बदल तथा करों व शुल्कों में परिवर्तनों का सहारा लेने की बात की गई न कि आयातों/निर्यातो पर मात्रात्मक प्रतिबन्ध अथवा लाइसेसिंग पद्धति का सहारा। 1991 में अपनाई गई नई औद्योगिक नीति के नये उदारीकृत रूप में निजी क्षेत्र पर अधिक जोर दिया गया जिसके कारण सार्वजनिक क्षेत्र के औद्योगिक कार्यक्रमों के लिए परिव्यय कम कर दिया गया। सार्वजनिक क्षेत्र अब अधिकाधिक रूप से मूलभूत (Basic) तथा कोर (Core) उद्योगों तक ही केन्द्रित कर दिया गया।

प्रगति

1. औद्योगिक क्षेत्र के लिए आठवीं योजना में 7.3 प्रतिशत प्रति वर्ष संवृद्धि का लक्ष्य रखा गया जबकि उपलब्धि 7.4 प्रतिशत प्राप्ति प्रति वर्ष रही।
2. उत्पादन वृद्धि दर 1992–93 में 4.2 प्रतिशत थी जबकि 1996–97 में अनुमानित वृद्धि दर (8.7 प्रतिशत) के आधार पर इस योजना के दौरान वृद्धि दर 8.1 प्रतिशत आँकी गयी जो निर्धारित औद्योगिक विकास के वार्षिक लक्ष्य 8.2 प्रतिशत के लगभग बराबर थी।

➢ नौवी पंचवर्षीय योजना (1997–2002)

नौवीं पंचवर्षीय योजना का लक्ष्य 'न्यायपूर्ण वितरण एवं समानता के साथ विकास' रचा गया। विभिन्न कारणों से इस योजना में सर्वोच्च प्राथमिकता उर्जा के विकास को दी गयी। उसके बाद प्राथमिकता क्रम में समाज सेवा, कृषि और परिवहन का स्थान रहा। इस प्रकार उद्योग को दी गयी प्राथमिकता अपेक्षाकृत काफी नीची रही। नौंवी योजना में औद्योगिक सवृद्धि का लक्ष्य 8.2 प्रतिशत प्रति वर्ष रखा गया। इस योजना में औद्योगिक विकास के लिए निम्न नीतियों को अपनाने की बात की गई :

1. पर्याप्त मात्रा में तथा उपयुक्त किस्म की आधारिक संरचना प्रदान करना,
2. औद्योगिक और वित्तीय पुनः संरचना बोर्ड के कामकाज की समीक्षा करना और उसमें ऐसे परिवर्तन लाना जिससे कि बीमार औद्योगिक इकाईयों को पुनः जीवनदान दिया जा सके तथा जिन बीमार सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यमों को पुनः जीवित करना संभव नहीं है उन्हें बन्द करने के लिए आवश्यक कदम उठाना
3. उत्तर–पूर्वी राज्यों के औद्योगिक विकास के लिए एक विशिष्ट पैकेज (special package) कार्यक्रम अपनाना,
4. पिछड़े क्षेत्रों में उद्योगों के विकास के लिए विशिष्ट कदम उठाना,
5. असंगठित औद्योगिक क्षेत्रों के विकास के लिए एक ही स्थान पर प्रशिक्षण, कौशल (Skill) में सुधार काम करने के औजारों (tool kits) में सुधार की व्यवस्था करना।

6. लघु क्षेत्र की इकाईयों के उत्पादन एवं उत्पादकता में वृद्धि के लिए प्रौद्योगिक एवं साख की उपयुक्त मात्रा उपलब्ध कराना।

प्रगति

1. इस योजना के दौरान विकास दर 6.5 प्रतिशत प्रति वर्ष रखी गयी थी लेकिन प्राप्ति केवल 5.5 प्रतिशत रही।
2. विश्वव्यापी आर्थिक मंदी के प्रभाव में इस योजना काल में प्रगति असन्तोषजनक रही।

➢ दसवीं पंचवर्षीय योजना (2002–2007)

उदारीकरण, निजीकरण एवं वैश्वीकरण के दौर में इस योजना काल में उद्योग और खनन के लिए 58,938 करोड़ रूपये का परिव्यय रखा गया था जो कुल योजना परिव्यय 15,25,639 करोड़ रूपये का मात्र 3.9 प्रतिशत था। इस सन्दर्भ में दसवीं योजना के दस्तावेज का यह कथन महत्वपूर्ण है : *''देश की औद्योगिक विकास युक्ति में इस प्रकार परिवर्तन किए जा रहे है जिससे निजी क्षेत्र उत्पादन, रोजगार तथा आय–सृजन के क्षेत्र में अपनी 'सम्पूर्ण उद्यम–क्षमता' (full employment potential) को पूरी तरह प्राप्त कर सके। जब तक आर्थिक वातावरण निजी क्षेत्र के उत्पादन में हिस्सेदारी को बढ़ाने के लिए पूरी तरह से सहयोग नहीं करता तब तक औद्योगिक विकास व संवृद्धि संभव नहीं है।''* औद्योगिक विकास की दर 10 प्रतिशत प्रतिवर्ष रखा गया। दसवीं योजना के औद्योगिक उद्देश्य निम्नलिखित थेः

1. ग्रामीण कृषि व्यवस्था को नगरीय औद्योगिक व्यवस्था में बदलना,
2. औद्योगिक विकास के द्वारा कुशल श्रमिकों के लिए औद्योगिक क्षेत्र में रोजगार सृजन करना,
3. विश्व निर्यात में भारतीय विनिर्मित वस्तुओं के हिस्से में वृद्धि करना,
4. औद्योगिक विकास के द्वारा उत्पन्न क्षेत्रीय विषमताओं को कम करना।

प्रगति

1. निजी क्षेत्र के उद्योगों का विकास हुआ।
2. अर्थव्यवस्था के तीनों प्रमुख क्षेत्रों कृषि, उद्योग व सेवा क्षेत्र में वृद्धि दरें निर्धारित किए गए लक्ष्यों के वृद्धि काफी निकट रही,
3. उद्योग एवं सेवाओं के क्षेत्र में सालाना वृद्धि क्रमशः 8.90 प्रतिशत व 9.40 प्रतिशत प्रति वर्ष का लक्ष्य था, इन क्षेत्रों में क्रमशः 9.17 प्रतिशत व 9.30 प्रतिशत की सालाना वृद्धि प्राप्त की गयी।
4. इस योजना में निवेश की दर सकल घरेलू उत्पाद का 32.1 रही है, जबकि लक्ष्य 28.41 प्रतिशत का था।

➢ ग्यारहवीं पंचवर्षीय योजना (2007–2012)

ग्यारहवीं पंचवर्षीय योजना का केन्द्रीय लक्ष्य है – *''तीव्र गति के साथ आर्थिक समावेशी विकास''* (Towards faster and more inclusive growth) इस पंचवर्षीय योजना का कुल अनुमानित व्यय 36,44,718 करोड़ रूपये था जिसमें केन्द्र सरकार और राज्य व केन्द्रशासित प्रदेश का क्रमशः 2156571 करोड़ रू0 व 1488147 करोड़ रूपया का भागीदारी था। ग्यारहवीं पंचवर्षीय योजना में सकल घरेलू उत्पादन का 9.

0 प्रतिशत संवृद्धि दर प्राप्त करने का लक्ष्य रखा गया है। ग्यारहवीं पंचवर्षीय योजना का भौतिक लक्ष्य तालिका 8.3 में दिया गया है।

तालिका–8.3 : प्रथम पंचवर्षीय योजना में किया गया कुल व्यय

मदें	2007–08	2008–09	2009–10	2010–11	2011–12	CAGR
उत्पादन (चालू कीमत पर करोड़ रू0 में)	6836213	816705	977144	1169112	1398803	15.4%
रोजगारी (व्यक्ति, लाख में)	322.28	338.39	355.31	373.08	391.73	**4**%

Source: Government of India, Planning Commission, XIth Five Year Plan, Vol.III, New Delhi.

CAGR : Compound Annual Growth Rate.

इस योजना के मुख्य औद्योगिक लक्ष्य निम्नलिखित है :

1. 9 प्रतिशत प्रति वर्ष संवृद्धि दर के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए यह अनुमान लगाया गया है कि उद्योग और विनिर्माण को प्रति वर्ष 9.8 प्रतिशत की औसत दर से वृद्धि करनी होगी।
2. वर्ष 2015 तक उद्योगों को अन्तर्राष्ट्रीय स्तर की सुरक्षा एवं प्रदूषण के मानक को अपनाना।
3. जहाज निर्माण के क्षेत्र में अनुसंधान एवं विकास के लिए 170 करोड़ रूपये का आवंटन किया गया।
4. खनन मंत्रालय को 8404 करोड़ रूपये आवंटित किए गये
5. सार्वजनिक क्षेत्र के संसाधनों को सकल घरेलू उत्पादन का 9.46 प्रतिशत जो दसवी पंचवर्षीय योजना में थी को बढ़ाकर ग्यारहवीं पंचवर्षीय योजना में 13.54 प्रतिशत का लक्ष्य रखा गया है।

8.4 औद्योगिक संवृद्धि के चरण

औद्योगिक संवृद्धि को अध्ययन की दृष्टि से तीन चरणों में बाँटा जाता है जिसे चार्ट 8.4.1 के द्वारा दर्शाया गया है–

चार्ट–8.4.1

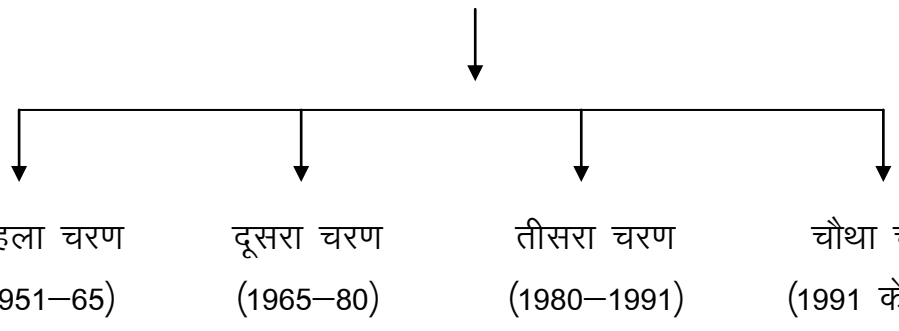

➢ औद्योगिक संवृद्धि का पहला चरण (1951–65)

औद्योगिक संवृद्धि के पहले चरण में प्रथम तीन पंचवर्षीय योजनाओं का काल आता है। इस चरण में औद्योगिक विकास के लिए मजबूत आधार तैयार किया गया। हैरोड–डोमर मॉडल पर आधारित प्रथम पंचवर्षीय योजना में कृषि विकास व असंतुलन को दूर करने की रणनीति बनायी गयी। महालानोविस मॉडल पर आधारित दूसरी पंचवर्षीय योजना एवं जॉन सैण्डी एवं चक्रवर्ती मॉडल पर आधारित तीसरी पंचवर्षीय योजना में पूँजीगत वस्तु उद्योगों तथा मूलभूत उद्योगों के विकास पर विशेष जोर दिया गया। पहली तीन योजनाओं में औद्योगिक उत्पादन की वार्षिक वृद्धि दर में बढ़ोत्तरी हुई और यह दर पहली योजना में 5.7 प्रतिशत बढ़कर दूसरी योजना में 7.2 प्रतिशत तथा तीसरी पंचवर्षीय योजना में 9.0 प्रतिशत हो गयी।

➢ औद्योगिक संवृद्धि का दूसरा चरण (1965–80)

औद्योगिक संवृद्धि दर 1966 से 1976 की अवधि में मात्र 4.1 प्रतिशत प्रतिवर्ष रही। 1966–80 की अवधि में पूँजीगत वस्तु उद्योगों तथा मूल उद्योगों की संवृद्धि दरों में गिरावट आयी थी। इसका कारण था संरचनात्मक प्रतिगमन अर्थात इस अवधि में प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष तौर पर उच्च आय वर्गों के लिए विलासिता की उपभोग वस्तुओं का उत्पादन किया गया। उदाहरण के लिए महंगे कपड़े, मदिरा, परफ्यूम व कास्मेटिक्स, इलेक्ट्रानिक वस्तुएं और घड़ियाँ इत्यादि। 1965 से 1980 के बीच औद्योगिक क्षेत्र में मंदी व संरचनात्मक प्रतिगमन के लिए अर्थशास्त्रियों ने अलग–अलग कारकों को जिम्मेदार ठहराया जो निम्नलिखित है–

(क) सरकार ने बाह्य कारकों जैसे 1965 व 1971 के युद्ध, 1973 के तेल संकट, सुखे की स्थिति, आधारिक संरचना (विशेष तौर पर बिजली व परिवहन) को जिम्मेदार ठहराया।

(ख) के. एन. राज ने कृषि क्षेत्र में अपर्याप्त संवृद्धि होने के कारण औद्योगिक वस्तुओं की माँग में कमी को जिम्मेदार ठहराया।

(ग) पी. पटनायक और एस. के. राव के अनुसार दूसरे चरण में जहाँ सार्वजनिक क्षेत्र में निवेश कम हुआ वहीं दूसरी तरफ निजी क्षेत्र में निवेश के लिए प्रोत्साहन कम हुआ।

➢ औद्योगिक संवृद्धि तीसरा चरण (1980–1991)

इस काल को मोटे रूप में औद्योगिक पुनरूत्थान का काल कहा जाता है। 1980–81 के आधार वर्ष पर आधारित औद्योगिक उत्पादन की संवृद्धि दर 1981–85 में 6.4 प्रतिशत प्रतिवर्ष थी जो सातवीं योजना (1985–90) में बढ़कर 8.5 प्रतिशत प्रतिवर्ष हो गयी तथा 1990–91 में घटकर 8.3 प्रतिशत रह गयी। 1980 के दशक में औद्योगिक पुनरूत्थान के निम्नलिखित कारण थे :

(क) सरकार की उदार औद्योगिक व व्यापार नीतियों ने वस्तुओं की पूर्ति को बढ़ाने में मदद किया।

(ख) उदार राजकोषीय नीति अपनाने से निर्मित्त वस्तुओं की माँग में वृद्धि हुई। उदार राजकोषीय व्यवस्था के मुख्य तत्व थे

(1) बजट घाटा,

(2) ऊँची ब्याज दरों पर अधिक ऋण लेना, तथा

(3) शुद्ध बचत में वृद्धि।

(ग) कृषि एवं सेवा क्षेत्र के विकास से अस्सी के दशक में औद्योगिक पुनरूत्थान में उपभोक्ता टिकाऊ वस्तुओं की माँग ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

(घ) आधारिक संरचना में निवेश में वृद्धि के साथ–साथ दक्षता में सुधार ने औद्योगिक पुनरूत्थान में महत्वपूर्ण योगदान दिया। 1979–80 से 1984–85 के बीच आधारिक संरचना में निवेश 9.7 प्रतिशत प्रतिवर्ष रही जबकि 1986–87 में यह निवेश बढ़कर 18.3 प्रतिशत हो गया।

➢ औद्योगिक संवृद्धि का चौथा चरण (1991 के बाद की अवधि)

1991 से आर्थिक उदारीकरण के एक नये युग की शुरूवात हुई। इस नयी आर्थिक नीति में तीन बिन्दु सम्मिलित थे–

(1) सार्वजनिक क्षेत्र को संकुचित कर निजीकरण की नीति,

(2) आयात–निर्यात के लिए परमिट प्रणाली के स्थान पर विश्वव्यापीकरण की नीति,

(3) औद्योगिक लाइसेंसिंग और कार्यवाही नियमों व नियंत्रणों में व्यापक उदारीकरण की नीति।

1990 के दशक के उत्तरार्ध में (अर्थात् नौंवी योजना के दौरान) औद्योगिक उत्पादन की संवृद्धि दर 5.0 प्रतिशत प्रति वर्ष रही जबकि 1990 के दशक के पूर्वाद्ध (अर्थात् आठवीं योजना के दौरान) की औद्योगिक संवृद्धि दर 7.4 प्रतिशत प्रति वर्ष रही। उदारीकरण के बाद के दशक में औद्योगिक उत्पादन में काफी वार्षिक उतार–चढ़ाव दिखायी देते हैं। हालांकि वर्ष 2005–06 में औद्योगिक संवृद्धि दर 8.2 प्रतिशत थी। 1991 के बाद की उदारीकरण की अवधि में (जिसे सुधार अवधि भी कहा जाता है) औद्योगिक प्रगति असंतोषजनक थी। इसके प्रमुख कारण निम्नलिखित थे–

1. **कमजोर आधारिक संरचना**–आधारिक संरचना जैसे परिवहन व्यवस्था, बिजली, सड़क, बंदरगाह इत्यादि के कमजोर होने के कारण औद्योगिक विकास पर बुरा असर पड़ा, उत्पादन की लागतों में वृद्धि और विदेशी उद्योगों से प्रतिस्पर्धा करने में देशी औद्योगिक इकाईयों कमजोर पड़ गई।
2. **उपभोक्ताओं की मांग में कमी**– 1990 के दशक में कृषि क्षेत्र में संवृद्धि दर में कमी आने के कारण ग्रामीणों की क्रय शक्ति में कमी आयी फलस्वरूप औद्योगिक वस्तुओं की माँग भी संकुचित हो गयी। इसके अतिरिक्त आय के वितरण में असमानता, रोजगार संवृद्धि में गिरावट, शेयर बाजार में घोटाले तथा वास्तविक परिसंपदा की कीमतों में शिथिलता के कारण जनता के हाथ में क्रय शक्ति के कम हो जाने के कारण मांग में कमी होने लगी।
3. **पूँजी निर्माण में कमी**– सार्वजनिक और निजी क्षेत्रों में पूँजी निर्माण औद्योगिक विकास की गति को उछाल देता है। पूँजी निर्माण में प्रत्यक्ष वृद्धि होने से जनता द्वारा वस्तुओं की मांग में वृद्धि आती है और परोक्ष रूप में जनता द्वारा उद्योग निवेश में वृद्धि आती है। परन्तु 1990 के दशक में पूँजी निर्माण में कमी देखने को आयी। इसका कारण था अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष द्वारा भारत सरकार को 1991 में समष्टि आर्थिक समायोजन कार्यक्रम अपनाने को विवश किया जिसके कारण सार्वजनिक व्यय में भारी कटौती करनी पड़ी।

इसके अतिरिक्त विदेशी प्रतिस्पर्धा, पूँजी बाजार का अविकसित होना, घरेलू उद्योगों की अधिक उत्पादन लागत, निर्यातों में कमी, 1997 के मध्य में पूर्व एशियाई देशों में

आये आर्थिक संकट के कारण इन देशों की मुद्राओं का अवमूल्यन हुआ जिससे भारतीय निर्यात अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में इन देशों के निर्यातों की तुलना में अधिक महंगे हो गये। प्रशुल्क संरचना में विसंगतियों के कारण घरेलू उद्योगों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा।

8.5 औद्योगिक नीति

औद्योगिक विकास और इसका स्वरूप बहुत बड़ी सीमा तक सरकार की औद्योगिक नीति पर निर्भर करता है। इसलिए औद्योगिक नीति का अर्थ, एवं औद्योगिक नीति की आवश्यकता क्यों पड़ती है। इसकी जानकारी होना नितान्त आवश्यक है।

8.5.1 औद्योगिक नीति का अर्थ

औद्योगिक नीति से तात्पर्य सरकार द्वारा की जाने वाली ऐसी औपचारिक घोषणा से है जिसके द्वारा सरकार औद्योगिक विकास के प्रति दृष्टिकोण एवं उद्देश्यों का उल्लेख करती है। सामान्यतः किसी भी औद्योगिक नीति के तीन प्रमुख भाग/अंग होते है जिसे चार्ट के द्वारा दर्शाया गया है–

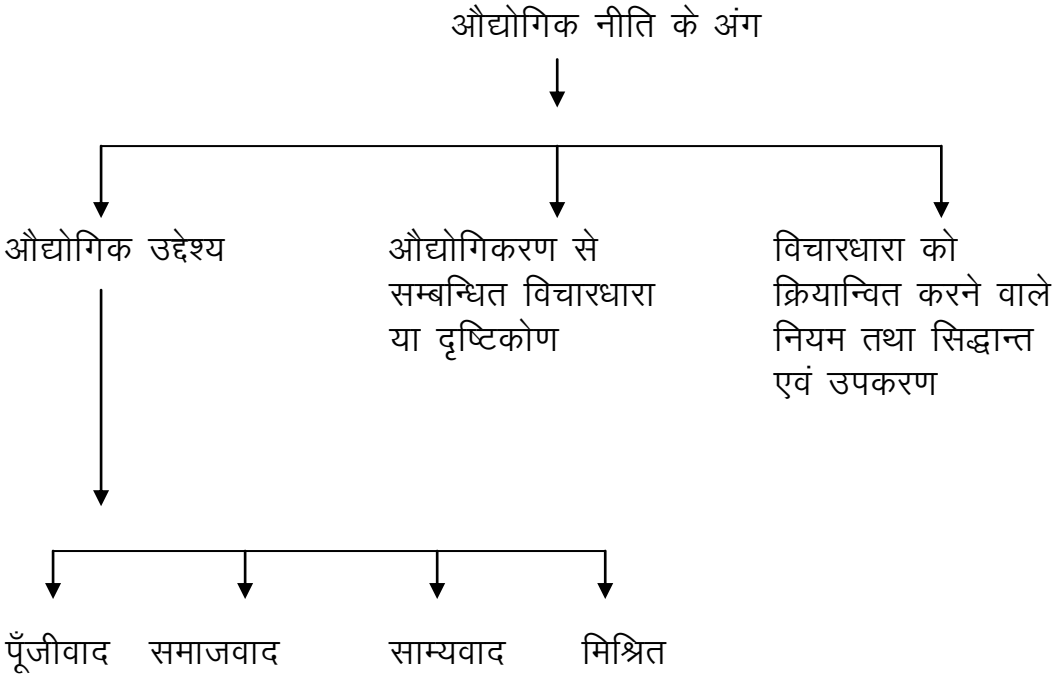

औद्योगिक उद्देश्य किसी भी देश के लोगों की आकांक्षाओं देश के संसाधनों, वहाँ की समस्याओं एवं समाज की चिन्तन या विचारधारा पर किया जाता है। पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में निजी लाभ प्राप्त करने का उद्देश्य प्रमुख होता है इसलिए यह निजी सम्पत्ति के प्रति आस्था एवं बाजार–उन्मुख संसाधनों पर आधारित होता है। सामान्यतः पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में विकास की गति और उसका स्वरूप बाजार–शक्तियों पर निर्भर करते है। समाजवाद संसाधनों के समाजीकरण पर आधारित होता है। केन्द्रीय नियोजन इसकी प्रमुख शर्त होती है। साम्यवाद वर्गरहित समाज प्रणाली की बात करता है जहाँ समाज के सभी वर्गों की समानता प्राप्त हो। साम्यवाद का प्रमुख सिद्धान्त है–'प्रत्येक को क्षमता अनुसार कार्य करना चाहिए एवं आवश्यकता के अनुरूप उपभोग करना चाहिए (From each

according to his ability to each according to his needs.) मिश्रित अर्थव्यवस्था के अन्तर्गत निजी क्षेत्र (बाजार) और सार्वजनिक क्षेत्र नियोजन के अनुरूप सामाजिक प्राथमिकताओं और निजी क्षेत्रों की क्षमताओं को ध्यान में रखते हुए सरकार औद्योगिक उद्देश्य निश्चित करती है।

औद्योगिक नीति का तीसरा घटक औद्योगिक विचारधारा को क्रियान्वित करने वाले नियम तथा उपकरण से है जो नीति के पीछे निहित विचारधारा को ठोस रूप देते है। पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में सरकार की ओर से हस्तक्षेप की कोई आवश्यकता नहीं होती क्योंकि यह बाजार–मूलक अर्थव्यवस्था होती है। कभी–कभी बाजार की विकृतियों को दूर करने के लिए सरकार आवश्यक मौद्रिक व राजकोषीय नीति अपनाती है। समाजवादी अर्थव्यवस्था में औद्योगिक संरचना एवं विकास की योजना केन्द्रीय नियोजन द्वारा किया जाता। सरकार उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए प्रेरणा, प्रोत्साहन एवं दंड जैसे उपकरणों का भी प्रयोग करती है। मिश्रित अर्थव्यवस्था में बाजार तंत्र और सरकारी हस्तक्षेप, दोनों उपकरणों का प्रयोग करके उद्देश्यों की पूर्ति करती है। आवश्यकता पड़ने पर निजी क्षेत्र का नियंत्रण व नियमन भी करती है।

8.5.2 औद्योगिक नीति की आवश्यकता

औद्योगिकरण देश के संसाधनों का भरपूर उपयोग कर आर्थिक और सामाजिक विकास करने में मदद करता है। भारत जैसे बड़े देश में मिश्रित अर्थव्यवस्था प्रणाली में औद्योगीकरण के विशाल कार्य के संचालन के लिए औद्योगिक नीति की आवश्यकता निम्नलिखित कारणों से पड़ती है :

1. आधारभूत एवं भारी उद्योग की स्थापना निजी क्षेत्र नहीं कर सकते।
2. सामाजिक आधारिक संरचना जैसे स्वास्थ्य, शिक्षा, आवास आदि के विकास के लिए।
3. आर्थिक आधारिक संरचना जैसे परिवहन, संचार इत्यादि का विकास।
4. निजी क्षेत्र को नियंत्रण करने व प्रोत्साहन करने के लिए।
5. यह सुनिश्चित करने के लिए कि निजी क्षेत्र नियोजन में निर्धारित दिशा की ओर ही अनुगमन करें, उनका विनिमय करना आवश्यक होता है।

घरेलू उद्योगों पर नीतियों का गहरा प्रभाव पड़ता है। वैश्वीकरण के युग में घरेलू उद्योगों को विदेशी उद्योगों से सुरक्षा एवं संरक्षण प्रदान करने के लिए नीति की आवश्यकता पड़ती है। इसके अलावा यह सुनिश्चित एवं विदेशी क्षेत्र विकास कार्यक्रमों के अनुरूप कार्य कर रहे है या नहीं। इन तीनों क्षेत्र के बीच परस्पर सम्बन्ध बनाए रखने हेतु औद्यागिक नीति की आवश्यकता पड़ती है।

8.6 स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात की औद्योगिक नीति

स्वतंत्रता के बाद भारत सरकार ने औद्योगिक क्षेत्र के विकास के सम्बन्ध में भारत सरकार ने अभी तक छः औद्योगिक नीति प्रस्तुत की गई है–

(1) औद्योगिक नीति, 1948,
(2) औद्योगिक नीति, 1956
(3) औद्योगिक नीति, 1977,
(4) औद्योगिक नीति, 1980 और
(5) औद्योगिक नीति, 1991.

1. औद्योगिक नीति, 1948

भारत सरकार ने अपनी पहली औद्योगिक नीति 6 अप्रैल 1948 को घोषित की। इस नीति में सार्वजनिक एवं निजी क्षेत्र दोनों की महत्वपूर्ण स्थान दिया गया तथा उद्योगों की चार श्रेणियों में विभाजित किया गया–

1. **सरकार के अधिकार का क्षेत्र–** इस श्रेणी में तीन उद्योग थे : (क) अस्त्र–शस्त्र व युद्ध सामग्री, (ख) परमाणु शक्ति का उत्पादन और नियंत्रण, तथा (ग) रेल परिवहन के स्वामित्व और प्रबन्धन।
2. **सरकारी नियंत्रण व विनियमन का क्षेत्र–** इस श्रेणी में राष्ट्रीय महत्व के 18 उद्योगों को शामिल किया गया जिनके विकास का उत्तरदायित्व सरकार ने अपने ऊपर नहीं लिया परन्तु इन पर काफी नियंत्रण रखा। इस श्रेणी में कुछ आधारमूलक उद्योगों को शामिल किया जैसे इंजिनियरिंग भारी मशीनें, उर्वरक, अलौह धातु उद्योग, सीमेन्ट, सूती वस्त्र, कागज, चीनी, खनीज से सम्बद्ध उद्योग आदि।
3. **मिश्रित क्षेत्र–** इस क्षेत्र में 6 उद्योग रखे गये जिनकी इकाई की स्थापना का उत्तरदायित्व सरकार द्वारा निश्चित किया गया, परन्तु पुराने इकाईयों को निजी क्षेत्र में ही बने रहने दिया गया। ये उद्योग थे : (क) कोयला, (ख) लोहा तथा इस्पात, (ग) वायुयान निर्माण, (घ) जलयान निर्माण, (ङ) टेलीफोन, टेलीग्राफ तथा वायरलेस के यंत्र एवं उपकरणों का निर्माण (इसमें रेडियो सेट शामिल नहीं था) तथा (च) खनिज तेल।
4. **निजी उद्यम के क्षेत्र–** उपर्युक्त उद्योगों के अलावा शेष उद्योगों को निजी क्षेत्र को सौप दिया गया। परन्तु उद्योग विशेष की प्रगति असंतोषजनक होने पर सरकार को इस क्षेत्र में भी हस्तक्षेप करने का अधिकार था।

   इस नीति में मिश्रित एवं नियंत्रित अर्थव्यवस्था की नींव रखी गयी जिससे औद्योगिक विकास तीव्र गति से आगे बढ़ सके। रोजगार प्रदान करने की दृष्टि से लघु एवं कुटीर उद्योग को महत्व को भी स्वीकार किया गया।

2. औद्योगिक नीति, 1956

संसद 'समाज के समाजवादी ढंग' को आधारभूत सामाजिक और आर्थिक नीतियों के रूप में स्वीकार कर चुकी थी। इसके औद्योगिक आधार के लिए एवं दूसरी पंचवर्षीय योजना के उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए सरकार ने 30 अप्रैल, 1956 को दूसरी औद्योगिक नीति के प्रस्ताव को मंजूरी दी। इस औद्योगिक नीति के अन्तर्गत दोनों क्षेत्रों सार्वजनिक एवं निजी क्षेत्र के सहअस्तित्व के साथ–साथ उनके बीच परस्पर सहयोग पर जोर दिया गया। 1948 के औद्योगिक नीति की तुलना में 1956 की औद्योगिक नीति में सार्वजनिक क्षेत्र के विस्तार पर अधिक जोर दिया गया। 1948 की औद्योगिक नीति में लघु एवं कुटीर उद्योगों को ऊँची प्राथमिकता दी गयी परन्तु 1956 की औद्योगिक नीति के सम्बन्ध में विशेष बात यह है कि इसमें लघु एवं बड़े उद्योगों के विकास को समन्वित करने के लिए अधिक दृढ़ एवं ठोस प्रयास की व्यवस्था की गई। इस उद्योग नीति को तीन श्रेणियों में विभाजित किया गया है:

1. **केन्द्रीय सरकार का अधिकार क्षेत्र–** प्रथम श्रेणी, अर्थात् अनुसूचित 'क' के उद्योगों को केवल सरकार के लिए सुरक्षित कर दिया गया। इस श्रेणी में सुरक्षा संबंधी उपकरणों से संबंधित उद्योगों–(क) अस्त्रशस्त्र और सैन्य सामग्री, (ख) परमाणु शक्ति, (ग) रेल परिवहन के अतिरिक्त 14 अन्य बुनियादी उद्योगों को भी इस श्रेणी में शामिल कर लिया गया। इस प्रकार कुल उद्योगों की संख्या 17 हो गई। इसमें

से 4 उद्योगों में सरकारी एकाधिकार की व्यवस्था की गई। ये उद्योग थे– (क) अस्त्र–शस्त्र और सैन्य सामग्री, (ख) परमाणु उर्जा, (ग) रेलवे तथा (घ) वायु परिवहन। बाकी के 13 उद्योगों में यद्यपि यह कहा गया कि नई इकाईयाँ सरकार द्वारा स्थापित की जाएंगी तथापि निजी क्षेत्र में कार्यरत इकाईयों को काम करते रहने की अनुमति दी गयी। इतना ही नहीं यह भी कहा गया कि राष्ट्रीय हित को ध्यान में रखते हुए इन उद्योगों (लौह और इस्पात, भारी ढ़लाई, भारी मशीनें, भारी बिजली सामान उद्योग, कोयला, तेल, लौह धातुएं तथा तांबा, सीसा, जस्ता, खनिज, टेलीफोन, तार और रेडियो उपकरण, विद्युत का जनन और वितरण) में निजी क्षेत्र को नई इकाईयां लगाने की अनुमति भी दी जा सकती है।

2. **मिश्रित क्षेत्र–** दूसरी श्रेणी अर्थात् अनुसूची 'ख' में ऐसे उद्योग रखे गये जिन पर राज्य का अधिकार बढ़ता जाएगा और जिनमें साधारणतः राज्य नये उद्यमों की स्थापना करेगा किन्तु इसमें सरकारी प्रयास की कमी को निजी उद्यमी द्वारा पूरा किये जाने की अपेक्षा की गयी थी। इस श्रेणी में आने वाले 12 उद्योग थे, लघु खनिजों के अतिरिक्त खनिज, अल्युमीनियम, मशीन औजार, लौह मिश्रित धातु तथा औजार, इस्पात, आधारभूत वस्तुएं, औषधि का निर्माण, रंग बनाना, प्लास्टिक आदि, अन्य आवश्यक औषधियां उर्वरक, कृत्रिम रबर, कोल कार्बनाइजेशन, रासायनिक कागज की लुगदी, सड़क परिवहन तथा समुद्री परिवहन।
3. **निजी उद्योग का क्षेत्र–** तीसरी श्रेणी में वे उद्योग रखे गये जो अनुसूची 'क' और अनुसूची 'ख' में नहीं थे। सरकार इन उद्योगों की स्थापना में सामान्यतः प्रत्यक्ष रूप से भाग नहीं लेगी। वह निजी उद्योगपतियों को प्रोत्साहित करने के लिए परिवहन, ऊर्जा एवं वित्त जैसी सुविधाएं प्रदान करेगी। जरूरत पड़ने पर यदि सरकार चाहे तो इन उद्योगों में सरकार भी अपनी इकाईयों की स्थापना कर सकती थी।

औद्योगिक नीति, विशेष तौर पर औद्योगिक विकास एवं नियमन अधिनियम, 1951 (Industrial Development and Regulation Act, 1951) की विभिन्न अर्थशास्त्रियों द्वारा कड़ी आलोचना की गई तथा यह कहा गया कि इससे औद्योगिक विकास अवरूद्ध हुआ है तथा भ्रष्टाचार बढ़ा है। इसलिए सरकार ने 1970 तथा 1980 के दशक में औद्योगिक नीति के उदारीकरण की दिशा में कई कदम उठाए। इस प्रक्रिया में सबसे क्रान्तिकारी परिवर्तन 1991 में उदारीकरण, निजीकरण एवं वैश्वीकरण नीति के द्वारा किया गया।

3. औद्योगिक नीति, 1977

जनता सरकार द्वारा 23 दिसम्बर, 1977 को औद्योगिक नीति की घोषणा की गयी। नीति वक्तव्य में साफ कहा गया कि अभी तक की औद्योगिक नीति में बड़े पैमाने के उद्योग पर ध्यान दिया गया इसलिए इस नीति में छोटे पैमाने के क्षेत्र के विकास पर बल दिया गया जैसे लघु तथा कुटीर उद्योग। इस नीति के अन्तर्गत बड़े पैमाने के उद्योगों को जनसंख्या की मूल न्यूनतम आवश्यकताओं के कार्यक्रम के साथ जोड़ा गया ताकि वे लघु क्षेत्र के उद्योगों के विकास में मदद कर सकें। इसलिए इस नीति में बड़े पैमाने के उद्योग के विकास के लिए आधारभूत उद्योग, पूँजी वस्तु उद्योग एवं उच्च तकनालॉजी उद्योग के विकास को भी बढ़ावा दिया गया। सार्वजनिक उद्योगों को सामाजिक वस्तुओं के उत्पादन के साथ–साथ उपभोक्ताओं को अनिवार्य वस्तुओं के निरन्तर सम्भरण कायम करने में एक

स्थायीकरण शक्ति के रूप में किया गया। सार्वजनिक क्षेत्र को यह भी जिम्मेदारी सौपी गयी कि छोटे उद्योगों के विकास में मदद करें।

4. औद्योगिक नीति, 1980

कांग्रेस (इ) की सरकार 1956 की औद्योगिक नीति को आधार मानते हुए, छोटे, मध्यम तथा बड़े पैमाने के उद्योगों के विकास को प्रोन्नत करने के लिए 23 जुलाई, 1980 को औद्योगिक नीति, 1980 की घोषणा की। इस नीति के तीन उद्देश्य थे :

(1) आधुनिकीकरण,
(2) स्वतः विस्तार तथा
(3) पिछड़े क्षेत्रों का विस्तार।

इस नीति की विशेषता थी कि आर्थिक संघवाद की धारणा को प्रोन्नत करके निजी क्षेत्र का औद्योगिक विकास में समन्वय कायम करना। समन्वित औद्योगिक विकास के लिए पिछड़े क्षेत्रों में जिला स्तर पर कुछ केन्द्रक संयंत्र स्थापित करने की योजना बनाई गयी जिनका उद्देश्य सहायक, छोटी तथा कुटीर इकाईयों को जितना संभव हो सके कायम करना होगा।

5. औद्योगिक नीति, 1990

राष्ट्रीय मोर्चा सरकार 1989 के अन्त में सत्ता में आने के बाद औद्योगिक नीति मई 1990 में देश के सामने रखी। गरीबी और बेरोजगारी को दूर करने के लिए तथा अर्थव्यवस्था के समुचित विकेन्द्रीकरण के लिए इस नीति में लघु क्षेत्र के उद्योगों एवं खेती पर आधारित उद्योगों के विकास को बढ़ावा दिया गया। इस नीति में निर्यात, विदेशी बाजार में भारतीय उद्योगों की प्रतिस्पर्धा शक्ति बढ़ाने के लिए काफी उपाय किये गए। इस नीति के अन्तर्गत अर्थव्यवस्था को और अधिक खुला रूप देने का प्रयास किया गया जिससे कि देश के उद्योग आधुनिक रूप धारण कर विश्व–प्रतियोगिता का भली प्रकार सामना कर सके।

6. औद्योगिक नीति, 1991

श्री नरसिम्हा राव के नेतृत्व में स्थापित कांग्रेस (इ) की सरकार ने जुलाई 24, 1991 को नयी औद्योगिक नीति की घोषणा की। इस नीति के अन्तर्गत बहुत से उदारवादी कदम उठाए गए–लाइसेंसिंग व्यवस्था को लगभग समाप्त कर दिया गया, बहुत से आरक्षित उद्योगों को निजी क्षेत्र के लिए खोल दिए गये, एकाधिकार और प्रतिबन्धक व्यापार व्यवहार अधिनियम के अधीन उद्योगों की परिसम्पत्ति सीमा समाप्त कर दी गई तथा विदेशी फर्मों को और रियायतें दी गई। विश्व अर्थव्यवस्था के साथ भारतीय अर्थव्यवस्था का एकीकरण करने की नीति बनाई गई। इस नीति की मुख्य बातें निम्नलिखित थी–

1. सार्वजनिक क्षेत्र के लिए सुरक्षित उपक्रमों में कमी की गई। इसमें समय केवल 4 उद्योग ही सार्वजनिक क्षेत्र के अन्तर्गत शामिल किए गये है–
   (क) सुरक्षा,
   (ख) रेल परिवहन,
   (ग) आणविक ऊर्जा
   (घ) 1995 की सूची में दर्ज खनिज पदार्थ।
2. पाँच उद्योगों (शराब, सिगरेट, खतरनाक रसायन, सुरक्षा का सामान तथा औद्योगिक विस्फोटक) को छोड़कर लगभग सभी उद्योगों की लाइसेंसिंग से मुक्त कर दिया गया है।

3. एकाधिकार और प्रतिबन्धक व्यापार व्यवहार अधिनियम (MRTP Act) को उदार बनाया गया। अब नई इकाईयों की स्थापना, विस्तार, विलयन (Merger), समामेलन (Amalagamation) तथा आधीनीकरण (Take over) के लिए तथा निदेशकों की नियुक्ति के लिए केन्द्र सरकार से पूर्व अनुमति लेना आवश्यक नहीं रहा है।
4. विदेशी तकनीकी विशेषज्ञ नियुक्त करने अथवा देश में विकसित तकनीक का विदेशों में परीक्षण कराने के लिए विदेशी मुद्रा भुगतान की इजाजत लेने की आवश्यकता समाप्त कर दी गयी है।

8.7 अभ्यास प्रश्न

1. लघुउत्तरीय प्रश्न–

क. मिश्रित अर्थव्यवस्था किसे कहते हैं?
ख. पूँजीवाद और समाजवाद में क्या अन्तर है?
ग. औद्योगिक नीति से आप क्या समझते है?

2. सत्य/असत्य बताईये–

क. प्रथम पंचवर्षीय योजना 1949 में बनायी गई थी।
ख. द्वितीय पंचवर्षीय योजना का उद्देश्य कृषि विकास था।
ग. छठवीं पंचवर्षीय योजना में गरीबी उन्मूलन के कार्यक्रम चलाये गये।

3. बहुविकल्पीय प्रश्न–

क. ग्याहवीं पंचवर्षीय योजना की अवधि है–

(अ) 1951–56 (ब) 1956–61
(स) 2002–2007 (द) 2007–2012

ख. ग्यारहवीं पंचवर्षीय योजना का मुख्य उद्देश्य–

(अ) प्रतिव्यक्ति आय में वृद्धि (ब) कृषि का विकास
(स) गरीबी उन्मूलन (द) तीव्र गति के साथ समावेशी विकास

4. एक पंक्ति अथवा एक शब्द में उत्तर वाले प्रश्न–

क. पहली पंचवर्षीय योजना एवं दूसरी पंचवर्षीय योजना में क्रमशः किस क्षेत्र के विकास पर जोर दिया गया था।
ख. औद्योगिक संवृद्धि के प्रथम चरण का मुख्य उद्धेश्य क्या था?
ग. ग्यारहवीं पंचवर्षीय योजना की क्या अवधि है?

5. रिक्त स्थान भरिए –

क. द्वितीय पंचवर्षीय योजना का मुख्य उद्देश्य ..... था।
ख. पहली पंचवर्षीय योजना ..... शुरु की गई थी।
ग. पहली औद्योगिक नीति ..... शुरु की गई थी।
घ. औद्योगिक नीति 1991 में ..... की शुरुआत की गई।

8.8 सारांश

इस इकाई के पढ़ने के बाद आप यह जान चुके है कि स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात भारत सरकार ने आर्थिक एवं सामाजिक विकास के लिए नियोजन की स्थापना की। नियोजन के

उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए पंचवर्षीय योजनाओं एवं औद्योगिक नीतियों को बनाया गया। प्रथम पंचवर्षीय योजना एवं द्वितीय पंचवर्षीय योजना में क्रमशः कृषि एवं उद्योग के विकास की रणनीति बनाई गई। इसी क्रम में ग्यारहवीं पंचवर्षीय योजना में समावेशिता संवृद्धि पर जोर दिया गया। उद्योगों के विकास के लिए औद्योगिक नीति 1948 एवं 1956 में आधारभूत उद्योग, पूजी वस्तु उद्योग इत्यादि पर ध्यान दिया गया जबकि औद्योगिक नीति 1977 में छोटे पैमाने के उद्योगों के विकास को प्रोत्साहित किया गया। औद्योगिक नीति 1991 में अर्थव्यवस्था का अन्य देश की अर्थव्यवस्था से एकीकरण की योजना बनाई। नई औद्योगिक नीति में उदारीकरण, निजीकरण, वैश्वीकरण को अपनाकर अर्थव्यवस्था को खुली अर्थव्यवस्था बनाया गया। इस इकाई के अध्ययन से आप आर्थिक विकास में औद्योगिक नीति एवं पंचवर्षीय योजनाओं के महत्व को अभिव्यक्त कर सकेंगे।

8.9 शब्दावली

- संवृद्धि : संवृद्धि प्रति व्यक्ति आय से सम्बन्ध रखती है।
- विकास : विकास के अन्तर्गत प्रति व्यक्ति आय एवं न्याय भी शामिल होता है।
- पूँजीवाद : पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में संसाधनों पर निजी व्यक्ति का स्वामित्व होता है और यह बाजार पर आधारित होती है। इसका उद्देश्य लाभ अर्जित करना होता है।
- समाजवाद : समाजवादी अर्थव्यवस्था में संसाधनों पर समाज का अधिकार होता है। केन्द्रीय नियोजन इसकी प्रमुख शर्त होती है।
- मिश्रित अर्थव्यवस्था : मिश्रित अर्थव्यवस्था में निजी क्षेत्रों और सार्वजनिक क्षेत्र नियोजन के अनुरुप सामाजिक प्राथमिकताओं और निजी क्षेत्रों की क्षमताओं को ध्यान में रखते हुए कार्य करते हैं।
- साम्यवाद : साम्यवाद का प्रमुख सिद्धान्त है– 'प्रत्येक को क्षमतानुसार कार्य करना चाहिए एवं आवश्यकता के अनुरुप उपभोग करना चाहिए।' (From each according to his ability to each according to his needs.)
- आधारभूत उद्योग : आधारभूत उद्योग अन्य उद्योगों की स्थापना में मदद करते हैं।
- सामाजिक संरचना : सामाजिक संरचना के अन्तर्गत शिक्षा, स्वास्थ्य एवं आवास आदि शामिल हैं।

8.10 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1 (क) मिश्रित अर्थव्यवस्था के अन्तर्गत बाजारतंत्र और सरकारी हस्तक्षेप, दोनों उपकरणों का प्रयोग करके उद्देश्यों की पूर्ति की जाती है। आवश्यकता पड़ने पर निजी क्षेत्र का नियंत्रण व नियमन भी किया जाता है।

(ख) पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में निजी लाभ प्राप्त करने का उद्देश्य प्रमुख होता है। सामान्यतः इस अर्थव्यवस्था में विकास की गति और उसका स्वरूप बाजार शक्तियों पर निर्भर करते हैं, जबकि समाजवाद संसाधनों के सामाजीकरण पर आधारित होता है। केन्द्रिय नियोजन इसकी प्रमुख शर्त होती है।

(ग) औद्योगिक नीति से तात्पर्य सरकार द्वारा की जाने वाली ऐसी औपचारिक घोषणा से है जिसके द्वारा सरकार औद्योगिक विकास के प्रति दृष्टिकोण एवं उद्देश्यों का उल्लेख करती है।

2. **(क)** असत्य है। पहली योजना की अवधि 1951–56 है।
   (ख) सत्य है।
   (ग) असत्य है।
3 **(क)** द
   (ख) द
4 **(क)** पहली पंचवर्षीय योजना में कृषि एवं दूसरी पंचवर्षीय योजना में उद्योग के विकास को प्राथमिकता दी गई।
   (ख) औद्योगिक संवृद्धि के पहले चरण में औद्योगिक विकास के लिए मजबूत आधार तैयार किये गये।
   (ग) ग्यारहवीं पंचवर्षीय योजना की अवधि 2007–2012 है।
5 **(क)** औद्योगीकरण
   (ख) 1951–56
   (ग) 6 अप्रैल, 1948
   (घ) आर्थिक सुधार

8.11 संदर्भ ग्रन्थ सूची

- दत्त, रूद्र एवं सुन्दरम, के0पी0एम0 (2006), ''भारतीय अर्थव्यवस्था'', एस0 चन्द एण्ड कम्पनी लि0, नई दिल्ली.
- मिश्र, एस0के0 एवं पुरी बी0के0 (2007), ''भारतीय अर्थव्यवस्था'', हिमालया पब्लिशिंग हाऊस, बम्बई.
- अग्रवाल, एन (2007), ''भारतीय अर्थव्यवस्था : विकास एवं आयोजन'', न्यू एज इन जर्नल पब्लिशर्स.

8.12 सहायक पाठ्य सामग्री

- वी0सी0 सिन्हा (2011) : अर्थशास्त्र, एस0वी0पी0डी0 पब्लिशिंग हाउस, आगरा.
- एस.सी. जैन एवं जे.पी. मिश्रा : भारतीय अर्थव्यवस्था, साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा.

8.13 निबन्धात्मक प्रश्न

1. योजनाकाल में भारत के औद्योगिक विकास पर एक लेख लिखिए।
2. औद्योगिक नीति से आप क्या समझते है? स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् औद्योगिक नीति का विश्लेषण कीजिए।
3. औद्योगिक नीति 1991 की विशेषताएँ बताइए?
4. औद्योगिक नीति की क्यों आवश्यकता पड़ती है तथा यह औद्योगिक विकास में कैसे मदद करती है, इसकी व्याख्या कीजिए?

इकाई 9 – सार्वजनिक क्षेत्र उद्यम
(PUBLIC SECTOR INDUSTRIES)

9.1 प्रस्तावना
9.2 उद्देश्य
9.3 सार्वजनिक क्षेत्र उद्यम
  9.3.1 सार्वजनिक उपक्रम का आशय
  9.3.2 सार्वजनिक क्षेत्र उद्यम की विशेषताएँ
  9.3.3 भारत में सार्वजनिक क्षेत्र उद्यम का विकास
  9.3.4 भारतीय अर्थव्यवस्था में सार्वजनिक क्षेत्र का महत्व
  9.3.5 सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यमों की समस्याएँ
  9.3.6 सार्वजनिक क्षेत्र उद्यमों के निम्न निष्पादन के कारण
  9.3.7 सार्वजनिक क्षेत्र उद्यमों के निष्पादनता में सुधार के लिए सुझाव
9.4 अभ्यास प्रश्न
9.5 सारांश
9.6 शब्दावली
9.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
9.8 संदर्भ ग्रंथ सूची
9.9 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
9.10 निबंधात्मक प्रश्न

9.1 प्रस्तावना

इससे पहले की इकाई के अध्ययन के बाद आप बता सकते हैं कि औद्योगिक नीति क्या है? यह आर्थिक विकास में कैसे मदद करती है। आप पंचवर्षीय योजनाओं के आर्थिक, सामाजिक एवं राजनैतिक महत्व का विश्लेषण कर सकते हैं।

देश के आर्थिक विकास हेतु मजबूत आधारभूत ढांचा का होना नितान्त आवश्यक है क्योंकि यह अन्य उद्योगों के विकास में मदद करते हैं। आधारिक संरचना के निर्माण में सार्वजनिक क्षेत्र उद्यम की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। प्रस्तुत इकाई में सार्वजनिक उद्यमों की समस्या एवं आधारिक संरचना के निर्माण में इसके महत्व का विस्तार से अध्ययन करेंगे।

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप सार्वजनिक उद्यम और निजी उद्यम में अन्तर स्पष्ट कर पायेंगे। इसके अलावा सार्वजनिक उद्यमों के निष्पादनता में सुधार के लिए सरकार द्वारा उठाये गये कदमों का विश्लेषण कर सकेंगे।

9.2 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के बाद आप बता सकेगें कि :

- ✓ सार्वजनिक क्षेत्र किसे कहते हैं?
- ✓ भारतीय अर्थव्यवस्था में सार्वजनिक उद्यमों की क्या भूमिका होती है?
- ✓ सार्वजनिक उद्यमों की समस्याएँ एवं इनको दूर करने के उपाय की व्याख्या कर सकेंगे।

9.3 सार्वजनिक क्षेत्र उद्यम

9.3.1 सार्वजनिक उपक्रम का आशय

सार्वजनिक क्षेत्र को लोक उपक्रम भी कहते हैं। लोकउपक्रम या सार्वजनिक क्षेत्र से आशय किसी ऐसे औद्योगिक, वाणिज्यिक और व्यापारिक उपक्रम से है जिसका स्वामित्व, प्रबन्ध और संचालन केन्द्र, राज्य या स्थानीय सरकार अथवा किसी अन्य लोक संस्था के अधीन हो जिनके निर्णय प्रक्रिया में सार्वजनिक हित निहित होता है। इसकी उत्तरदेयता संसद के माध्यम से जनता के प्रतिनिधि जनता के प्रति उत्तरदायी होते हैं। सरकारी स्वामित्व के अधीन होते हुए भी ये उपक्रम अपने प्रबन्धकीय व्यवस्था में काफी हद तक स्वायत्तशासी होते हैं। इनकी कार्यशैली का नियंत्रण एवं नियमन भी शीर्ष स्तर पर बैठे राजनितिज्ञों द्वारा ही किया जाता है। इनका कार्यक्षेत्र बहुत विस्तृत होता है।

9.3.2 सार्वजनिक क्षेत्र उद्यमों की विशेषताएँ

सार्वजनिक उपक्रमों का स्वामित्व निजी हाथों में न होकर सरकार के हाथ में होता है। इनका उद्देश्य मात्र लाभ कमाना ही नहीं होता है बल्कि विभिन्न सामाजिक एवं आर्थिक उद्देश्यों को प्राप्त करना भी होता है। ये उद्यमें जनता, सरकार एवं संसद के प्रति उत्तरदायी होते हैं। इनके प्रबन्ध के सम्बन्ध में सरकारी प्रशासन की पद्धतियों एवं नियमों का पालन

किया जाता है। सरकारी उद्यमों की वित्त व्यवस्था सरकार द्वारा बजट में व्यवस्था करके प्रदान की जाती है।

9.3.3 भारत में सार्वजनिक क्षेत्र उद्यम का विकास

1947 से पूर्व भारतीय अर्थव्यवस्था के अन्तर्गत वास्तव में सार्वजनिक क्षेत्र था ही नहीं। केवल उल्लेखनीय सरकारी उद्यम (Public undertaking) थे जैसे रेल, डाक, तार, पोर्ट ट्रस्ट, युद्ध सामग्री और विमान कारखाने और कुछ राजकीय प्रबन्ध वाले कारखाने तथा सरकारी नमक कारखाना, कुनीन बनाने का कारखाना इत्यादि। लेकिन इनका उद्देश्य यह था कि देश के प्रशासन को सुगम बनाए और ब्रिटिश उद्योगों तथा उनमें काम कर रहे मजदूरों के लिए भारत से कच्चा माल और खाद्य पदार्थ खरीदने तथा ब्रिटेन में बना माल इस देश में बेचने के लिए ब्रिटिश व्यापारियों की मदद करना।

भारत में सार्वजनिक क्षेत्र के विकास को औद्योगिक नीति, 1948 और औद्योगिक नीति, 1956 से गति मिली। इन दोनों औद्योगिक नीतियों में सार्वजनिक क्षेत्र के विकास को महत्तव दिया गया इसके कारण निम्नलिखित थे–

(1) अर्थव्यवस्था का पिछड़ापन
(2) कमजोर आधार संरचना (Poor infrastructural facilities)
(3) प्रबन्धकीय योग्यता की कमी
(4) पूँजी का अभाव
(5) दीर्घकालीन परिपाक अवधि (gestation period) की औद्योगिक इकाइयों में अपनी पूंजी को जोखिम में डालने की शक्ति भी नहीं थी, तथा
(6) निजी क्षेत्र भी कमजोर थे।

उस समय यह विश्वास किया जाता था कि आर्थिक एवं सामाजिक विकास सरकार द्वारा आयोजित रूप से हस्तक्षेप करके ही किया जा सकता है। इसलिए कृषि एवं औद्योगिकी के सुदृढ़ विकास के लिए आन्तरिक क्षेत्र (core sector), आधारभूत उद्योग आदि को सार्वजनिक क्षेत्र को सौंप दिया गया। औद्योगिक नीति, 1956 का अध्ययन से आपको स्पष्ट हो जायेगा कि सार्वजनिक क्षेत्र एवं निजी क्षेत्र में कौन–कौन से उद्योग सौंपे गये थे। 1948 व 1956 की औद्योगिक नीतियों में सार्वजनिक उद्यमों की स्थापना पर बल दिया गया जिसके फलस्वरूप हिन्दुस्तान शिपयार्ड, हिन्दुस्तान मशीन टूल्स, सिन्दरी फर्टिलाइजर, हिन्दुस्तान एण्टीबायोटिक्स, चित्तरंजन लोकोमोटिव, इण्डियन टेलीफोन इण्डस्ट्रीज, दुर्गापुर, राऊरकेला, भिलाई में इस्पात के कारखाने, आइल इण्डिया, हैवी इंजीनियरिंग कॉरपोरेशन, फर्टिलाइजर कॉपरेशन, भारतीय जीवन बीमा निगम व राज्य व्यापार निगम, तेल शोधक कारखाने आदि स्थापित किए गये।

भारत में सार्वजनिक क्षेत्र का विकास दो प्रकार से हुआ–

(1) विद्यमान उपक्रमों के राष्ट्रीयकरण के द्वारा और नये उपक्रमों की स्थापना के द्वारा। सार्वजनिक क्षेत्र की औद्योगिक इकाइयों को तीन भागों में बॉटा जा सकता है–

(1) सार्वजनिक सेवाएँ (Public Utilities)– जैसे रेल, सड़क, डाक व तार, ऊर्जा, सिंचाई परियोजनाएँ आदि।

(2) विभागीय प्रतिष्ठान (Departmental undertaking)– जैसे चित्तरंजन लोकोमोटिव वर्क्स, इन्टीग्रल कोच फैक्ट्री तथा प्रतिरक्षा उत्पादन से सम्बन्धित इकाइयॉ आदि तथा

(3) अन्य औद्योगिक प्रतिष्ठान आदि जिनकी समस्त पूँजी की पूर्ति सरकार द्वारा की जाती है।

1997 में भारत सरकार ने 9 सार्वजनिक उपक्रमों को नवरत्न का दर्जा दिया। अब यह नवरत्न कम्पनियों की संख्या 9 से बढ़कर 19 हो गयी है।

1. भारत हैवी इलेक्ट्रिकल्स लि. (BHEL)
2. भारत पेट्रोलियम कॉरपोरेशन लि. (BPCL)
3. हिन्दुस्तान पेट्रोलियम कॉरपोरेशन लि. (HPCL)
4. भारतीय तेल निगम (IOC)
5. महानगर टेलीफोन निगम लि. (MTNL)
6. तेल एवं प्राकृतिक गैस निगम (ONGC)
7. राष्ट्रीय ताप विद्युत निगम (NTPC)
8. भारतीय इस्पात प्राधिकरण लि. (SAIL)
9. भारतीय गैस प्राधिकरण लि. (GAIL)
10. भारत इलेक्ट्रॉनिक्स लि. (BEL)
11. हिन्दुस्तान एयरोनॉटिक्स लि. (HAL)
12. पॉवर फाइनेंस कॉरपोरेखन (PFC)
13. राष्ट्रीय खनिज विकास निगम (NMDC)
14. विद्युत करगा निगम
15. कोल इण्डिया लि0
16. पॉवर ग्रिड
17. नेशनल एल्यूमिनियम कं. लि.
18. ऑयल इण्डिया लि.
19. रूरल इलेक्ट्रफिकेशन कॉरपोरेशन लि. (REC)

योजनाकाल में सार्वजनिक उपक्रमों का विकास

अवधि	उपक्रमों की संख्या	कुल विनियोजित पूँजी (करोड़ रुपये में)
1 अप्रैल 1952	05	29
1 अप्रैल 1961	47	948
1 अप्रैल 1980	179	18150
31 मार्च 1990	246	113896
31 मार्च 1997	236	201946
31 मार्च 2007	244	421089
2011–12		अनुमानित 3644718

9.3.4 भारतीय अर्थव्यवस्था में सार्वजनिक क्षेत्र का महत्त्व

सार्वजनिक क्षेत्र पूँजी के विनियोग में, बुनियादी ढॉचे के विकास एवं औद्योगिक ढॉचे के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। आर्थिक विकास के लिए बुनियादी एवं आधारभूत उद्योगों के विकास के लिए भारी पूँजी की आवश्यकता होती है जिसे निजी क्षेत्र पूरा करने में अपने को असमर्थ पाता है इन कार्यक्रमों में जोखिम भी अधिक होती है एवं तत्काल लाभ मिलना भी कठिन होता है। इच्छानुसार तीव्र औद्योगीकरण भी विभिन्न अवरोधों के कारण नहीं हो पाता है। भारत में सार्वजनिक क्षेत्र के महत्त्व को निम्नलिखित चार्ट द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है–

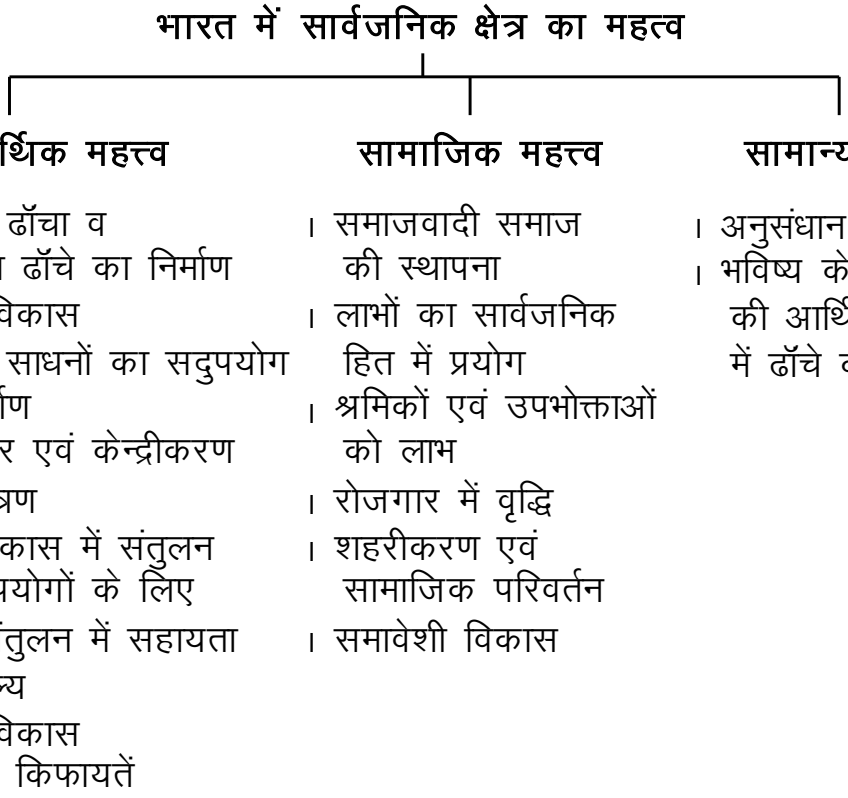

➢ आर्थिक महत्त्व

किसी भी देश की विकास की महत्वपूर्ण शर्त है कि उस देश में बुनियादी आर्थिक संरचना (सिंचाई के साधन, बिजली, यातायात एवं संचार के साधन, शक्ति के स्रोत, रेल, सड़क, वायु परिवहन की व्यवस्था) का विकास तेजी के साथ होना चाहिए। बुनियादी आर्थिक संरचना के साथ–साथ आधारभूत उद्योगों का विकास होना जरूरी है। सरकार ने लोहा, भारी इंजिनियरिंग, कोयला, बिजली के भारी उपकरण, तेल एवं प्राकृतिक गैस, रसायन एवं औषधि, उर्वरक आदि उद्योगों की स्थापना कर औद्योगिक आधार को मजबूत बनाया है। निजी क्षेत्र बुनियादी एवं आधारभूत उद्योगों की स्थापना नहीं कर सका क्योंकि इसमें भारी पूंजी की आवश्यकता पड़ती है और तत्काल लाभ नहीं मिलता है। सार्वजनिक क्षेत्र में अक्सर औद्योगिक इकाइयों का आधार आर्थिक कार्यकुशलता को ध्यान में रखकर ही निर्धारित किया जाता है। इंग्लैण्ड, फ्रांस तथा कुछ अन्य पश्चिमी यूरोप के देशों में बिजली, प्राकृतिक गैस, टेलीफोन तथा कुछ दूसरे लोकोपयोगी उद्योगों को पैमाने की किफायतों की दृष्टि से ही सार्वजनिक क्षेत्र में रखा गया है। भारत में विभिन्न बुनियादी उद्योगों की सार्वजनिक क्षेत्र में स्थापना से प्राप्त होने वाली पैमाने की किफायतों से इन उद्योगों के सामाजिक लाभ में भी वृद्धि हुई है। सार्वजनिक क्षेत्र उद्योग क्षेत्रीय असमानताओं में कमी करते हैं, आवश्यक वस्तुओं की पूर्ति का उचित मूल्य निर्धारित करते हैं तथा उच्च तकनीक पर आधारित उद्योगों का विकास करने में मदद करते है इसके अतिरिक्त टिकाऊ विकास में मदद करते हैं।

➢ सामाजिक महत्त्व

उपभोग वस्तुओं के उत्पादन में वृद्धि से श्रमिकों को एवं उपभोक्ताओं को लाभ मिलता है। उत्पादन एवं उत्पादकता में वृद्धि से रोजगार में भी वृद्धि होती है। उपभोग पदार्थ का

उत्पादन करने वाले उद्योगों में निजी क्षेत्र अक्सर अधिक दिलचस्पी रखता है परन्तु इन उद्योगों का विकास भी उत्पादन वस्तु उद्योगों (producer-goods industries) द्वारा प्रदान की गयी 'सेवाओं' पर निर्भर करता है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि उपभोग वस्तु उद्योगों का विकास काफी हद तक इंजीनियरिंग वस्तु व अन्य उत्पाद वस्तुओं पर निर्भर करता है क्योंकि उत्पाद वस्तु उद्योगों का विकास करने में निजी क्षेत्र की कोई रुचि नहीं होती इसलिए राज्य को हस्तक्षेप करना पड़ता है और स्वयं इन उद्योगों का विकास करना पड़ता है। समाजवादी समाज की स्थापना का व्रत भारत सरकार ने 1954 में ले लिया था। इसलिए समाजवादी समाज की स्थापना के लिए यह आवश्यक है कि औद्योगिक विकास का दायित्व पूर्णतया सरकार के हाथ में रहे। आर्थिक संवृद्धि का लाभ सभी को मिले एवं सभी की सहभागिता को आर्थिक विकास में सुनिश्चित करना ही समावेशी विकास कहता है। यह कार्य सार्वजनिक क्षेत्र के द्वारा ही संभव है।

➢ **सामान्य महत्त्व**

निजी क्षेत्र अनुसंधान पर व्यक्त करने में असमर्थ होता है जबकि सार्वजनिक क्षेत्र अल्पकालीन हानि उठाकर भी अनुसंधान कार्य चालू रख सकता है। सरकारी उद्यम भविष्य को ध्यान में रखकर निवेश करती है ताकि अर्थव्यवस्था को मजबूत बनाया जा सके।

9.3.5 सार्वजनिक क्षेत्र उद्यम की समस्याएँ

भारत में सार्वजनिक उपक्रम का विकास हुआ है। सार्वजनिक उपक्रमों ने राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के विकास–विस्तार कार्यक्रम में महत्वपूर्ण योगदान दिये हैं। लेकिन इन सबके होते हुए भी इस क्षेत्र के सामने अनेक कठिनाइयॉ और समस्याएँ है जिनके कारण इसके विकास एवं सुचारू रूप से संचालन में भारी रूकावटें आ रही हैं। इनकी मुख्य समस्याएँ निम्नलिखित हैं–

(1) नियंत्रण और स्वायत्ता– प्रबन्ध व्यवस्था सम्बन्धी समस्याओं की चर्चा करते समय 'नियंत्रण बनाम स्वायत्ता' का प्रश्न अक्सर उठाया जाता है। सार्वजनिक उद्यमों के नियंत्रण का अर्थ है कि वे अपने काम–काज के लिए संसद के प्रति उत्तरदायी है क्योंकि सार्वजनिक क्षेत्र उद्योग में करदाताओं का पैसा खर्च किया जाता है। इसलिए करदाताओं को यह जानने का हक है कि उनका पैसा कहॉ और कैसे खर्च किया जा रहा है। क्योंकि करदाता के प्रतिनिधि संसद में है इसलिए सार्वजनिक उद्यमों को संसद के प्रति उत्तरदायी रखा गया है। नियंत्रण का अर्थ यह भी है कि संसद को यह अधिकार रहे कि सार्वजनिक क्षेत्र के काम पर विचार करके इनकी नीतियों और कार्यकलाप में आवश्यक सुधार के लिए कानूनी तौर पर ओदश जारी कर सकें। स्वायत्तता का आशय यह है कि प्रबन्धकों को उस उद्यम के सामान्य कार्य–संचालन को बिना बाहरी हस्तक्षेप के काम करने की स्वतंत्रता प्राप्त हो।

(2) सार्वजनिक उद्यमों की मूल्य नीति– निजी क्षेत्र के उद्यमों की मूल्य नीति का मात्र एक ही आधार होता है और वह है लाभ जबकि सार्वजनिक उद्यम के मूल्य नीति का आधार हमेशा लाभ नहीं होता है क्योंकि सार्वजनिक क्षेत्र में स्थापित उद्यमों की देश के आर्थिक विकास में विशेष भूमिका होती है इसलिए इनकी मूल्य नीति इस व्यापक लक्ष्य को ध्यान में रखकर ही निर्धारित की जाती है। सार्वजनिक क्षेत्र में उर्वरक और कीटनाशक दवाइयों का उत्पादन का उद्देश्य सरकार के लिए लाभ कमाना नहीं है बल्कि इनके उपयोग को बढ़ाकर कृषि के उत्पादन को बढ़ाना है। ऐसी स्थिति में सरकार का उत्तरदायित्व बन जाता है कि उर्वरक तथा कीटनाशक दवाइयों का

मूल्य नीचे रखकर इन्हें समुचित मात्रा में कृषकों को उपलब्ध करावाए। फर्टिलाइजर कार्पोरेशन आफ इण्डिया, हिन्दुस्तान इन्सेक्टिसाइड्स और कुछ इसी प्रकार के दूसरे उद्यम इस नीति के अन्तर्गत जान–बूझकर मूल्य का स्तर नीचा रखने की नीति का पालन करते रहे हैं।

(3) कुशलता का अभाव– सार्वजनिक उद्यमों के रोजमर्रा के कामकाज में अक्सर राजनैतिक हस्तक्षेप होता है जिसका उनके प्रबन्धकों एवं कर्मचारियों के मनोबल पर बुरा प्रभाव पड़ता है। आमतौर पर भारतीय प्रशासनिक सेवा के अधिकारी इनका प्रबन्धन करते हैं जिन्हें प्रबन्धन के बारे में कोई जानकारी नहीं होती है और न ही इनमें प्रबन्ध व्यवस्था के लिए आवश्यक 'साहस' होता है और वे परिवर्तन व प्रयोग से घबराते हैं।

इसके अलावा सार्वजनिक उद्यमों में यह पाया गया है कि यह अपने उत्पादन क्षमता का अल्प प्रयोग करते हैं क्योंकि इनमें अधिक कार्य करने की प्रेरणाओं का अभाव पाया जाता है। इन सब उद्यमों में राजनैतिक हस्तक्षेप, कर्मचारियों की अधिक संख्या, परियोजना के आयोजन व निर्माण में कठिनाइयॉ जैसी समस्याएँ अक्सर पायी जाती है।

9.3.6 सार्वजनिक क्षेत्र उद्यम के निम्न निष्पादन के कारण

सार्वजनिक उपक्रम को यद्यपि अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों में सफलता मिली है परन्तु वह विनियोजित पूँजी की तुलना में पर्याप्त नहीं है। सार्वजनिक उपक्रमों के निम्न निष्पादनता के लिए निम्नलिखित कारणों को जिम्मेदार ठहराया जा सकता है–

(1) सार्वजनिक उपक्रम अपनी क्षमता का पूर्ण उपयोग नहीं कर पाते हैं।

(2) सार्वजनिक उद्यमों में व्याप्त लालफीताशाही के कारण उत्पादन, क्रय–विक्रय आदि निर्णय समय पर न होने के कारण इनकी निष्पादनता में कमी आती है।

(3) इन उद्यमों का प्रबन्धन प्रायः सरकारी अधिकारियों और राजनीतिज्ञों को सौंपा जाता है जो व्यापार के प्रबन्धन के बारे में जरा भी ज्ञान नहीं रखते हैं। इन उपक्रमों में उचित प्रबन्धकीय योग्यता के अभाव के कारण स्टाक की मात्रा सदा ही अधिक रहती है। अत्यधिक स्टाक रहने से पूंजी का एक बहुत बड़ा भाग इसमें विनियोजित रहता है जिससे लाभ कम हो जाता है।

(4) सार्वजनिक उद्यम जैसे इस्पात, इंजिनियरिंग, रसायन एवं उर्वरक में परिपक्तवता की अवधि लम्बी होने के कारण इन उद्यमों की लाभदायकता कम हो जाती है।

(5) सार्वजनिक उद्यमों में लाभ कम होने का प्रमुख कारण है कि इसके प्रबन्ध से सम्बन्धित व्यक्तियों को कोई व्यक्तिगत जोखिम नहीं रहता है। संस्थान चाहे लाभ पर चले या हानि पर, उन्हें अपने वेतन से मतलब होता है जो महीने के अन्त में मिल जाता है।

(6) यह उपक्रम श्रम कल्याण तथा सामाजिक सुविधाओं पर अधिक व्यय करते हैं। इन सभी कारणों से इनकी लाभदायकता कम रहती है।

(7) सार्वजनिक उद्यम प्रबन्धकीय एवं प्राविधिक कर्मचारियों के सम्बन्ध में अपने आन्तरिक साधन आवश्यक सीमा तक विकसित नहीं कर पाये हैं। परिणामतः इसे निरन्तर विदेशी विशेषज्ञों और सरकार से डेपुटेशन पर आये हुए कर्मचारियों पर निर्भर रहना पड़ता हैं

(8) सार्वजनिक उपक्रम उन स्थानों पर स्थापित किये जाते हैं जहॉ पर आवश्यक सुविधाओं का अभाव होता है। इसके कारण कच्चा माल प्राप्त करने एवं पक्का माल बाजार में भेजने की लागत का व्यय अधिक होने से इनके लाभ में कमी आती है।

(9) सरकार ने निजी क्षेत्र के रुग्ण इकाइयों का स्वामित्व अपने हाथ में ले लिया है। इनके अधीनीकरण से सार्वजनिक उद्यमों के लाभ में गिरावट आयी है।

(10) सार्वजनिक उपक्रमों की लाभदेयता के कम होने का कारण है– कर्मचारियों की मनोवृत्ति। ये कर्मचारी हानि को कम करने का प्रयास नहीं करते हैं। इसके विपरीत ये सरकारी कर्मचारियों की भॉति अधिक भत्ते व वेतन एवं सभी सुविधाओं की मांग करते हैं।

निजी क्षेत्र के उद्यम की तरह सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यम लाभ नहीं कमा पाते। कभी–कभी सार्वजनिक उद्यम घाटे में भी चले जाते हैं। इसके बावजूद भी देश के आर्थिक एवं सामाजक विकास में इनका महत्वपूर्ण योगदान होता है। सार्वजनिक उद्यम इकाइयों के निष्पादन का मूल्यांकन केवल उनके द्वारा कमाए गए लाभ के द्वारा ही नहीं अपितु इस आधार पर भी होना चाहिए कि इन उद्यमों का अर्थव्यवस्था के उत्पादन एवं सेवाओं में क्या योगदान रहा है। इसलिए लाभ के स्थान पर उद्यम की कुल बिक्री का मूल्य देखना चाहिए क्योंकि ये उद्यम पूँजीगत या उत्पाद–वस्तु उद्योगों में निवेश करते हैं जो उपभोक्ता वस्तु उद्योगों के उत्पादन में मदद करते हैं इसके अलावा सार्वजनिक क्षेत्र केवल पूंजी प्रधान नहीं है, इस्पात उद्योग में तो यह उत्पाद–प्रधान भी है। इसलिए उसमें वर्धित मूल्य अन्य उद्योगों (जैसे रासायनिक उद्योग) की तुलना में कम होता है।)

सार्वजनिक उद्यमों का मूल्यांकन उसके सामाजिक लाभ एवं सामाजिक लागत की तुलना के द्वारा होना चाहिए न कि उसके लाभ की दर के आधार पर। जहॉ तक सार्वजनिक उद्यम के निष्पादन का सम्बन्ध है, सार्वजनिक क्षेत्र का निष्पादन संतोषजनक रहा है। देश की रोजगार स्थिति में सुधार लाने में सार्वजनिक क्षेत्र ने महत्वपूर्ण योगदान दिया है। सार्वजनिक उद्यमों में रोजगार अवसरों में प्रति वर्ष 5 प्रतिशत की वृद्धि होती है जो निजी उद्योगों की तुलना में होने वाली वृद्धि से अधिक है। सार्वजनिक उद्यमों ने श्रमिकों के लिए सामाजिक सुविधाएँ उपलब्ध करायी है। यह बात भी महत्वपूर्ण है कि सार्वजनिक उद्यम की इकाइयों की बजटीय साधन पर निर्भरता में कमी आयी है तथा आंतरिक साधन सृजन में वृद्धि हुई है। सार्वजनिक उद्यम दूसरी पंचवर्षीय योजना से लगातार एक अत्यन्त महत्वपूर्ण निर्णायक भूमिका अदा की है जिसे उत्पादन के मूल्य द्वारा नहीं मापा जा सकता है। निजी क्षेत्र को कभी भी इस तरह की जिम्मेदारी नहीं उठानी पड़ी। वस्तुतः वह अपनी तकनीकी क्षमताओं और तकनीकी विशेषज्ञों की आपूर्ति के लिए सार्वजनिक क्षेत्र पर निर्भर बना रहा।

9.3.7 सार्वजनिक क्षेत्र उद्यमों के निष्पादनता में सुधार के लिए सुझाव

सार्वजनिक उद्यमों के निष्पादनता में सुधार तभी संभव है जब ये उपक्रम अपने कार्य कुशलता, प्रबन्धन, वित्त व्यवस्था इत्यादि में सुधार लाए। विभिन्न प्रकार के उपाय अपनाकर इनकी लाभकारिता व कार्यकुशलता को बढ़ाया जा सकता है। उपाय निम्नलिखित है–

(1) कार्यकुशलता में सुधार– प्रबन्धन में सुधार लाकर उसे वैज्ञानिक एवं व्यवसायिक रुप देना जरूरी है। सार्वजनिक उद्यमों के उत्पादन की लागत बहुत अधिक होती है क्योंकि ये उत्पाद–वस्तुओं का उत्पादन करते हैं तथा इनकी स्थापना ऐसे स्थान पर होती है जहॉ सुविधाओं का अभाव पाया जाता है। लागते कम करने के लिए अनेक कदम उठाये जा सकते हैं। सबसे महत्वपूर्ण कदम– (क) उद्यमों की क्षमता का भरपूर उपयोग करना, (ख) क्रय–विक्रय की उचित व्यवस्था, और (ग) बेहतर प्रबन्ध एवं संगठनात्मक संयोजन द्वारा कार्यकुशलता में सुधार लाया जा सकता है।

(2) औद्योगिक सम्बन्ध में सुधार – औद्योगिक सम्बन्ध से आशय उद्यम में उत्पादन कार्य में लगे हुए व्यक्तियों के मानवीय सम्बन्धों से है। इनके सम्बन्धों में सुधार लाकर लोक उपक्रम के निष्पादन में वृद्धि प्राप्त की जा सकती है। पॉचवी पंचवर्षीय योजना में तीन बातें अनिवार्य ठहरायी गयी हैं–(क) उच्चतर कार्य संचालन के लाभों के बंटवारे की उचित पद्धति का प्रबन्ध, उदाहरणतया एक सीमा तक श्रमिकों को शेयरधारी बनाने की आवश्यकता, (ख) कर्मचारियों के प्रतिनिधियों और प्रबन्धकों के बीच प्रभावकारी सौदाकारी सम्बन्धों के बारे में संस्थागत ढॉचे की व्यवस्था, तथा (ग) औद्योगिक लोकतंत्र की भावना पैदा करने के लिए सभी कर्मचारियों को शिक्षा की व्यवस्था आदि से गुणात्मक सुधार संभव है।

(3) कीमत निर्धारण नीति – सार्वजनिक उद्यमों की सबसे बड़ी समस्या कीमत निर्धारण नीति है। कीमत नीति के सम्बन्ध में परस्पर विरोधी विचारधाराएँ सामने आती हैं, ये हैं–'लोक उपयोगिता' बनाम 'प्रतिफल दर' विचारधारा। सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यमों को पारम्परिक अर्थ में लोक उपयोगिता के तुल्य मानते हैं क्योंकि सार्वजनिक उद्यम आधारभूत उद्योगों की परिधि में आते हैं। अतः इनके उत्पादों की कीमत बहुत ऊँची रखी गयी, तो इससे अर्थव्यवस्था के अनेक अंगों में लागतें बढ़ जायेगी। वैश्वीकरण के दौर में सार्वजनिक उद्यमों को 'प्रतिफल दर' नीति भी अपनानी चाहिए। निर्माण व संचालन की व्यवस्था के साथ–साथ लागत को कीमत नीति से जोड़ना आवश्यक है। अगर उत्पाद का उद्देश्य सामाजिक हित की रक्षा करना न हो तो कीमत को लागत से ऊँची रख सकते हैं। आवश्यकता पड़ने पर 'न लाभ न हानि' को आधार बनाया जा सकता है।

सरकारी उपाय

(1) निजीकरण नीति– औद्योगिक नीति 1991 में सार्वजनिक क्षेत्र के सुधार के लिए चार प्रमुख कदम उठाये गये जिसमें से एक निजीकरण की नीति थी। इसके अन्तर्गत सार्वजनिक क्षेत्र के लिए आरक्षित उद्योगों की संख्या में कमी कर दी गयी।

(2) विनिवेश नीति– सरकार ने नई औद्योगिक नीति के तहत साधन एकत्रण के लिए तथा सामान्य जनता व श्रमिकों की सार्वजनिक क्षेत्रों में भागीदारी को प्रोत्साहित करने के लिए कुछ चुने हुए सार्वजनिक उद्यमों के शेयरों का विनिवेश किया। विनिवेश का मुख्य लक्ष्य बजट के लिए गैर–स्फीतिकारी बजट व वित्तीय साधन जुटाना है– अन्य सभी लक्ष्य इस लक्ष्य की तुलना में गौण है। सरकार ने मोटे तौर पर विनिवेश की दो विधियों का प्रयोग किया है– (क) विशिष्ट सार्वजनिक उद्यमों के शेयरों की बिक्री, तथा (ख) सार्वजनिक इकाइयों की निजी क्षेत्र के उद्यमियों के हाथ बिक्री। इसे स्ट्रैटेजिक बिक्री की संज्ञा दी जाती है।

(3) बाजार उन्मुखता – सार्वजनिक उद्यमों का कार्य संचालन बाजार कीमतों और प्रतियोतगिता के आधार पर करने के लिए इन उद्यमों को एकाधिकार आयोग के अन्तर्गत ला दिया गया है। अब निजी क्षेत्र की भॉति, अब सरकार सार्वजनिक उद्यमों के मामले भी औद्योगिक तथा वित्तीय पुनर्निर्माण बोर्ड को सौंपा करेगी।

(4) अस्वस्थ इकाइयों के लिए नीति – 1991 की औद्योगिक नीति में सार्वजनिक उद्यमों को भी औद्योगिक और वित्तीय पुनर्निर्माण बोर्ड के दायरे में लाया गया है। यह निर्धारित करने की जिम्मेदारी बोर्ड को दी गयी है कि कौन सी अस्वस्थ सार्वजनिक इकाई का पुनर्गठन संभव है और किस इकाई को बन्द किया जाना है। इसके अलावा इस नीति में सार्वजनिक उद्यमों के प्रबन्धकों को अधिक अधिकार एवं स्वायत्तता प्रदान किया गया तथा उन्हें निष्पादन के लिए उत्तरदायी बनाने की व्यवस्था की गयी।

(5) मूल्य नीति – 1991 में नयी आर्थिक नीति की घोषणा के बाद सार्वजनिक उद्यमों की मूल्य नीति में स्पष्ट परिवर्तन हुआ है। नई नीति में बाजार–आधारित मूल्य नियमन नीति अपनाने की चेष्टा की गयी है। कई उपभोक्ता वस्तुओं पर से कीमत नियंत्रण हटा लिए गये हैं। सीमेन्ट और इस्पात के मूल्य विनियंत्रित कर दिए गये हैं। प्रशासित मूल्य को अब केवल लोकहित सेवाओं, परिवहन सेवाओं तथा कोयला व पेट्रोलियम तक सीमित कर दिया गया है।

9.4 अभ्यास प्रश्न

1. लघु उत्तरीय प्रश्न

(क) सार्वजनिक उद्यम की कार्यशैली का नियंत्रण एवं नियमन किसके द्वारा किया जाता है?

(ख) सार्वजनिक उद्यमों की मूल्य नीति का आधार बताइए।

(ग) औद्योगिक नीति 1991 में सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यम के सुधार के लिए चार प्रमुख कदम बताइये।

(2) सत्य/असत्य बताइये–

(क) सार्वजनिक उपक्रमों का स्वामित्व निजी हाथो में होता है।

(ख) सार्वजनिक उपक्रमों का निर्णय प्रक्रिया सार्वजनिक हित निहित होता है।

(ग) सरकारी उद्यमों की वित्त व्यवस्था सरकार द्वारा बजट में व्यवस्था करके प्रदान की जाती है।

(3) बहुविकल्पीय प्रश्न

(क) सार्वजनिक उपक्रमों का दूसरा नाम है–

(अ) लोक उपक्रम (ब) निजी उपक्रम

(स) दोनों (द) इनमें से कोई नहीं

(ख) सार्वजनिक उपक्रम का उद्देश्य होता है–

(अ) लाभ कमाना (ब) आर्थिक विकास

(स) सामाजिक विकास (द) आर्थिक एवं सामाजिक विकास

(4) एक पंक्ति अथवा एक शब्द में उत्तर वाले प्रश्न–

(क) सार्वजनिक उपक्रम किसके प्रति उत्तरदायी होते हैं?

(ख) समाजवादी समाज की स्थापना का व्रत भारत सरकार ने कब लिया था?

(ग) सार्वजनिक उद्यमों का मूल्यांकन किस आधार पर होना चाहिए?

(5) रिक्त स्थान भरिए–

(क) भारत में सार्वजनिक क्षेत्र के विकास को ..... और ..... से गति मिली।

(ख) सार्वजनिक उद्यमों को औद्योगिक और वित्तीय पुनर्निर्माण बोर्ड के दायरे में ..... नीति में लाया गया।

(ग) सावर्जनिक उपक्रम के प्रबंध में ..... का पालन किया जाता है।

9.4 सारांश

भारत के वर्तमान आर्थिक ढॉचे को प्रायः मिश्रित अर्थव्यवस्था के नाम से पुकारा जाता है इस व्यवस्था में उत्पादन के दो क्षेत्र हैं, पहला सार्वजनिक क्षेत्र और दूसरा निजी क्षेत्र। सार्वजनिक क्षेत्र को लोक उपक्रम भी कहते हैं, इसका प्रबन्धन, संचालन एवं स्वामित्व केन्द्र, राज्य या स्थानीय सरकार अथवा किसी अन्य लोक संस्था के अधीन होता है। यह लाभ

आधारित उद्योग नहीं होता है। इस उद्देश्य से आर्थिक एवं सामाजक ढॉचे का विकास करना है, जबकि निजी उद्यम का आधार लाभ ही होता है। सार्वजनिक उद्योग देश के बुनियादी आर्थिक संरचना एवं मजबूत औद्योगिक आधार प्रदान करते हैं। जैसा कि ए.एच. हैन्सन ने कहा है, 'यदि यह मान भी लिया जाय कि राज्य का काम केवल मूलभूत सेवाओं को प्रदान करना है तो भी विनिर्माण क्षेत्र, बिजली परिवहन, संचार इत्यादि क्षेत्रों में सार्वजनिक क्षेत्र की भूमिका से इन्कार नहीं किया जा सकता। उपभोग पदार्थों का उत्पादन करने वाले उद्योगों में निजी क्षेत्र अधिक दिलचस्पी रखता है परन्तु इन उद्योगों का विकास भी उत्पाद वस्तु उद्योगों पर निर्भर करता है। उद्योगों का विकास भी उत्पाद वस्तु उद्योगों पर निर्भर करता है। इसलिए उपभोग वस्तु उद्योग का विकास काफी हद तक सार्वजनिक उद्यमों के विकास पर निर्भर करता है क्योंकि उत्पाद वस्तु उद्योग के विकास में निजी क्षेत्र की कोई रुची नहीं होती है इसलिए राज्य को हस्तक्षेप करना पड़ता है और स्वयं इन उद्योगों का विकास करना पड़ता है। सार्वजनिक उद्योग क्षेत्रीय असमानताओं में कमी लाते हैं, आर्थिक शक्ति के संकेन्द्रण पर नियंत्रण रखते हैं, रोजगार एवं श्रम कल्याण में वृद्धि करते हैं। इसके अतिरिक्त आवश्यक वस्तु के कीमतों को नियंत्रित करने में मदद करते हैं।

9.5 शब्दावली

- **टिकाऊ विकास :** टिकाऊ विकास को सम्पोषी विकास या सतत् विकास भी कहते हैं। ब्रूडलैण्ड आयोग के अनुसार टिकाऊ विकास ''विकास की वह प्रक्रिया है जिसमें वर्तमान की आवश्यकताएं, बिना भावी पिढ़ी की क्षमता, योग्यताओं से समझौता किये, पूरी की जाती है।''
- **समावेशी विकास :** समावेशी विकास का सामान्य अर्थ है– आर्थिक विकास एवं सामाजिक विकास की मुख्य धारा में सबको जोड़ना है जिससे आर्थिक विकास से सभी लोग सामान्य रुप से लाभान्वित हो सकें।
- **पैमाने की किफायतें :** पैमाने की किफायतें से तात्पर्य बड़े पैमाने पर वस्तु का उत्पादन करना है जिससे प्रति इकाई उत्पादन लागत में कमी आती है।
- **पूंजी निर्माण :** पूंजी निर्माण से तात्पर्य किसी दी हुई अवधी में उपलब्ध पूंजीगत वस्तु जैसे मशीन, बिजली, शिक्षा, स्वास्थ्य, अनुसंधान आदि के उत्पादन में वृद्धि से है। दूसरे शब्दों में पूंजी निर्माण से तात्पर्य पूंजीगत वस्तु के उत्पादन में वृद्धि से है।

9.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

(1) (क) सार्वजनिक उद्यम की कार्यशैली का नियंत्रण एवं नियमन शीर्ष स्तर पर बैठे राजनीतिज्ञों द्वारा किया जाता है।

(ख) सार्वजनिक उद्यमों की मूल्य नीति का आधार हमेशा लाभ नहीं होता है बल्कि देश के आर्थिक विकास को सुदृढ़ एवं समृद्ध बनाना होता है।

(ग) औद्योगिक नीति 1991 में सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यम के सुधार के लिए चार प्रमुख कदम थे– (1) निजीकरण नीति, (2) विनिवेश नीति, (3) बाजार उन्मुखता, तथा (4) अस्वस्थ इकाईयों के लिए नीति।

(2) (क) असत्य– सार्वजनिक उपक्रमों का स्वामित्व सरकार के हाथों में होता है।

(ख) सत्य

(ग) सत्य

(3) (क) (अ) लोक उपक्रम
(ख) (द) आर्थिक एवं सामाजिक विकास
(4) (क) सार्वजनिक उद्यम जनता, सरकार एवं संसद के प्रति उत्तरदायी होते हैं।
(ख) समाजवादी समाज की स्थापना का व्रत भारत सरकार ने 1954 में किया था।
(ग) सार्वजनिक उद्यमों का मूल्यांकन सामाजिक लाभ एवं सामाजिक लागत की तुलना के द्वारा होना चाहिए न कि उसके लाभ के आधार पर।
(5) (क) औद्योगिक नीति, 1948 और औद्योगिक नीति, 1956
(ख) 1991 की औद्योगिक नीति
(ग) सरकारी प्रशासन की पद्धतियों एवं नियमों

9.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

- दत्त, रूद्र एवं सुन्दरम् के.पी.एम. (2006), 'भारतीय अर्थव्यवस्था', एस. चन्द एण्ड कम्पनी लि., नई दिल्ली
- मिश्र, एस.के. एवं पुरी वी.के. (2007), 'भारतीय अर्थव्यवस्था', हिमालया पब्लिशिंग हाउस, बम्बई
- अग्रवाल, एन. (2007), 'भारतीय अर्थव्यवस्था – विकास एवं आयोजन', न्यू एज इन जर्नल पब्लिशर्स

9.8 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

- एस.सी. जैन, 'भारतीय अर्थव्यवस्था', साहित्य भवन पब्लिकेशन, आगरा
- वी.सी. सिन्हा, 'अर्थशास्त्र', साहित्य भवन पब्लिकेशन, आगरा

9.9 निबंधात्मक प्रश्न

1. सार्वजनिक क्षेत्र किसे कहते हैं? इसके औद्योगिक विकास में महत्वपूर्ण भूमिका को समझाइये।
2. सार्वजनिक क्षेत्र उद्यम की क्या समस्यायें हैं? इन समस्याओं के समाधान हेतु उपाय बताइए।
3. सार्वजनिक उपक्रमों के निष्पादनता में कमी के कारण बताइए तथा निष्पादनता में सुधार के लिए उपाय की व्याख्या कीजिए।

इकाई 10 – लघु क्षेत्र उद्यम
(SMALL SECTOR INDUSTRIES)

10.1 प्रस्तावना
10.2 उद्देश्य
10.3 लघु उद्योग
  10.3.1 लघु उद्योग का अर्थ एवं परिभाषा
  10.3.2 भारतीय अर्थव्यवस्था में उद्योग का वर्गीकरण
  10.3.3 भारतीय अर्थव्यवस्था में लघु क्षेत्र उद्योग का महत्व
  10.3.4 लघु क्षेत्र उद्योग की समस्याएँ
  10.3.5 लघु क्षेत्र उद्योगों की समस्याओं के समाधान हेतु सुझाव
10.4 लघु उद्योगों हेतु सरकार के प्रयास
  10.4.1 लघु उद्योगों के विकास के लिए सरकारी नीति
  10.4.2 नयी लघु उद्योग नीति
10.5 अभ्यास प्रश्न
10.6 सारांश
10.7 शब्दावली
10.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
10.9 संदर्भ ग्रंथ सूची
10.10 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
10.11 निबन्धात्मक प्रश्न

10.1 प्रस्तावना

इससे पहले की इकाई में आपने सार्वजनिक क्षेत्र उद्यम के बारे में जानकारी प्राप्त की। अब आप बता सकते हैं कि सार्वजनिक उद्यम किसे कहते हैं। इनकी क्या समस्या है। यह देश के आर्थिक विकास में कैसे मदद करते हैं।

अन्य समस्याओं के अतिरिक्त भारत की सबसे बड़ी समस्या बेरोजगारी की है। लघु क्षेत्र उद्योग बेरोजगारी जैसी समस्या को दूर करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं क्योंकि इन उद्योगों में कम पूंजी की आवश्यकता पड़ती है। प्रस्तुत इकाई में लघु क्षेत्र उद्यम क्या है? इसके वर्गीकरण एवं आवश्यकता के बारे में विस्तार से अध्ययन करेंगे।

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप लघु क्षेत्र उद्यम की परिभाषा बता पायेंगे। लघु क्षेत्र उद्यम रोजगार प्रदान करने में कैसे महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं एवं इनकी समस्याओ तथा नयी लघु उद्योग नीति के बारे में विस्तार से चर्चा कर सकेंगे।

10.2 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के बाद आप बता सकेगें कि :

- ✓ लघु एवं कुटीर उद्योग में अन्तर स्पष्ट कर पायेंगे।
- ✓ लघु क्षेत्र के उद्योगों की समस्या एवं समाधान की व्याख्या कर सकेंगे।
- ✓ 1991 की नई लघु उद्योग नीति क्यों बनायी गयी?

10.3 लघु उद्योग

10.3.1 लघु उद्योग का अर्थ

यद्यपि कुटीर उद्योगों को लघु उद्योग कहा जाता है लेकिन 1950 के राजकोषीय आयोग ने कुटीर तथा लघु उद्योगों में अन्तर स्पष्ट किया है। राजकोषीय आयोग के अनुसार कुटीर उद्योग वे उद्योग होते हैं जिनमें परिवार के सदस्य कार्य करते हैं। यह उद्योग पूर्णकालिक व्यवसाय के रुप में या अंशकालिक व्यवसाय के रुप में चलाये जाते हैं जिनमें परम्परागत विधियों एवं स्थानीय कच्चे माल का प्रयोग होता है तथा उत्पादित वस्तुओं को स्थानीय बाजार में बेचा जाता है। औद्योगिक विकास तथा विनियमन अधिनियम, 1955 में जिन उद्योगों को पंजीकरण से मुक्त रखा गया था उन उद्योगों को 'लघु अथवा छोटे पैमाने वाला क्षेत्र' कहा गया। जिन उद्योगों में विद्युत शक्ति का प्रयोग होता था, किन्तु मजदूरों की संख्या 50 से कम थी और जिन उद्योगों में विद्युत शक्ति का प्रयोग नहीं होता था तथा श्रमिक संख्या 100 से कम थी, उनका पंजीकरण आवश्यक नहीं था। इस क्षेत्र को लघु उद्योग कहा गया। औद्योगिक विकास तथा निनियमन अधिनियम, 1955 में पंजीकरण से मुक्त रखा। इस क्षेत्र की परिधि से बाहर वाले उद्योगों को 'बड़े पैमाने के उद्योग' की संज्ञा दी गयी। बड़े पैमाने के उद्योग के अन्तर्गत उन उद्योगों को रखा गया जिनमें विद्युत शक्ति सहित 50 या इससे अधिक मजदूर और विद्युत शक्ति के बिना 100 अथवा उससे अधिक मजदूर काम करते हैं।

10.3.2 भारतीय अर्थव्यवस्था में लघु उद्योग का वर्गीकरण

छोटे, लघु एवं मझोले उद्यम विकास अधिनियम, 2006 के अन्तर्गत उद्योगों को दो श्रेणियों में बॉटा गया है जिसे चार्ट द्वारा दिखाया गया है–

अब आप समझ गये होंगे कि विनिर्माण उद्योग एवं सेवा उद्योग में क्या अन्तर है।

10.3.3 भारतीय अर्थव्यवस्था में लघु उद्योग का महत्व

भारत जैसे विकासशील अर्थव्यवस्था में लघु क्षेत्र के उद्योग आर्थिक, सामाजिक तथा राजनैतिक पहलुओं से औद्योगिक विकास की आधारशिला है। अतः सरकार को संतुलित अर्थव्यवस्था की दृष्टि से कुटीर तथा छोटे पैमाने के उद्योग के विकास को महत्व प्रदान करना चाहिए। लघु क्षेत्र उद्यम का महत्व निम्नलिखित है–

(1) **रोजगार में वृद्धि–** भारत जैसे अर्द्धविकसित देश में जहॉ श्रमिक अधिक मात्रा में है और पूंजी की कमी है। ऐसे पूंजी अभाव एवं श्रम प्रधान देश में लघु उद्योग उपयुक्त है क्योंकि इन उद्योगों द्वारा कम पूंजी के विनियोग से भी रोजगार में पर्याप्त वृद्धि की जा सकती है। 2001 में इस उद्योग में 19.2 मिलियन लागों का रोजगार प्रदान किया था। औद्योगिक क्षेत्र के कुल रोजगार का 80 प्रतिशत लोगों को रोजगार इसी उद्योग में मिला हुआ है।

(2) **आय वितरण में समानता–** बड़े उद्योगों की तुलना में लघु उद्योगों का स्वामित्व अधिक से अधिक हाथों में जाता है जिससे आर्थिक शक्ति का केन्द्रीकरण नहीं होता है फलस्वरुप राष्ट्रीय आय का समान वितरण होता है।

(3) **बड़े उद्योगों के लिए सहायक या पूरक–** लघु उद्योग बड़े उद्योगों को कच्चा माल प्रदान करते हैं जिससे उपभोग वस्तुओं का निर्माण होता है। इस तरह से ये उद्योग बड़े उद्योग के पूरक होते हैं।

(4) **तकनीकी ज्ञान की कम आवश्यकता –** इन उद्योगों को चलाने के लिए आधुनिक तकनीकी की कम आवश्यकता होती है जिससे ग्रामीण व्यक्ति भी इस उद्योग को चला सकते हैं।

(5) **आयात और निर्यात–** लघु उद्योग स्थानीय संसाधनों का एवं परम्परागत तकनीकी के प्रयोग से वस्तुओं का उत्पादन करते हैं जिससे आयात पर निर्भरता कम होती है। ये उद्योग कलात्मक वस्तुओं का उत्पादन करते हैं जैसे हाथी दांत पर काम, चन्दन की वस्तुएँ, पत्थर की मूर्तियॉ, धातु की मूर्तियॉ आदि तथा इनका निर्यात करते हैं जिससे विदेशी मुद्रा प्राप्त होती है।

(6) **वर्ग–संघर्ष से बचाव–** छोटे उद्योग में परिवार के सदस्य ही कार्य करते हैं या बहुत कम मात्रा में मजदूरी के बदले में श्रमिक रखे जाते हैं। लघु उद्योगों में मालिक व मजदूरों में परस्पर सम्बन्ध भी अच्छे रहते हैं। फलस्वरूप वर्ग संघर्ष की सम्भावनाएँ कम रहती है।

(7) **कृषि पर जनसंख्या के भार में कमी–** भारत जैसे विकासशील देश में जहॉ जनसंख्या तीव्र गति से बढ़ रही है जिसके कारण कृषि पर दबाव भी बढ़ता जा रहा है ऐसी स्थिति में लघु उद्योग ही अत्यन्त महत्वपूर्ण हो जाते हैं।

(8) **शीघ्र उत्पादक उद्योग–** लघु उद्योग में स्थापना के तुरन्त बाद वस्तुओं का उत्पादन शुरू हो जाता है इसलिए इनको शीघ्र उत्पादक उद्योग भी कहते हैं। भारत में वस्तुओं की मॉग की तुलना में बड़े उद्योग वस्तुओं की पूर्ति करने में असफल होते हैं क्योंकि वृहद उद्योगों की स्थापना एवं उनके द्वारा उत्पादन करने के समय में वर्षों का अन्तर होता है इसलिए लघु उद्योग वस्तुओं की मॉग की पूर्ति में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

(9) **शहरीकरण और औद्योगीकरण के प्रभाव से सुरक्षा–** ये उद्योग सामान्यतः स्थानीय होते हैं इसलिए बड़े उद्योगों की समस्याओं जैसे– आवास की समस्या, यातायात, पानी, जल निकासी, दूषित वातावरण जैसी समस्याओं से मुक्ति मिल जाती है।

(10) **विकेन्द्रीकरण–** लघु उद्योग विकेन्द्रीकरण का महत्वपूर्ण साधन है। भारत में मिल उद्योग का अभी तक जो विकास हो पाया है, वह मुख्यतः मुम्बई, अहमदाबाद, नागपुर, कोलाकाता आदि कुछ नगरों तक ही सीमित रहा है। परिणामस्वरूप देश में आर्थिक एवं सामाजिक विषमताएँ उत्पन्न हुई है। ऐसी समस्याओं के समाधान हेतु लघु उद्योग महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। लागत थोड़ी होने एवं आधारित संरचना जैसी सुविधाओं की कम जरुरत पड़ने के कारण ये उद्योग अपेक्षाकृत अधिक आसानी से देश के विभिन्न भागों में फैलाये जा सकते हैं।

इसके अतिरिक्त लघु उद्योग फूड प्रोसोसिंग क्षेत्र में भी अपना योगदान दे रहे हैं। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि लघु क्षेत्र उद्यम हमारी अर्थव्यवस्था की एक ऐसी महत्वपूर्ण इकाई है जिस पर भारतीय अर्थव्यवस्था की एक संतुलित क्षेत्रीय विकास की नींव रखी जा सकती है।

10.3.4 लघु उद्योग की समस्याएँ

लघु एवं कुटीर उद्योगों को कई प्रकार की समस्याओं का सामना करना पड़ता है जिनके परिणामस्वरुप कई इकाइयॉ बीमार हो जाती है तथा कई इकाइयॉ बन्द हो जाती है। लघु क्षेत्र उद्यम के विकास हेतु सरकार द्वारा पंचवर्षीय योजनाओं के दौरान अनेक महत्वपूर्ण कदम उठाये गये हैं फिर भी ये उद्योग कुछ आधारभूत, वित्तीय एवं बाजार व्यवस्था जैसी समस्याओं से ग्रसित है जिनके कारण ये उद्योग प्रगति नहीं कर पा रहे हैं। इन उद्योगों की प्रमुख समस्याएँ निम्नलिखित है–

(1) **कच्चे माल की समस्या–** इन उद्योगों की सबसे बड़ी समस्या कच्चे माल की है जो उन्हें उचित समय तथा उचित मूल्य पर नहीं मिल पाता है। अधिकांश कुटीर उद्योग कच्चे माल के लिए स्थानीय स्रोतों पर निर्भर रहते हैं। हथकरघा उद्योग सूत की पूर्ति के लिए स्थानीय व्यापारियों पर निर्भर रहता है। ये व्यापारी बुनकरों को प्रायः इस शर्त पर कच्चा माल बेचते हैं कि बुनकर कपड़ा उन्हीं को बेचेंगे। इस तरह बुनकरों का दोहरा शोषण होता है। एक ओर तो ये बुनकरों से कच्चे माल की अधिक कीमत लेते हैं और दूसरी ओर उन्हें तैयार माल की कम कीमत देते हैं।

(2) **संगठित बाजार का अभाव–** लघु क्षेत्र उद्यम के पास कोई संगठन नहीं है। प्रायः इन उद्योगों को वस्तुओं को बेचने के लिए चालबाज मध्यस्थों पर निर्भर रहना पड़ता है जो उनका शोषण करते हैं।

(3) **वित्त की समस्या–** छोटे आकार के होने के कारण इन उद्योगों को वित्तीय कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। व्यापारिक बैंकों से ऋण लेने में उन्हें वैधानिक कार्यवाहियॉ करनी पड़ती है और तत्पश्चात समय–समय पर रिटर्न भेजने पड़ते हैं। अतः इन कागजी समस्याओं से छुटकारा पाने के लिए साहूकारों पर निर्भर हो जाते हैं जो उनका शोषण करना शुरू कर देते हैं।

(4) **मशीनें और प्रौद्योगिक–** शिक्षा के अभाव, बाजार की समस्या एवं परम्पागत तकनीक के प्रयोग से इन उद्योगों की उत्पादन लागत अधिक होती है। ये उद्योग शिक्षा व वित्त के अभाव में नई प्रौद्योगिक/तकनीक का प्रयोग नहीं कर पाते हैं।

(5) **बड़े उद्योगों से प्रतियोगिता–** बड़े पैमाने के उद्योग की तुलना में लघु क्षेत्र उद्योग की वस्तुएँ महँगी होती हैं एवं इनकी किस्म भी अच्छी नहीं होती है इसलिए लघु क्षेत्र उद्योग प्रतियोगिता में ठहर नहीं पाते।

(6) **प्रमापीकरण का अभाव–** इन उद्योगों के द्वारा उत्पादित वस्तुओं में एकरुपता का अभाव रहता है। अतः प्रामाणिकता के अभाव के कारण इनके वस्तओं की कीमत में अन्तर पाया जाता है जिससे संगठित बाजार में इनकी बिक्री कठिन हो जाती हैं

(7) **परम्परागत तकनीक–** लघु क्षेत्र उद्योग परम्परागत तकनीक के प्रयोग से वस्तुओं का उत्पादन करते हैं। परिणामस्वरुप इनकी लागत अधिक होती है इसलिए इन वस्तुओं की मांग में कमी आ जाती है जिसके कारण इन उद्योगों के स्वामी न चाहते हुए भी उद्योग को बन्द करने के लिए विवश हो जाते हैं।

(8) **औद्योगिक शिक्षा एवं प्रशिक्षण की व्यवस्था–** इन उद्योगों के स्वामी प्रशिक्षित नहीं होते हैं एवं इनमें प्रशिक्षण की कमी होती है जिससे अपनी क्षमताओं का भरपूर प्रयोग करने में असमर्थ होते हैं।

(9) **सूचना व परामर्श का अभाव–** इन उद्योगों की सबसे बड़ी समस्या यह है कि इनसे सम्बन्धित परामर्श देने वाली संस्थाओं की भी कमी है।

(10) **विद्युत शक्ति की कमी–** लघु क्षेत्र उद्योगों को सस्ते दर पर बिजली न मिलने के कारण भी ये उद्योग दम तोड़ देते हैं।

(11) **लघु उद्योग में रुग्णता–** लघु इकाईयों के सन्दर्भ में दो मुख्य मुद्दे हैं– (1) बहुत सी ऐसी रुग्ण इकाइयॉ है जिनको चलाना संभव नहीं है, (2) ऐसी रुग्ण इकाइयॉ का पुनर्वास जिन्हें दोबारा चला सकने की सम्भावना है। लघु उद्योग की रुग्णता की समस्या अत्यन्त गंभीर है। मार्च 2004 के अन्त में देश में कुल 3.1 लाख लघु औद्योगिक इकाइयॉ रुग्णता का शिकार थी। इनमें सर्वाधिक इकाईयॉ बिहार में व दूसरे स्थान पर उत्तर प्रदेश में थी।

(12) **अन्य समस्याएँ–** लघु क्षेत्र उद्योग के विकास में कई कारक बाधक है जैसे बाजार स्थिति के बारे में अपूर्ण जानकारी, प्रबन्धकीय एवं तकनीकी कौशल की कमी, परिवहन की सुविधाओं का अभाव, विज्ञापन की कमी, स्थानीय ऊँचे कर, सामान्य शिक्षा का अभाव, अनुसंधान की कमी, बीमार इकाइयॉ तथा उद्योगों के मध्य आपसी संगठन का अभाव आदि। इन उद्योगों के विकास के लिए जो एजेंसिया बनाई गयी है उनमें परस्पर सहयोग एवं तालमेल का अभाव है।

10.3.5 लघु उद्योगों की समस्याओं के समाधान हेतु सुझाव

लघु क्षेत्र उद्योग भारतीय अर्थव्यवस्था में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते है। ये उद्योग स्थानीय संसाधनों का दोहन करके रोजगार सृजन करते है तथा औद्योगिक विकेन्द्रीकरण को रोकने में मदद करते है। इसलिए इनकी समस्याओं के समाधान हेतु सुझाव निम्नलिखित है–

(1) **कच्चे माल की आपूर्ति–** लघु क्षेत्र उद्योगों को सस्ते दर पर कच्चे माल की आपूर्ति सुनिश्चित होनी चाहिए।

(2) **बाजार की सुविधाएँ–** इन उद्योगों के उत्पादित माल के लिए बिक्री एवं विपणन जैसी सुविधाएँ सुनिश्चित होनी चाहिए। अतः इन उद्योगों के उत्पादों की बिक्री के लिए एक केन्द्रीय विक्रय संस्था की स्थापना की जानी चाहिए जो विभिन्न संस्थाओं से निश्चित प्रमाप के अनुसार माल तैयार कराएं एवं बेचने की व्यवस्था करें।

(3) **साख सुविधाएँ–** लघु उद्योगों को साख की सुविधाएँ प्राप्त होनी चाहिए तथा इनकी प्रक्रिया सरल होनी चाहिए जिससे कि ये साहूकारों के चंगुल में न फँस सके।

(4) **उत्पादन तकनीकी में सुधार–** अच्छी किस्म की वस्तुओं का उत्पादन एवं कम कीमत पर इनको उपलब्ध कराना तभी सम्भव है जब ये उद्योग अपनी उत्पादन तकनीक में सुधार लाए। इन उद्योगों के तकनीकों में सुधार लाकर इन्हें बड़े उद्योगों के प्रतियोगिता के लिए तैयार किया जा सकता है।

(5) **लघु उद्योग प्रदर्शनियॉ –** लघु उद्योग के उत्पाद के लिए प्रदर्शनियों की व्यवस्था करनी चाहिए। इन प्रदर्शनियों को केवल बड़े नगर तक ही सीमित न रखकर देश के विभिन्न भागों में लगाया जाना चाहिए जिससे उपभोक्ता इन उद्योगों के सम्बन्ध में विस्तृत जानकारी प्राप्त कर सकें।

(6) **विशाल एवं लघु उद्योगों में समन्वय –** लघु एवं वृहद उद्योगों में समन्वय स्थापित किया जाना चाहिए। उदाहरण के लिए कागज उद्योग में लुगदी बनाने का कार्य लघु उद्योग क्षेत्रों को तथा कागज बनाने का कार्य विशाल उद्योगों को सौंपा जा सकता है।

(7) **औद्योगिक शिक्षा एवं प्रशिक्षण की व्यवस्था–** लघु उद्योग के स्वामियों को एवं उनमें कार्य करने वाले कर्मचारियों को औद्योगिक प्रशिक्षण एवं शिक्षा की व्यवस्था करनी चाहिए ताकि वे आधुनिक वैज्ञानिक विधियों का सहजता से प्रयोग कर सकें। इन सबके लिए गांवों एवं कस्बों में प्रशिक्षण केन्द्र स्थापित करना चाहिए।

(8) **उपयुक्त उद्योग का चयन–** लघु उद्योग के विकास के लिए ऐसे उद्योगों को चुनना चाहिए जिनके भावी विकास की संभावनाएं अधिक हो और जो अन्ततः सक्षम ढंग से चलने वाले हो। उदाहरण के लिए उन उद्योगों का चयन करना चाहिए जिसमें कला कौशल की आवश्यकता हो, स्थानीय कच्चे माल का प्रयोग करती हो, प्रत्यक्ष उपभोग की वस्तुएँ हो या बड़े उद्योगों के लिए आगत की वस्तुएँ तैयार करती हो, इत्यादि उद्योगों को प्रोत्साहित करना चाहिए।

(9) **औद्योगिक सहकारी समितियों की स्थापना–** लघु उद्योग की सबसे बड़ी समस्या यह है कि इनका कोई संगठन नहीं है। ये अपना कार्य अलग–अलग करते हैं। इन उद्योगों में लगे हुए लोगों को माल के खरीदने–बेचने में, उसके उत्पादन तथा ऋण आदि की प्राप्ति में अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। यदि ये लोग औद्योगिक सहकारी समितियों की स्थापना कर ले और इसके द्वारा संगठित होकर कार्य करें तो उत्पादन, बिक्री एवं कच्चे माल सम्बन्धी अनेक कठिनाइयॉ अपने आप दूर हो सकती हैं।

(10) **उच्च कोटि तथा नवीनतम डिजाइनों की वस्तुएँ –** इन लघु उद्योगों की उन्नति तभी संभव है जब ये उद्योग उच्च कोटि तथा नवीनतम डिजाइन की वस्तुओं का उत्पादन करे। इन उद्योगों के कारीगर कभी–कभी जानबूझकर घटिया किस्म का माल तैयार करते हैं। इससे लोगों का विश्वास इन उद्योगों से उठ जाता है और देश–विदेश की अनेक मण्डियॉ हाथ से निकल जाती है। इन सब कमियों को सरकार चाहे तो दूर कर सकती है। उच्चकोटी की शुद्ध वस्तुओं पर सरकारी मोहर लगाने की व्यवस्था करके। सरकारी मोहरों से चीजों की गुणवत्ता, कोटि एवं शुद्धता की गारण्टी हो जाती है। फलस्वरुप ये वस्तु बाजार में अपनी मॉग बना लेते हैं।

लघु उद्योग का देश के आर्थिक विकास में महत्वपूर्ण भूमिका होती है। अतः ऐसे उपाय करना आवश्यक है जिससे संयुक्त रुप में सब कार्य एक योजना के आधार पर हो। यदि

एक या दो ही कार्य को महत्त्व दिया गया तो लघु उद्योग कभी भी सफलता प्राप्त नहीं कर पायेंगे। यह भी ध्यान देना चाहिए कि लघु उद्योगों तथा बड़े पैमान के उद्योगों में प्रतियोगिता कम हो सके तथा इनमें समन्वय स्थापित हो सके। अगर समन्वय स्थापित करने में सफलता मिलती है तो देश में उत्पादन बढ़ेगा और क्षेत्रीय विकास होगा तथा रोजगार का सृजन होगा।

10.4 लघु उद्योगों हेतु सरकार के प्रयास

10.4.1 लघु उद्योगों के विकास के लिए सरकारी नीति

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भारत सरकार यह महसूस करने लगी कि लघु उद्योग बेरोजगारी और गरीबी को दूर करने एवं असमानताओं को कम करने में महत्वपूर्ण योगदान दे सकते हैं। योजना आयोग का भी यही मत है और पंचवर्षीय योजना में लघु उद्योग के लिए विस्तृत विकास कार्यक्रम अपनाए गए है। पहली योजना में लघु उद्योग के विकास के लिए 42 करोड़ रुपये की राशि थी जो नौवीं योजना में बढ़कर 4508 करोड़ हो गयी। इन उद्योगों की उन्नति के लिए सरकार ने तरह–तरह के राजकोषीय मौद्रिक तथा प्रशासनिक उपाय किए हैं। इसमें निम्नलिखित उपाय विशेष रुप से उल्लेखनीय है–

(1) **अखिल भारतीय परिषद** – लघु उद्योगों के विकास के लिए भारत सरकार ने विभिन्न प्रकार की संस्थाओं एवं समितियों की स्थापना की है जैसे
   (1) केन्द्रीय सिल्क परिषद (1945),
   (2) अखिल भारतीय हस्तशिल्प परिषद, 1952,
   (3) अखिल भारतीय हथकरघा परिषद,
   (4) अखिल भारतीय खादी एवं ग्रामोद्योग आयोग, 1955
   (5) राष्ट्रीय लघु उद्योग निगम,
   (6) लघु उद्योग विकास संगठन,
   (7) जिला उद्योग केन्द्र आदि।

   ये संस्थायें लघु एवं कुटीर उद्योगों को विविध तथा विशिष्ट जरुरतों को पूरा करने के लिए विभिन्न प्रकार की सुविधाओं की व्यवस्था करती है।

(2) **विपणन**– लघु उद्योगों की निर्मित वस्तुओं की बिक्री के लिए सरकार ने राष्ट्रीय लघु उद्योग निगम स्थापित किया है। ये निगम विदेशों से भी आर्डर प्राप्त करने की कोशिश करते हैं। देश–विदेश में लघु उद्योगों द्वारा तैयार किए गए माल की खपत बढ़ाने के अतिरिक्त यह निगम आर्डर के अनुसार माल बनाने के लिए लघु उद्योगों को पूंजी व तकनीकी सहायता देने की व्यवस्था करते हैं। यह लघु उद्योगों को उदार शर्तों पर मशीन देने का भी प्रबन्ध करते हैं तथा प्रशिक्षण कार्यक्रम भी चलाते हैं। इसने बड़े नगरों में विक्रय डिपो स्थापित किए हैं। इसके अतिरिक्त खादी तथा ग्रामोद्योग द्वारा फुटकर दुकानें स्थापित की गयी हैं।

(3) **भारतीय लघु उद्योग विकास बैंक की स्थापना**– भारतीय औद्योगिक विकास बैंक की साहयक संस्था के रुप में 2 अप्रैल, 1990 को भारतीय लघु उद्योग विकास बैंक की स्थापना की गयी। इसका मुख्य कार्य लघु उद्योगों को वित्तीय सहायता प्रदान करना है।

(4) **औद्योगिक बस्तियॉं**– कुटीर एवं लघु उद्योगों को सभी सुविधा (जैसे परिवहन, बिजली, पानी, गैस, अच्छे स्थान आदि की सामान्य सामूहिक सेवाओं) एक स्थान पर

देने के लिए तथा उनका क्रमबद्ध विकास करने के लिए औद्योगिक बस्तियों की स्थापना हेतु केन्द्र सरकार राज्य सरकारों को ऋण उपलब्ध करवाती है। इन बस्तियों का मुख्य उद्देश्य लघु उद्योगों को समर्थ बनाना है।

(5) **लघु उद्योग बोर्ड–** प्रधानमंत्री की अध्यक्षता में जून, 1992 में सूक्ष्म, लघु एवं मध्यम उद्योगों के लिए राष्ट्रीय बोर्ड का गठन किया गया। इस बोर्ड का मुख्य कार्य सूक्ष्म, लघु एवं मध्यम उपक्रमों के विकास के लिए सरकार को सलाह देना है।

(6) **बड़े उद्योगों से प्रतियोगिता–** भारतीय लघु उद्योगों के सामने बड़े पैमाने के उद्योगों से प्रतियोगिता की समस्या भी है। चूंकि बड़े पैमाने पर उत्पादित वस्तुएँ अपेक्षाकृत सस्ती होती है, इसलिए लघु उद्योगों की वस्तुओं की बिक्री बाजार में मुश्किल से हो पाती है। इसलिए सरकार ने लघु उद्योगों की सहायता के लिए कुछ क्षेत्रों को लघु उद्योग के लिए आरक्षित रखा है, इसके अतिरिक्त सरकार ने इन उद्योगों को अतिरिक्त छूट व अनुदान प्रदान किया है तथा मिल उद्योगों पर उप कर लगाना और इन उद्योगों की उत्पादन मात्रा को सीमित करना आदि उपाय किए गये हैं।

(7) **तकनीकी सहायता–** लघु उद्योग को तकनीकी सहायता प्रदान करने के लिए सरकार ने वर्ष 1954 में लघु उद्योग विकास संगठन की स्थापना की। जिसके अन्तर्गत 30 लघु उद्योग सेवा संस्थान, 28 शाखा संस्थान तथा 4 क्षेत्रीय प्रशिक्षण केन्द्र, 7 फील्ड परीक्षक केन्द्र, 6 प्रक्रिया एवं उत्पाद विकास केन्द्र, 2 विशिष्ट प्रशिक्षण केन्द्र स्थापित किये गये हैं। लघु उद्योग विकास संगठन की निम्नलिखित योजनाएं चल रही हैं– (1) ऋण गारण्टी योजना, (2) प्रौद्योगिकी विकास के लिए ऋण से जुड़ी पूंजीगत सब्सिडी योजना, (3) समन्वित आधारभूत संरचना विकास योजना, (4) लघु उद्योग सूचना तथा संसाधन केन्द्र नेटवर्क, (5) प्रौद्योगिकी उन्नयन एवं आधुनिकीकरण योजना, तथा (6) विपणन विकास योजना आदि।

(8) **ग्रामीण औद्योगिक परियोजनाएँ–** यह योजना केन्द्रीय सरकार द्वारा प्रारम्भ की गयी है इसका मुख्य उद्देश्य ग्रामीण वातावरण में लाभदायक इकाइयों की स्थापना करने की तकनीक का विकास करना तथा विभिन्न क्षेत्रों में विद्यमान असमानताओं को कम करना और लाभप्रद रोजगार के अवसर उपलब्ध कराना है।

(9) **औद्योगिक सहकारी समितियॉ–** सरकार और योजना आयोग इस बात को स्वीकार करती है कि औद्योगिक सहकारी समितियॉ लघु उद्योग के स्वस्थ एवं तीव्र विकास में काफी योगदान दे सकती है। इन समितियों का मुख्य उद्देश्य उद्योगों द्वारा उत्पादित माल के थोक व्यापार एवं निर्यात में सहायता प्रदान करना है।

(10) **करों में रियायत–** सरकार द्वारा लघु उद्योग के उत्पादन पर करों में छूट प्रदान की जाती है और यदि कहीं कर लगाये भी जाते हैं तो इनकी दरें अत्यधिक कम रहती है।

इन उपायों के अतिरिक्त सरकार ने राष्ट्रीय समता कोष की स्थापना की, खादी तथा ग्रामोद्योग आयोग की स्थापना, कच्चे माल एवं प्रशिक्षण की व्यवस्था, लघु उद्योगों के लिए ऋण गारण्टी फण्ड, लघु उद्यमी क्रेडिट कार्ड योजना, एकीकृत ढॉचागत विकास केन्द्रों की स्थापना, ऋण व्यवस्था, निर्यात समर्थन, सरकारी खरीद में लघु उद्योगों की प्राथमिकता एवं लघु उद्योग संवर्धन के लिए उठाए गए अन्य कदम आदि।

10.4.2 नयी लघु उद्योग नीति, 1991

भारत सरकार ने लघु उद्योगों के विकास के लिए अगस्त 1991 में एक नई नीति की घोषणा की है। इस नई नीति का उद्देश्य है लघु क्षेत्र उद्योग में उत्पादन क्षमता को अधिक मजबूत बनाना, ताकि यह इस क्षेत्र में उत्पादन, रोजगार तथा निर्यात की वृद्धि करके अर्थव्यवस्था में अपना संपूर्ण योगदान दे सके। नई उद्योग नीति की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित है–

(1) **विनियोग सीमा–** लघु उद्योग के क्षेत्र के लिए निवेश सीमा एक करोड़ रुपये है। प्रौद्योगिकी उन्नयन में सहायता पहुंचाने के लिए 71 उच्च प्रौद्योगिकी/निर्यातोन्मुखी वस्तुओं से सम्बन्धित उद्योगों में निवेश की सीमा को बढ़ाकर 5 करोड़ रुपये कर दिया गया है।

(2) **व्यापक नीति पैकेज–** प्रधानमंत्री ने 30 अगस्त, 2000 को लघु उद्योग क्षेत्र तथा अति लघु उद्योग क्षेत्र के लिए व्यापक नीति पैकेज की घोषणा की जिसके मुख्य तत्व अग्रलिखित है–

(1) लघु उद्योग क्षेत्र में प्रतिस्पर्धा में सुधार लाने के लिए उत्पादन शुल्क की 50 लाख रुपये की छूट सीमा को बढ़ाकर एक करोड़ रुपये करना,

(2) लघु उद्योगों की तीसरी गणना करना जिसमें रुग्णता और उसके कारणों को भी शामिल किया जायेगा,

(3) उद्योग से सम्बन्धित क्षेत्र तथा व्यवसाय उद्यम में निवेश के मौजूदा 5 लाख रुपये की सीमा को बढ़ाकर 10 लाख रुपये करना,

(4) प्रत्येक लघु उद्योगों के सम्बन्ध में दसवीं योजना के अन्त तक ISO 9000 प्रमाण–पत्र प्राप्त करने के लिए 75,000 रुपये प्रदान करने की चालू योजना को जारी रखना,

(5) लघु उद्योग संघों को परीक्षण प्रयोगशालाओं के विकास तथा संचालन के लिए प्रोत्साहित करना,

(6) मंत्रीमंडल के सचिव की अध्यक्षता में एक समूह का गठन करना जो इस क्षेत्र में लागू कानूनों व नियमों की गहराई से जांच करे तथा जिन नियमों वे कानूनों की सार्थकता नहीं रह गयी है उन्हें समाप्त करने के लिए आवश्यक सुझाव दे,

(7) चालू समेकित आधारभूत विकास योजना को और क्षेत्रों में लागू करना तथा सारे देश में इसका विस्तार इस प्रकार करना कि 50 प्रतिशत आरक्षण ग्रामीण क्षेत्र के लिए हो तथा 50 प्रतिशत अति लघु क्षेत्र को उपलब्ध हो तथा,

(8) प्रधानमंत्री रोजगार योजना (जो सूक्ष्म उद्यम की स्थापना के लिए वित्तीय सहायता देती है तथा शिक्षित बेरोजगारों के लिए रोजगार अवसर प्रदान करती है) के अधीन परिवार की आय पात्रता सीमा को 24000 रुपये प्रतिवर्ष से बढ़ाकर 40,000 रुपये प्रतिवर्ष करना।

(3) **अनारक्षण की नीति–** लघु क्षेत्र की 'प्रतिस्पर्धात्मक शक्ति' को बढ़ाने के लिए अनारक्षण की नीति अपनायी गयी थी। अनारक्षण नीति के तहत लघु और कुटीर उद्योग के लिए आरक्षित मदों की संख्या जो जुलाई 1989 में 836 थी, वर्ष 2007 में मात्र 114 रह गयी।

(4) **उद्योगों का वर्गीकरण–** इस नीति के अनुसार उद्योगों को तीन भागों में विभाजित किया गया जिसे सूक्ष्म, लघु एवं मध्यम उपक्रम के नाम से पुकारा गया। सूक्ष्म, लघु

एवं मध्यम उपक्रम को विनिर्माण और सेवा उद्योग में बॉटा गया। विनिर्माण उद्योग के अन्तर्गत 25 लाख रुपये से कम निवेश को सूक्ष्म उद्योग, 25–5 करोड़ रुपये तक के निवेश को लघु उद्यम तथा 5 करोड़ से 10 करोड़ रुपये तक के निवेश को मध्यम उपक्रम के दर्जे में रखा गया। सेवा क्षेत्र के अन्तर्गत 10 लाख रुपये तक के निवेश को सूक्ष्म, 10 लाख रुपये से लेकर 2 करोड़ रुपये तक के निवेश को लघु तथा 2 करोड़ रुपये से लेकर 5 करोड़ रुपये तक के निवेश को मध्यम उपक्रम के दर्जे में रखा गया।

(5) वित्तीय सहायता– नई नीति के लघु उद्योगों को प्राप्त होने वाली वित्तीय सहायता में निम्न प्रकार से विस्तार किया है– राष्ट्रीय कोष समता का विस्तार किया जायेगा, (2) आसान ऋण योजना का विस्तार करना।

राष्ट्रीय कोष समता के तहत 10 लाख रुपये तक की परियोजना को 15 प्रतिशत तक इक्विटी समर्थन अर्थात् सहायता दी जायेगी। आसान ऋण योजना का विस्तार करके उसमें 20 लाख रुपये तक की परियोजना जिसकी कार्यशील पूंजी 10 लाख रुपये तक हो, को शामिल किया जायेगा।

(6) प्रौद्योगिकी में सुधार के लिए योजना– इस योजना के तहत वाणिज्यिक बैंकों, राज्य वित्त निगमों, राष्ट्रीय लघु उद्योग निगम द्वारा लघु उद्योगों को प्रौद्योगिकी सुधार के लिए 1 करोड़ रुपये तक दी जाने वाली ऋण राशि पर 15 प्रतिशत पूंजी सहायता की अनुमति दी गयी है।

10.5 अभ्यास प्रश्न

1. लघु उत्तरीय प्रश्न

(क) औद्योगिक विकास तथा विनियमन अधिनियम, 1995 में किन उद्योगों को पंजीकरण से मुक्त रखा गया था।

(ख) कुटीर उद्योग किसे कहते हैं।

(ग) सूक्ष्म, लघु एवं मध्यम उद्योगों के लिए स्थापित राष्ट्रीय बोर्ड का मुख्य कार्य बताइए।

2. सत्य/असत्य बताइये–

(क) औद्योगिक विकास तथा विनियमन अधिनियम, 1955 में लघु अथवा छोटे पैमाने वाले क्षेत्र को पंजीकरण से मुक्त रखा गया है।

(ख) सेवा क्षेत्र के अन्तर्गत 10 लाख रुपये तक के निवेश को मध्यम उपक्रम कहते हैं।

(ग) छोटे, लघु एवं मध्यम विकास अधिनियम, 2006 के अंतर्गत उद्योगों को विनिर्माण उद्योग और सेवा उद्योग में बॉटा गया है।

3. बहुविकल्पीय प्रश्न–

(क) भारतीय लघु उद्योग विकास बैंक की स्थापना कब हुई।

(अ) 1990 (ब) 1951

(स) 1989 (द) 1992

(ख) विनिर्माण उद्योग के अन्तर्गत लघु उद्योग के निवेश की सीमा है–

(अ) 25 लाख रु. तक (ब) 25 लाख से 5 करोड़ रु. तक

(स) 5 करोड़ से 10 करोड़ रु. (द) 10 करोड़ से अधिक

4. एक पंक्ति अथवा एक शब्द में उत्तर वाले प्रश्न–

(क) प्रथम औद्योगिक नीति कब बनायी गयी।

(ख) सेवा क्षेत्र के अन्तर्गत 2 करोड़ रुपये से 5 करोड़ रुपये तक के निवेश को कौन–सा उद्यम कहते हैं।

(ग) विनिर्माण उद्योग और सेवा उद्योग को किन तीन उद्योगों में बॉटा गया है।

5. रिक्त स्थान भरिए–

(क) छोटे, लघु एवं मझोले उद्यम विकास अधिनियम, 2006 के अन्तर्गत उद्योगों को .... में बॉटा गया।

(ख) विनिर्माण उद्योग के अन्तर्गत 25 लाख रुपये से कम निवेश को ..... कहते हैं।

(ग) लघु उद्योग को तकनीकी सहायता प्रदान करने के लिए सरकार ने ..... में लघु उद्योग विकास संगठन की स्थापना की।

10.6 सारांश

इस इकाई के अध्ययन के बाद आपको मालूम हो चुका है कि छोटे, लघु एवं मझोले उद्यम विकास अधिनियम, 2006 के अंतर्गत उद्योगों को विनिर्माण उद्योग और सेवा उद्योग में बॉटा गया। ये विभाजन निवेश की मात्रा पर आधारित है। ये उद्योग रोजगार सृजन करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। इनकी समस्याओं के समाधान के लिए सरकार ने विभिन्न औद्योगिक नीतियों में उपाय सुझाए हैं। प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के बाद आप सरकार की विभिन्न नीतियों की व्याख्या कर सकेंगे।

10.7 शब्दावली

- **विकेन्द्रीकरण:** विकेन्द्रीकरण से तात्पर्य उद्योगों का एक स्थान पर न होकर विभिन्न स्थानों पर होने से है।
- **आगत :** अंतिम वस्तु के उत्पादन में लगे हुई वस्तु को आगत कहते हैं।
- **रुग्णता :** भारतीय रिजर्व बैंक के अनुसार एक औद्योगिक इकाई उस स्थिति में रुग्ण मानी जाती है जब इसे एक साल नकद हानियॉ हो जाती है और आगामी दो वर्षों में भी नकद हानि होने की सम्भावना रहती है। बैंक के निर्णयानुसार इसके वित्तीय ढॉचे में असंतुलन पाया जाता है अर्थात् चालू अनुपात (Current Ratio) 1:1 से कम होता है तथा कर्ज–शेयर पूंजी अनुपात (Debt Equity Ratio) भी विपरीत होता जाता है।
- **साख :** बैंकों द्वारा दिये गए ऋण को साख कहते हैं।
- **विपणन :** वस्तु के उत्पादन से लेकर वस्तु के अंतिम उपभोक्ता तक पहुँचाने की प्रक्रिया को विपणन कहते हैं।

10.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

(1) (क) लघु उद्योग अथवा छोटे पैमाने वाले उद्योग को औद्योगिक विकास तथा विनियमन अधिनियम, 1955 में पंजीकरण से मुक्त रखा गया।

(ख) जिस उद्योग में परिवार के सदस्य कार्य करते हैं उसे कुटीर उद्योग कहा जाता है।

(ग) सूक्ष्म, लघु एवं मध्यम उद्योगों के लिए स्थापित राष्ट्रीय बोर्ड का मुख्य कार्य इन उपक्रमों के विकास के लिए सरकार को सलाह देना है।

(2) (क) सत्य

(ख) असत्य– सूक्ष्म उपक्रम कहते हैं।
(ग) सत्य

(3) (क) (अ) 1990
(ख) (ब) 25 लाख रु. से 5 करोड़ रु. तक निवेश

(4) (क) 1948
(ख) मध्यम उपक्रम कहते हैं
(ग) सूक्ष्म, लघु एवं मध्यम उपक्रम में बांटा गया है।

(5) (क) दो श्रेणियों
(ख) सूक्ष्म उद्योग
(ग) वर्ष 1954

10.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

- दत्त, रूद्र एवं सुन्दरम् के.पी.एम. (2006), 'भारतीय अर्थव्यवस्था', एस. चन्द एण्ड कम्पनी लि., नई दिल्ली
- मिश्र, एस.के. एवं पुरी वी.के. (2007), 'भारतीय अर्थव्यवस्था', हिमालया पब्लिशिंग हाउस, बम्बई
- अग्रवाल, एन. (2007), 'भारतीय अर्थव्यवस्था – विकास एवं आयोजन', न्यू एज इन जर्नल पब्लिशर्स

10.10 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

- एस.सी. जैन, 'भारतीय अर्थव्यवस्था', साहित्य भवन पब्लिकेशन, आगरा
- वी.सी. सिन्हा, 'अर्थशास्त्र', साहित्य भवन पब्लिकेशन, आगरा

10.11 निबंधात्मक प्रश्न

1. लघु उद्योग का अर्थ बताइए। भारतीय अर्थव्यवस्था में लघु उद्योग के वर्गीकरण को स्पष्ट कीजिए।
2. भारतीय अर्थव्यवस्था में लघु उद्योग के महत्व की व्याख्या कीजिए तथा इसकी समस्याओं के समाधान हेतु उपाय सुझाइए।
3. नई लघु उद्योग 1991 पर एक निबंध लिखिए।

इकाई 11- भारी उद्योग एवं औद्योगिक समस्याएं
(HEAVY INDUSTRIES AND INDUSTRIAL PROBLEMS)

11.1 प्रस्तावना
11.2 उद्देश्य
11.3 भारत के प्रमुख भारी उद्योग
11.3.1 लोहा तथा इस्पात उद्योग
11.3.2 पटसन उद्योग
11.3.3 सीमेण्ट उद्योग
11.3.4 रसायन उद्योग
11.3.5 हथकरघा उद्योग
11.3.6 इलेक्ट्रानिक्स उद्योग
11.4 सारांश
11.5 शब्दावली
11.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
11.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
11.8 सहायकउपयोगी पाठ्य सामग्री/
11.9 निबंधात्मक प्रश्न

11.1 प्रस्तावना

भारी उद्योग एवं औद्योगिक समस्याएँ खण्ड पाँच की भारतीय औद्योगिक संरचना से सम्बन्धित इक्कीसवीं इकाई है। इससे पहले की इकाई में आपने लघु क्षेत्र उद्यम के बारे में जानकारी प्राप्त किए। अध्ययन के बाद आप बता सकते हैं कि लघु क्षेत्र उद्यम क्या है? इसका अर्थव्यवस्था के विकास में क्या महत्व है? प्रस्तुत इकाई में भारी उद्योग एवं औद्योगिक समस्याओं का अध्ययन करेंगे। अन्य उद्योगों में ये कैसे मदद करते है। इनकी जानकारी प्राप्त करेंगे। इस इकाई के अध्ययन के बाद आप भारी उद्योग की परिभाषा बता सकेंगे। अर्थव्यवस्था के विकास में इनकी भूमिका की व्याख्या कर सकेंगे तथा इनकी समस्याओं की समझा सकेंगे।

11.2 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के बाद आप बता सकेंगे कि-

- ✓ भारी उद्योग किसे कहते है?
- ✓ भारी उद्योग की क्या समस्याएँ है?
- ✓ देश के आर्थिक विकास में भारी उद्योगों के महत्वपूर्ण भूमिका की व्याख्या कर सकेंगे।

11.3 भारत के प्रमुख भारी उद्योग:

किसी भी देश की अर्थव्यवस्था के स्वरूप को समझने में उसके औद्योगिक ढाँचे से काफी सहायता मिलती है। भारत में वृहत् पैमाने के उद्योगों की शुरुआत उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हुई थी, लेकिन उनका वास्तविक विकास बीसवीं शताब्दी में हुआ है। भारत के दस राज्य-कल कारखाने उत्पादन का 83.2 प्रतिशत उत्पादन अपने यहाँ करते हैं। यह राज्य है: महाराष्ट्र, पश्चिम बंगाल, मध्य प्रदेश, पंजाब, हरियाणा, कर्नाटक, तमिलनाडु, आन्ध्रप्रदेश, उत्तर प्रदेश व गुजरात। आजादी से पहले देश में सूती वस्त्र, जूट, लोहा व इस्पात, चीनी तथा सीमेन्ट उद्योगों की स्थापना हुई थी। आयोजन काल में औद्योगिक ढाँचे में थोड़ा संतुलन आया है क्योंकि अनेक इंजीनियरिंग उद्योगों की स्थापना हुई है। इस इकाई में भारत के बड़े उद्योगों का अध्ययन किया जायेगा।

11.3.1 लोहा तथा इस्पात उद्योग:

लोहा तथा इस्पात उद्योग आधारभूत उद्योगों में से एक महत्वपूर्ण उद्योग है। इसका कारण यह है कि लोहा व इस्पात उद्योग स्थापित होने पर कच्चे पदार्थ जैसे कोयला, कच्चा लोहा, मैगनीज, चूना इत्यादि की मांग बढ़ जाती है। इसलिए इन उद्योगों के विकास को प्रोत्साहन मिलता है। इसके अलावा इस्पात और लोहे की उपलब्धि बढ़ने से मशीन टूल्स, भारी, इंजीनियरिंग, परिवहन तथा प्रतिरक्षा उद्योगों के विकास के लिए रास्ता खुल जाता है। आर्थिक विकास की प्रक्रिया में उपर्युक्त प्रवृत्ति को पश्चगामी तथा अग्रगामी सम्बद्धता कहते हैं।

भारत में लोहा तथा इस्पात उद्योग बहुत प्राचीन है। दिल्ली में कुतुबमीनार के पास स्थापित लोहे की 'अशोक लाट' जिसकी स्थापना ईसा से पूर्व प्रथम शताब्दी में की गयी थी। कोणार्क का सूर्य मंदिर तथा पुरी के ज्ञान मंदिर में जो लोहे की छड़ें आज से 800 वर्ष पूर्व लगायी गयी थी। वे सभी भारतीय लोहा तथा इस्पात उद्योग के प्राचीन गौरव को साक्षी के रूप में प्रस्तुत करते हैं।

आधुनिक तरीकों से लोहा व इस्पात के उत्पादन का सबसे प्रथम प्रयास झरिया के निकट बाराकर में 1875 में किया गया था। इस कारखाने में कच्चे लोहे का उत्तपादन शुरु हुआ। इसके पश्चात् निम्न कारखानों की स्थापना की गयी:

कारखाना	स्थापना वर्ष	स्थान
टाटा आयरन एण्ड स्टील कम्पनी	1907	जमशेदपुर
इण्डियन आयरन एण्ड स्टील कम्पनी	1919	बर्नपुर

मैसूर आयरन एण्ड स्टील वर्क्स (सार्वजनिक क्षेत्र में पहली इकाई)	1923	भद्रावती

सरकार ने 1972 में इण्डियन आयरन एण्ड स्टील कम्पनी का प्रबन्ध अपने हाथ में ले लिया और 1976 में उसका स्वामित्व भी ले लिया। 1973 से पहले सार्वजनिक क्षेत्र के चार इस्पात कारखानों में से भिलाई, राउरकेला तथा दुर्गापुर स्थित कारखानों का स्वामित्व व प्रबन्ध हिन्दुस्तान स्टील लिमिटेड तथा बोकारों कारखाने का बोकारो स्टील लिमिटेड के राज्य में था। 1973 में सरकार ने स्टील अथॉरिटी ऑफ इण्डिया लिमिटेड की स्थापना की। अब सार्वजनिक क्षेत्र के सभी इस्पात कारखानों का स्वामित्व व प्रबन्ध सेल के हाथ में है। राष्ट्रीय इस्पात निगम लिमिटेड का विखानापट्टनम कारखाना 1992 से उत्पादन में है। यह देश का सर्वाधिक एकीकृत व आधुनिक इस्पात कारखाना है। निजी क्षेत्र का सबसे पहला और एकीकृत इस्पात कारखाना जमशेदपुर स्थित टाटा आयरन एण्ड स्टील कम्पनी है। इसके अलावा निजी क्षेत्र में महत्वपूर्ण इस्पात कारखाने एस्सार, मुकन्द, लाड्स, जिंदल, निप्पन डेनरो इस्पात लिमिटेड तथा मारडिया स्टील लिमिटेड इत्यादि।

उद्योग की प्रमुख समस्याएँ एवं समाधान:

लोहा तथा इस्पात उद्योग की प्रमुख समस्यायें एवं समाधान निम्नलिखित हैं-

1. उत्तम कोयले तथा बिजली की कमी: लोहे को गलाने के लिए अच्छी किस्म का कोयला चाहिए जो गर्मी अधिक दे सके तथा जिसमें राख की मात्रा कम हो। इस्पात उद्योग की प्रगति के साथ-साथ पूर्ति की अपेक्षा कोयले की मांग में वृद्धि हुई है। वर्ष में कई बार इन कारखानों में कोयले का अकाल सा पड़ जाता है। इसके अतिरिक्त बिजली कमीं के कारण भी इस्पात कारखानों को कठिनाईयों का सामना करना पड़ता है।

2. ऊँची लागत समस्या: उत्तम कोयले तथा बिजली की कमी के कारण घटिया किस्म के कोयले को उपयोग में लाना पड़ता है जिसमें राख का अंश अधिक हेाता है इससे उत्पादन कम हेाता है तथा लागत में वृद्धि होती है। इसके अलावा अकुशल श्रमिक, मुद्रास्फीति, उत्पादन कर, भाड़ा व कस्टम आदि में वृद्धि के कारण भी लागत में वृद्धि होती है।

3. आधुनिक तकनीकी एवं प्रशिक्षित कर्मचारियों का अभाव: भारत में आज भी पुरानी तकनीकों का प्रयोग किया जाता है जिससे ऊर्जा की खपत अपेक्षाकृत अधिक होती है। बोकारों तथा विशाखापट्टनम के कारखानों को छोड़कर शेष सभी कारखाने पिछड़ेपन की तकनीक समस्या से ग्रसित है। कोरिया तथा अन्य प्रमुख इस्पात उत्पादक देशों में श्रम-उत्पादकता 600-700 टन प्रति व्यक्ति प्रतिवर्ष की तुलना में भारत में श्रम उत्पादकता मात्र 90-100 टन प्रति व्यक्ति वर्ष है।

4. परिवहन की समस्या: इस उद्योग के कच्चे माल व तैयार मात्र सभी भारी वस्तु की श्रेणी में आते हैं जिन पर ढुलाई में भारी व्यय किया जाता है अच्छी परिवहन सुविधाओं के अभाव के कारण कच्चे मालों की पूर्ति में अनेक बाधाएं उपस्थित होती है।

5. अकुशल प्रबन्ध व्यवस्था: सार्वजनिक उद्यमों के प्रबन्धकों में अधिकतर लोग गैर-तकनीकी लोग होते हैं जो सही समय पर निर्णय नहीं ले पाते, प्रबन्धक कई तरह की सीमाओं में बंधकर काम करते हैं, राजनैतिक हस्तक्षेप होता है, मजदूर आन्दोलन एवं हड़तालें होती रहती है। इन सबसे इस्पात कारखानों की उत्पादकता एवं लाभप्रदता पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है।

6. पूँजी की समस्या: लोहा तथा इस्पात उद्योग पूँजी प्रधान उद्योग होते हैं। इसके एक कारखाने की स्थापना के लिए हजारों करोड़ रूपये की लागत की मशीनों तथा अन्य पूँजीगत उपकरणों एवं विशेषज्ञों व आधुनिक तकनीक की आवश्यकता पड़ती है। भारत जैसे अल्प-विकसित देश में पूँजी की एवं आधुनिक तकनीक बहुत कमी है यही

कारण है कि भारत को लोहा तथा इस्पात उद्योग के विकास के लिए विकसित देशों में वित्तीय एवं तकनीकी सहायता लेनी पड़ती है।

7. इस्पात के मूल्यों में वृद्धि: इस्पात एक आधारभूत वस्तु है जिसके उत्पादन तथा मूल्य पर अनेक उद्योगों का विकास निर्भर करता है। यदि इस्पात के मूल्य में वृद्धि होता है तो आश्रित उद्योगों के मूल्यों ने भी वृद्धि होती है। परिणामस्वरूप अर्थव्यवस्था में मूल्य वृद्धि की समस्या उत्पन्न हो जाती है।

इन सबके अलावा अन्य समस्यायें आती हैं जैसे- क्षमताओं का भरपूर उपयोग न करना, स्टाक का अधिक हो जाना, सस्ते आयात की समस्या इत्यादि।

समाधान:

उपरलिखित चुनौतियों एवं समस्याओं का सामना करने के लिए भारतीय इस्पात उद्योग ने बहुपक्षीय युक्ति अपनायी है जिसके मुख्य तत्व निम्नलिखित है-

1. उत्तम कोयले तथा बिजली का प्रबन्ध: इस समस्या के समाधान हेतु कोयला ढोने वाले कारखानों की स्थापना की जा रही है। बिजली की भट्टियाँ तैयार करके धन की समस्या का आंशिक समाधान संभव है। सरकारी क्षेत्र में इस्पात कारखानों को धुला कोयला उपलब्ध कराने के लिए हिन्दुस्तान स्टील लिमिटेड के दुर्गापुर, दुगड़ा, पाथरडीह तथा भोजूडीह में अपने कायेला धुलाई घर है।

2. एकीकरण: जोखिमों का सामना करने के लिए भारतीय कम्पनियाँ पश्चात् एकीकरण कर रही है। अर्थात्, अंतिम इस्पात उत्पादन में प्रयोग किये जाने वाले अन्य उत्पादों का उत्पादन स्वयं करने लगी है।

3. रेल भाड़ों में कमीं: भारत सरकार द्वारा रेलों के इस उद्योग में काम आने वाले कच्चे माल व उद्योग द्वारा निर्मित माल के भाड़े में कमी कर उद्योग को राहत देनी चाहिए।

4. आधुनिक तकनीकी एवं प्रशिक्षित कर्मचारियों की व्यवस्था: पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत आधुनिक तकनीकी एवं प्रशिक्षण जैसी सुविधाएँ की दिशा में महत्वपूर्ण कदम उठाये जा रहे हैं।

5. वित्त का नियोजन: लोहा तथा इस्पात उद्योग में भारी पूँजी की आवश्यकता पड़ती है। भारत सरकार ने इस समस्या के समाधान हेतु बैंकों, वित्तीय कम्पनियाँ आदि से उचित दर पर ऋण की व्यवस्था की है।

लोहा तथा इस्पात उद्योग की वर्तमान स्थिति:

लोहा तथा इस्पात के कारखाने दो प्रकार के हैं-

(अ) एकीकृत इस्पात प्लांट्स: इनके अन्तर्गत इस्पात के बड़े कारखाने सम्मिलित किये जाते हैं जो निम्नलिखित है-

1. भारतीय इस्पात प्राधिकरण लिमिटेड
2. टाटा आयरन एण्ड स्टील कम्पनी
3. राष्ट्रीय इस्पात निगम लि0
4. विशाखापत्तनम इस्पात संयत्र

(ब) लघु इस्पात सयंत्र: बिजली के इस्पात भट्टियों वाले कारखानों को लघु इस्पात संयंत्र कहा जाता है। इन उद्योगों में रद्दी (स्क्रेप) धातु और स्पंज लोहे से इस्पात तैयार किया जाता है। ये नरम इस्पात के साथ-साथ मिश्र इस्पात भी तैयार करते हैं।

इस समय देश में 8 एकीकृत इस्पात प्लाण्ट है जिनमें ये सात सार्वजनिक क्षेत्र में है- भिलाई, दुर्गापुर, राउरकेला, बोकारो, इण्डियन आयरन, विशाखापत्तनम, सलेम व एक निजी क्षेत्र में है और यह है टाटा आयरन एण्ड स्टील। इन उद्योगो में 90,000 करोड़ रूपये की पूँजी लगी हुई है तथा 4.5 लाख व्यक्ति इसमें रोजगार पाये हुए हैं। 1950-51 में विक्रय योग्य इस्पात का उत्पादन केवल 10 लाख टन था जो वर्तमान में बढ़कर 370 लाख टन हो गया है।

नई आर्थिक नीति 1991 के फलस्वरूप आज भारत लोहे एवं इस्पात का निर्यातक राष्ट्र बन गया है। 1999-2000 में लोहे एवं इस्पात का कुल निर्यात 29.98 लाख टन था जो वर्तमान में बढ़कर 48 लाख टन हो गया है।

11.3.2 पटसन उद्योग

पटसन उद्योग 1885 में आरम्भ कया गया। विदेशी मुद्रा अर्जित करने की इसकी क्षमता ही इसके महत्व का कारण है। भारत में आधुनिक पटसन उद्योग लगभग 145 वर्ष पुराना है। 1859 में सीताराम के निकट रिसरा नामक स्थान पर पहली मिल स्थापित हुई थी। 1947 में भारत विभाजन के फलस्वरूप 75 प्रतिशत कच्चा जूट उत्पादित करने वाला क्षेत्र बंग्लादेश में चला गया। इसलिए विभाजन के फलस्वरूप उद्योग के सामने कच्चे माल की समस्या उत्पन्न हो गयी। इस समस्या के निदान के लिए देश के भीतर ही उत्तम श्रेणी के पटसन के उत्पादन पर विशेष स्थान दिया गया।

पटसन उद्योग की समस्याएँ एवं समाधान:

इस उद्योग के सामने निम्नलिखित समस्याएं हैं जिसका समाधान अति आवश्यक हैः

1. पटसन की माँग में कमी: प्लास्टिक एवं संश्लिष्ट बोरियों की मांग में वृद्धि के कारण पटसन की बोरियों की मांग में भारी कमी आयी है। जहाँ एक ओर मांग बढ़ नहीं पा रहा है। वही दूसरी ओर बंग्लादेश तथा चीन जैसे उद्योगों से कड़ी प्रतिस्पर्धा करनी पड़ रही है।

2. अधिक उत्पादन लागत: भारतीय पटसन उद्योग में पुरानी तकनीकी एवं उपकरण के प्रयोग तथा कुशलता के अभाव के कारण उत्पादन लागत अधिक होती हैं।

3. अनिश्चित बिजली आपूर्ति: इस उद्योग की अन्य समस्याओं में सबसे बड़ी समस्या बिजली अनिश्चितता की है।

समाधान

इस उद्योग में प्रयोग किये जाने वाले सभी आवश्यक यंत्रों का देश में उत्पादन नहीं होता है, इसलिए उनका विदेशों से आयात करना होगा। भारत सरकार ने विदेशी विनिमय सम्बन्धी कठिनाईयों के होते हुए भी पटसन उद्योग में आधुनिकीकरण के लिए आवश्यक मशीनों के आयात के लिए लाईसेंस देने में काफी उदारता से कार्य किया है। भारत सरकार ने पहली बार राष्ट्रीय जूट नीति 2005 की घोषणा की है जिसका उद्देश्य किसानों की कुशलता में सुधार लाकर पटसन के उत्पादन और उत्पादकता में वृद्धि लाना, उच्च श्रेणी के पटसन के उत्पादन के लिए विदेशी प्रत्यक्ष निवेश एवं इस क्षेत्र में शोधकार्य को प्रोत्साहित करना, इस उद्योग की संवृद्धि में वृद्धि कर रोजगार सृजन करना, गुणवत्ता, डिजाइन एवं विपणन में अन्तर्राष्ट्रीय स्तर को प्राप्त करना आदि।

पटसन उद्योग की वर्तमान स्थिति

फरवरी 2010 की तुलना में फरवरी 2011 में कुल कपड़े का उत्पादन में 5.8 प्रतिशत की वृद्धि दर्ज की गई है। सबसे अधिक वृद्धि होजरी सेक्टर में हुआ है यह वृद्धि 9.1 प्रतिशत की है। अप्रैल से फरवरी 2010 की तुलना में अप्रैल-फरवरी 2011 में कुल कपड़े का उत्पादन में 4.5 प्रतिशत की वृद्धि दर्ज की गयी। अप्रैल-फरवरी 2010 में पटसन का कुल उत्पादन 1103.9 हजार टन था जो अप्रैल-फरवरी 2011 में बढ़कर 1227.5 हजार टन हो गया। पिछले वर्ष की तुलना में 11-20 प्रतिशत की वृद्धि हुई है।

11.3.3 सीमेंट उद्योग

किसी भी देश के आर्थिक विकास के लिए तीन उद्योग आधारभूत उद्योग माने जाते हैं जिनमें लोहा इस्ताप उद्योग का स्थान प्रथम, कोयला उद्योग का द्वितीय व सीमेंट उद्योग का स्थान तृतीय है। आधुनिक युग में सभी परियोजनाएँ सीमेंट पर ही आधारित है।

भारत में सीमेंट बनाने का पहला कारखाना 1904 में मद्रास (चेन्नई) में साउथ इण्डिया इण्डस्ट्रियल लिमिटेड द्वारा स्थापित किया गया, लेकिन वह असफल रहा। अतः प्रथम विश्व युद्ध के प्रारम्भ तक सीमेंट का आयात किया जाता रहा। 1913-14 के बीच तीन बड़े सीमेंट के कारखाने मध्य प्रदेश के कटनी में, राजस्थान के लखेटी में तथा गुजरात में पोरबन्दर नामक स्थान पर स्थापित किये गये।

सरकार का सीमेंट के उत्पादन, वितरण तथा कीमत पर पूर्ण नियंत्रण था जिससे सीमेंट उद्योग के विकास पर बुरा प्रभाव पड़ा। 1982 में घोषित आंशिक विनियंत्रण नीति का उद्देश्य काला बाजार को खत्म करना तथा खुले बाजार में सीमेंट की कीमतों का कम करना था। 1989 के बजट में सरकार ने सीमेंट को पूरी तरह से विनियंत्रित कर दिया। इस प्रकार सीमेंट उद्योग ने 'पूर्ण नियंत्रण से पूर्ण विनियंत्रण' का सफर तय किया है। 1991 में सीमेंट उद्योग को लाइसेंसिंग से मुक्त कर दिया गया। अभी भी यह उद्योग कुछ समस्याओं का सामना कर रहा है।

सीमेंट उद्योग की समस्याएँ

सीमेंट उद्योग के अध्ययन से आपको पता चलता है कि सीमेंट उद्योग 'पूर्ण नियत्रंण' से 'पूर्ण विनियंत्रण' का सफर किया है परन्तु अभी भी कई समस्याओं का सामना करना पड़ रहा है जैसा कि निम्न विवचेन से स्पष्ट है:

1. कच्चे माल की समस्या: सीमेंट उद्योग के उत्पादन के लिए उच्च किस्म का चूना, कोयला तथा जिप्सम आगतों की आवश्यकता पड़ती है। भारत में सीमेंट कारखानों के पास के क्षेत्र में अच्छी किस्म का चूना समाप्त हो चुका है। जिसके कारण कच्चा माल दूर से मंगवाना पड़ता है। फलस्वरूप परिवहन अधिक हो जाता है।

2. आर्थिक आकार एवं आधुनिकीकरण: आर्थिक आकार इस उद्योग की एक प्रमुख समस्या है। छोटे कारखाने बढ़ी हुई उत्पादन लागतों को सहन नहीं कर पाते। सीमेंट के पुराने कारखानों का आधुनिकीकरण करना भी एक समस्या है।

3. प्रशुल्कों का अत्यधिक भार: सीमेंट उद्योग पर कई तरह के प्रशुल्क जैसे-उच्च उत्पादन शुल्क, बिक्री कर, चूने व कोयले पर रायल्टी इत्यादि का अत्यधिक भार है इसके कारण सीमेंट का विक्रय मूल्य बढ़ जाता है।

4. ऊँची लागत: सीमेंट उद्योग में प्रयुक्त होने वाली आगते भिन्न-भिन्न स्थान पर फैले होने के कारण परिवहन लागत में वृद्धि हो जाती है फलस्वरूप सीमेंट की कीमत में भी वृद्धि होती है।

इन समस्याओं के अतिरिक्त बिजली की कमी, रेलवे वैगनों की कमी, परिवहन की समस्या अपर्याप्त माँग, क्षमता का अपूर्ण उपयोग, पुरानी उत्पादन तकनीक आदि समस्याएँ विद्यमान है।

समाधान

अभी तक सीमेंट के उत्पादन में चूना पत्थर का ही प्रयोग किया जा रहा है परन्तु इसके लिए अन्य कच्चे माल जैसे-स्लेग (लोहा एवं इसपात का अवशिष्ट भाग) आदि के प्रयोग की प्रोत्साहित किया जाना चाहिए। सीमेंट के उत्पादन एवं गुणवत्ता में वृद्धि लाने के लिए आधुनिक मशीनों का इस्तेमाल करना चाहिए तथा सीमेंट उद्योगों को अपना शोध एवं विकास सम्बन्धी संस्थाएं स्थापित करनी होगी। इसके अतिरिक्त कर्मचारियों के लिए प्रशिक्षण की व्यवस्था होनी चाहिए।

सीमेण्ट उद्योग की वर्तमान स्थिति

सीमेण्ट उद्योग में दो सेक्टर होते हैं-(प) वृहद प्लांट, (पप) छोटा सीमेण्ट प्लांट। जिस फैक्ट्री की इन्सटाल्ड कैपेसिटी 2,97,000 टन प्रति वर्ष (900 टन प्रति दिन से अधिक) होती है, उसे वृहद प्लांट कहते है तथा जिसकी क्षमता 297,000 टन प्रति वर्ष तक या इससे कम होती है तो इसे छोटा सीमेण्ट प्लांट कहते है। वर्तमान में 120 वृहद सीमेण्ट प्लांट है तथा 300 के करीब छोटे स्तर के सीमेण्ट प्लाण्ट है। वर्तमान में वृहद प्लाण्ट की क्षमता 112.01 मिलियन टन तथा छोटे प्लाण्ट की क्षमता 9 मिलियन टन है। सीमेण्ट कारपोरेशन आफ इण्डिया ही एकमात्र सार्वजनिक क्षेत्र का सीमेण्ट उद्योग है जिसकी 10 इकाई है।

11.3.4 रसायन उद्योग

रसायन उद्योग एक महत्वपूर्ण आधारभूत उद्योग है। किसी राष्ट्र की सुरक्षा, उद्योग का विकास, कृषि का विकास, दिन-प्रतिदिन की अनेक आवश्यकताएँ रासायनिक उद्योग पर ही निर्भर है। इस उद्योग के अन्तर्गत वे उद्योग आते है जो अन्य उद्योगों के लिए आधारभूत रासायनिक पदार्थ बनाते हैं। इसके अलावा वे उद्योग भी आते है जिनमें रासायनिक क्रियाओं द्वारा पदार्थ उत्पन्न किए जाते है जैसे-रंग और रोगन, वार्निश, प्लास्टिक, कृत्रिम रबड़, कृत्रिम रेशे, औषधियाँ, कीटनाशक दवाइयाँ, साबुन, पेण्ट, डी0डी0टी0, सल्फ्यूरिक एसिड, उर्वरक इत्यादि।
भारी रसायन में मुख्य रूप से तीन रसायन आते है-

(1) गन्धक का तेजाब
(2) सोडा एश
(3) कास्टिक सोडा।

भारत में गन्धक के तेजाब की शुरूआत व सर्वप्रथम रासायनिक कारखानों की स्थापना 19वीं सदी के अन्तिम दशक में हुई। रासायनिक उद्योग का वास्तविक विकास 20वीं सदी के प्रथम दशक में हुआ जिसकी स्थापना का श्रेय श्री वाल्टी एण्ड कम्पनी, पश्चिम बंगाल, पैरी एण्ड कम्पनी, मद्रास, बंगाल केमिकल्स एण्ड फार्मेस्यूटिकल्स, कोलकात्ता को है। फास्टफेटयुक्त उर्वरक का उत्पादन भी मद्रास (चेन्नई) के पास 1906 में आरम्भ किया गया। नत्रजनयुक्त उर्वरक की शुरूआत 1947 में हुई। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात भारत में रसायन उद्योग में निरन्तर उन्नति हुई है।

रसायन उद्योग की समस्याएँ

रसायन उद्योग का प्रचार व प्रसार तेजी से हो रहा है। परन्तु इस उद्योग की कुछ समस्याएँ है जो इसके विकास में अवरूद्ध उत्पन्न कर रही है वे समस्याएँ निम्नवत है:

1.कच्चे माल की समस्या को झेलना पड़ता है।
2.विदेशी उद्योगों से कड़ी प्रतिस्पर्धा करनी पड़ती है।
3.उद्योग के विस्तार एवं विकास के लिए आवश्यक यंत्र एवं आधुनिक उपकरणों का अभाव है।
4.इस उद्योग में भारी पूँजी की आवश्यकता पड़ती है जिनको प्राप्त करना बहुत कठिन होता है, तथा
5.भारत जैसे विकासशील देश में अनुसंधान एवं विकास की सुविधाओं का अभाव है तथा प्रशिक्षित विशेषज्ञों की भी कमी है।

समाधान

रसायन उद्योग की समस्याओं के समाधान के लिए कच्चे माल की आपूर्ति सुनिश्चित होनी चाहिए तथा इसके निर्मित वस्तुओं की मांग में वृद्धि करनी होगी। इसके साथ आधुनिक उपकरणों, प्रशिक्षित कर्मचारियों एवं अनुसंधान व विकास जैसी सुविधाएं उपलब्ध करानी होगी। क्योंकि इस उद्योग में भारी पूँजी की आवश्यकता पड़ती है। पूँजी जैसी समस्याओं के समाधान के लिए बैंक एवं वित्तीय संस्थाओं को आगे आना होगा।

11.3.5 हथकरघा उद्योग

हथकरघा उद्योग देश का एक प्रमुख पुराना एवं विकेन्द्रित उद्योग है। यह उद्योग देश में लगभग 6.5 विलियन लोगों को प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से रोजगार प्रदान करता है। देश के वस्त्र उत्पादन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाने वाले इस उद्योग के प्रमुख केन्द्र है:

1. मलमल के लिए चन्देरी, कोटा, रोहतक, वाराणसी, आरनी, मथुरा, सिकन्दराबाद, अम्बाला और मदुरै;
2. कम्बलों के लिए पानीपत, भदोई (उ0प्र0), देवगढ़ (राजस्थान), लुधियाना, चेन्नई और मदुर्रे आदि;
3. छींट के लिए मुसलीपट्टनम और कालहस्ती;

4. खादी के लिए अमरोहा, संडीला, टांडा, अकबरपुर, कालीकट, देवबन्द और पूणे, एवं
5. दरियों के लिए आगरा, बरेली, झाँसी, अलीगढ़, गोरखपुर, पुणे, कालीकट एवं अम्बाला।

समस्याएं

हथकरघा उद्योग एक रोजगारपरक विकेन्द्रित उद्योग है। इस उद्योग की समस्याएँ निम्नवत है:

1. इस उद्योग में कच्चे माल की कमी है।
2. आर्थिक दृष्टि से कमजोर होने के कारण बुनकरों की ऊँची दरों पर धागा खरीदना पड़ता है।
3. हैण्डलूम द्वारा निर्मित वस्त्र की लागत पावरलूम तथा मिल निर्मित वस्त्र से अधिक होती है जिसके कारण इनके मांग में कमी आ जाती है।
4. हैण्डलूम निर्मित वस्त्र उपभोक्ताओं की अभिरूचि के अनुकूल नहीं होते।

समाधान

भारत सरकार के वस्त्रालय मंत्रालय ने विभिन्न तरह की योजनाओं जैसे-आगत संबंधी योजना, विकासापरक योजना, कल्याणकारी योजनाओं के प्रभावी समर्थन से इस उद्योग को प्रतियोगिता में बनाए हुए है। भारत सरकार ने लच्छा रेशा बाध्यता आदेश द्वारा हैण्डलूम बुनकरों को कच्चे पदार्थ की उपलब्धता सुनिश्चित की है।

नई-नई डिजाइने निकालने के लिए अखिल भारतीय हथकरघा मण्डल ने डिजाइन केन्द्रों को प्रशिक्षण केन्द्रों में परिणत कर दिया है। इसके .अलावा मण्डल वे नई दिल्ली, वाराणसी, कोलकाता, लखनऊ, मुम्बई तथा चेन्नई में अनेक बुनकर केन्द्र स्थापित किए है। उच्चस्तरीय व नवाचार सम्बन्धित प्रायोगिक व व्यावहारिक प्रशिक्षण की भी समुचित व्यवस्था की गई है।

हथकरघा उद्योग का वर्तमान स्थिति

भारतीय हथकरघा उद्योग अपने प्रतियोगी देश चाइना, फीलिपाइन्स, ताईवान ओर कोटिया के तुलना में अच्छा प्रदर्शन करता है। ये देश मशीनों द्वारा व वस्तुओं का उत्पादन करते है जबकि भारतीयों के हथकरघा उद्योगों के वस्तुओं का पूरे विश्व में बाजार है जिससे इनकी अपनी अलग पहचान है। 2009-10 में इस उद्योग के निर्यात में मात्र 6.55 प्रतिशत की वृद्धि दर थी जबकि 2011 के अन्त तक 15.45 प्रतिशत की वृद्धि दर अनुमानित की गयी है।

11.3.6 इलेक्ट्रानिक्स उद्योग

इलेक्ट्रानिक्स उद्योग 1965 के करीब अंतरिक्ष एवं प्रतिरक्षा प्रविधि के नाम से शुरू की गयी थी। यह सरकार के द्वारा नियंत्रित थी, इसके बाद इलेक्ट्रानिक्स उद्योग ने उपभोक्ता वस्तुओं के उत्पादन में कदम रखा। 1984-1990 की अवधि में यह उद्योग काफी प्रगति किया।

भारतीय अर्थव्यवस्था में इलेक्ट्रानिक्स उद्योग सूचना प्रौद्योगिकी उद्योग का आधारभूत उद्योग है। सूचना प्रौद्योगिकी उद्योग के विकास में इस उद्योग का प्रमुख योगदान है। कम्प्यूटर एवं सहायक उपकरणों की सहायता से सूचना प्रौद्योगिकी उद्योग ज्ञान का प्रसार करता है। आज सूचना एवं संचार क्रान्ति के माध्यम से देश आर्थिक एवं सामाजिक प्रगति के पथ पर अग्रसर है। आज के समय में इलेक्ट्रानिक्स की उत्पत्ति के साधनों में एक पृथक आगत के रूप में शामिल कर लिया गया है, ठीक उसी प्रकार जैसे लोहे का प्रयोग मशीनरी के लिए किया जाता है। इलेक्ट्रानिक्स का उपयोग सूचना प्रौद्योगिकी, विनिर्माण, शिक्षा, मनोरंजन, प्रतिरक्षा एवं व्यापार सहित अन्य क्षेत्रों में किया जा रहा है। इन उद्योग की प्रगति का अनुमान इस आधार पर लगाया जा सकता है कि आज इन्टरनेट के प्रयोग ने पूरे विश्व की समन्वित कर दिया है।

इलेक्ट्रानिक्स उद्योग की समस्याए

इस उद्योग की कुछ समस्याएँ है जो इनके विकास में अवरूद्ध उत्पन्न करती है ये समस्याएं निम्नवत है:

1. इलेक्ट्रानिक्स उद्योग में विश्व स्तर के आधारभूत ढांचे की कमी,
2. इस उद्योग के लिए सरकार की कोई स्पष्ट नीति नहीं है।
3. इस उद्योग हेतु अनुसंधान पर बहुत कम मात्रा में व्यय किया जाता है।
4. इस उद्योग के वस्तुओं के लिए बाजार उपलब्ध है परन्तु इनका पूरा उपयोग नहीं कर पा रहे है।**समाधान**

भारत में इस उद्योग की समस्याओं के समाधान के अवसर बहुत है। इन अवसरों को तीन भागों में बांटा जा सकता है:

1.मानव शक्ति, 2. बाजार , 3. भारत सरकार के नीतियों द्वारा मदद

भारत हर साल 500 पी0एच0डी0, 2 लाख इन्जीनियर, 3 लाख गैर इंजीनियर स्नातकोत्तर और करीब 2 लाख 21 हजार स्नातक पैदा करता है। इसके अतिरिक्त भारतीय श्रमिक विश्व में सबसे सस्ते दर पर उपलब्ध होते है। उदाहरण के लिए इलेक्ट्रानिक्स उद्योग में प्रति वर्ष प्रति श्रमिक की औसत लागत डालर 3000 है। इन सबकी सहायता से इलेक्ट्रानिक्स उद्योग की समस्याओं का समाधान किया जा सकता है।

इलेक्ट्रानिक्स उद्योग की प्रगति

1. 1965 - अंतरिक्ष एवं प्रतिरक्षा
2. 1982 - रंगीन टी0वी0
3. 1985 - कम्प्यूटर और टेलीफोन एक्सचेन्ज
4. 1988 - डीजिटल एक्सचेंज

वर्तमान स्थिति

इस समय इलेक्ट्रानिक्स उद्योग का कारोबार का मूल्य लगभग डालर 32 बिलियन है। 2010 तक यह करीब डालर 150 बिलियन तक पहुंचने का अनुमान लगाया गया है। हालांकि पूरे विश्व का भारत में 0.7 प्रतिशत हिस्सा है परन्तु भारत में इन वस्तुओं की मांग तीव्र है। फलस्वरूप इस उद्योग में निवेश में तेजी से वृद्धि की जा रही है। वर्तमान समय में भारत में इलेक्ट्रानिक हार्डवेर उद्योग का उत्पादन का मूल्य डालर 11.6 बिलियन है। भारत इलेक्ट्रानिक वस्तुओं का निर्यात भी करता है। ये वस्तुएं है-

1. डिस्प्ले टेक्नालाजी
2. मनोरंजन इलेक्ट्रानिक
3. आप्टिकल स्टोरेज डिवाइस
4. पेसिव कम्पोनेन्ट
5. इलेक्ट्रानिकल कम्पोनेन्ट

इलेक्ट्रानिक वस्तुओं के निर्यात ने विश्व के अन्य कम्पनियों को अपनी तरफ आकर्षित किया है, फलस्वरूप ये कम्पनियाँ भारत में निवेश कर रही है। ये कम्पनिया है-नोकिया, सेमसंग, जबिल सर्किट, बुल इलेक्ट्रानिक्स सेलिस्टिका इत्यादि।

अभ्यास प्रश्न

1. लघु उत्तरीय प्रश्न

(क) भारत में उन प्राचीन उद्योगों को बताइए जो लोहा तथा इस्पात उद्योग के गौरव को साक्षी रूप में प्रस्तुत करते है।

(ख) 1982 में घोषित सीमेण्ट उद्योग के लिए आंशिक विनियंत्रण नीति का उद्देश्य बताइए।

(ग) भारी रसायन में मुख्य रूप से तीन रसायन के नाम बताइए।

2. सत्य/असत्य बताई

(क) 1989 के बजट में सरकार ने सीमेण्ट को पूरी तरह से विनियंत्रित कर दिया।

(ख) सूचना प्रौद्योगिक उद्योग कम्पयूटर एवं सहायक उपकरणों की सहायता से ज्ञान प्रसार करता है।

(ग) बिजली के इस्पात भट्टियों वाले कारखाने को लघु इस्पात संयंत्र कहा जाता है।

3. बहुविकल्पीय प्रश्न

(क) सार्वजनिक क्षेत्र में स्थापित लौह तथा इस्पात उद्योग की पहली इकाई का नाम है-

(अ) स्टील आथोरिटी आफ इण्डिया लिमिटेड।

(ब) टाटा आयरन एण्ड स्टील कम्पनी।

(स) मैसूर आयरन एण्ड स्टील वर्क्स।

(द) इण्डियन आयरन एण्ड स्टील कम्पनी।

(ख) कम्प्यूटर एवं सहायक उपकरण किस उद्योग के उपकरण है-

(अ) लोहा तथा इस्पात उद्योग (ब) हथकरघा उद्योग

(स) सीमेण्ट उद्योग (द) इलेक्ट्रानिक्स उद्योग

(ग) सीमेण्ट उद्योग को लाइसेन्स से कब मुक्त कर दिया गया।

4. एक पंक्ति अथवा एक शब्द में उत्तर वाले प्रश्न-

(क) आधुनिक तरीकों से लोहा तथा इस्पात उद्योग के उत्पादन का सबसे प्रथम प्रयास कब किया गया था।

(ख) टाटा एण्ड आयरन स्टील की स्थापना किसने की थी।

(ग) निजी क्षेत्र के महत्वपूर्ण इस्पात कारखानों के नाम बताइये।

5. रिक्त स्थान भरिएं-

(क) टाटा आयरन एण्ड स्टील कम्पनी ..... में स्थायित की गयी।

(ख) पटसन उद्योग.....में आरम्भ किया गया।

(ग) पटसन उद्योग की पहली मिल ..... में सिरामपुर के निकट स्थापित हुई।

11.4 सारांश

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के बाद अब आप जान चुके है कि भारत में वृहद पैमाने के उद्योगों की शरूआत 19वीं शताब्दी के आरम्भ में हुई थी। लोहा तथा इस्पात उद्योग, सीमेण्ट उद्योग, हथकरघा उद्योग आदि को भारी उद्योग कहते है। ये उद्योग कच्चे माल, बिजली, आधुनिक तकनीक, पूँजी एवं आधुनिक उत्पादन लागत इत्यादि की समस्या को झेल रहे है। इन समस्याओं के समाधान हेतु सरकार ने आधुनिक प्रशिक्षण केन्द्र की स्थापना की है। पूँजी की समस्या के समाधान हेतु वित्तीय संस्थाएँ एवं बैंकों की स्थापना की गयी है। इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप भारी उद्योग एवं औद्योगिक समस्याओं की व्याख्या कर सकेंगे।

11.5 शब्दावली

- **पश्चात एकीकरण:** अंतिम उत्पादन में प्रयोग किए जाने वाले अन्य उत्पादों का उत्पादन स्वयं करना।
- **आगत:** अन्तिम वस्तु के निर्माण में प्रयोग किये जाने वाले वस्तु को आगत कहते हैं।
- **उत्पत्ति के साधन:** भूमि, श्रमिक, पूँजी एवं साहसी को उत्पत्ति का साधन कहा जाता है।

11.6 अभ्यास के प्रश्नों के उत्तर

1. लघु उत्तरीय प्रश्न

(क) दिल्ली में स्थापित लोहे की अशोक लाल, कोणार्क का सूर्य मन्दिर तथा पूरी के ज्ञान मन्दिर में लगायी गयी लोहे की छड़े। भारतीय लोहा तथा इस्पात उद्योग के प्राचीन गौरव को साक्षी के रूप में प्रस्तुत करते हैं।

(ख) काला बाजार को खत्म करना तथा खुले बाजार में सीमेण्ट की कीमतों को कम करना।

(ग) (1) गंधक का तेजाब, (2) सोडा एश (3) कास्टिक सोडा

2. सत्य/असत्य बताई

(क) सत्य (ख) सत्य (ग) सत्य

3. बहुविकल्पीय प्रश्न

(क) स-मैसूर आयरन एण्ड स्टील वर्क्स (ख) द-इलेक्ट्रानिक्स उद्योग

(ग) सन-1991 में

4. एक पंक्ति अथवा एक शब्द में उत्तर वाले प्रश्न-

(क) 1875 (ख) जमशेदजी नोशेरवानजी टाटा

(ग) एस्सार, मुकन्द, लाड्स, जिंदल, निप्पन डेयरो इस्पात लिमिटेड आदि।

5. रिक्त स्थान भरिएं-

(क) 1907 (ख) 1885 (ग) 1859

11.7 संदर्भ ग्रन्थ सूची

- भारत सरकार, 2005 वस्त्रालय मंत्रालय, राष्ट्रीय जूट नीति 2005.
- दत्त, रूद्र एवं सुन्दरम, के0पी0एम0 (2006), ''भारतीय अर्थव्यवस्था'', एस0 चन्द एण्ड कम्पनी लि0, नई दिल्ली.
- मिश्र, एस0के0 एवं पुरी बी0के0 (2007), ''भारतीय अर्थव्यवस्था'', हिमालया पब्लिशिंग हाऊस, बम्बई.
- अग्रवाल, एन (2007), ''भारतीय अर्थव्यवस्था: विकास एवं आयोजन'', न्यू एज इन जर्नल पब्लिशर्स.

11.8 सहायक पाठ्य सामग्री

- वी0सी0 सिन्हा (2011): अर्थशास्त्र, एस0वी0पी0डी0 पब्लिशिंग हाउस, आगरा.
- एस.सी. जैन एवं जे.पी. मिश्रा: भारतीय अर्थव्यवस्था, साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा.

11.9 निबन्धानात्मक प्रश्न

1. लोहा तथा इस्पात उद्योग का भारतीय अर्थव्यवस्था में क्या महत्व है? तथा इस उद्योग की वर्तमान स्थिति की व्याख्या कीजिए।
2. हथकरघा उद्योग से आप क्या समझते है? इस उद्योग की समस्याओं का उल्लेख करते हुए इसके समाधान सुझाइये।

इकाई 12 - भारत का विदेशी व्यापार
(FOREIGN TRADE OF INDIA)

12.1 प्रस्तावना
12.2 उद्देश्य
12.3 वैदेशिक व्यापार की पृष्ठभूमि
12.4 ब्रिटिश शासन के युग में
12.5 स्वतंत्र भारत की वैदेशिक व्यापार नीतियां
12.6 वैदेशिक व्यापार का आधार
12.7 विकासीय आयातों की अनिवार्यता
12.8 व्यापार के प्रभावक तत्व
12.9 निर्यातों के लिए वैश्विक मांग और प्रतियोगिता
12.10 योजनाकाल में निर्यात-आयात मूल्य (अनुमान)
12.11 पेट्रोल आयात का भार
12.12 उदारीकरण और घटते निर्यात
12.13 खाड़ी युद्ध और आयात-मूल्यम
12.14 आर्थिक मंदी का प्रभाव
12.15 भारतीय आयातों का स्वभाव
12.16 भारतीय निर्यात
12.17 नई प्रवृत्तियां
12.18 भारतीय वैदेशिक व्यावपार की दिशाएं
12.19 भारतीय विदेशी व्यापार प्रगति पर
12.20 सारांश
12.21 शब्दावली
12.22 संदर्भ ग्रन्थ
12.23 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
12.24 निबन्धात्मक प्रश्न

12.1 प्रस्तावना

'विदेशी व्यापार' भी श्रम विभाजन सिद्धांत और विशिष्टीकरण व बड़े पैमाने के उत्पादन द्वारा जनित बचतों को आर्थिक समृद्धि के निमित्त उपयोग में लाने का तरीका है। इसे हम अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-विभाजन और विशिष्टीकरण विधि कह सकते हैं। जिससे उत्पादन बड़ी माञा में होता है। जिसे देशों द्वारा आपस में बांटना भी होता है। यह कार्य अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय द्वारा सम्पन्न होता है। इस विनिमय से संलग्न देशों की वास्तविक आय में वृद्धि होती है और आर्थिक समृद्धि और अधिकतम मानवीय आर्थिक सन्तुष्टि का सृजन होता है। यदि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार न होता तो हमारा उपभोग और निवेश का दायरा इतना विस्तृत न होता जितना कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार क्रिया द्वारा आज संभव हुआ है। यह मात्र वस्तुओं के प्रत्यक्ष लेन-देन के माध्यम से ही नहीं अपितु एक देश द्वारा अपने संसाधनों के विदोहनोपरांत अर्जित आय व बचत को अन्य देशों की मदद, ऋण रूप में, प्रदान करके भी किया जाता है। प्रकृति प्रदत्त संसाधनों में नैसर्गिक तौर पर अन्तर्राष्ट्रीय भेद होते हैं जिससे विविध प्रकार के उत्पादन करने में दक्षता और लागत के अंतर जन्मते हैं। लागतों के अंतर से ही विशिष्टीकरण वाले क्षेत्रों का निर्धारण होता है और इन्हीं क्षेत्रों में (जहां लागतें कम हो) बहुत बड़े पैमाने का उत्पादन करके अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार क्रिया द्वारा लाभ को बांटा जाता है। इसमें कुल साधनों के व्यय में मानव श्रम, समय में, गुणात्मक श्रेष्ठता की दृष्टि से बड़ी बचतें होती हैं और मानव जाति तेजी से अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति में सक्षम हो जाती हैं। इस तरह वैदेशिक व्यापार आर्थिक समृद्धि प्राप्ति का श्रेष्ठ साधन है।

12.2 इकाई का उद्देश्य

इस इकाई में छात्र-छात्राओं को *व्यापार* के अर्थ से ही नहीं अपितु दो सार्वभौम देशों के मध्य वस्तुओं सेवाओं और विविध अदृश्य मदों के माध्यम से आर्थिक लेन-देन की प्रणाली से अवगत कराना है। *सामान्य व्यापार* तो देश के भीतर दो व्यक्तियों, दो क्षेत्रों अथवा दो संस्थाओं के बीच घटित आर्थिक लेन-देन या विनिमय है। इसमें उस देश की मुद्रा (करेंसी) का उपयोग होता है। यह देश के अपने नागरिकोंका अपनेही देशवासियों से होने वाला विनिमय है इसे हम 'क्षेत्रीय व्यापार' या 'आन्तरिक व्यापार' कहते हैं। किन्तु जब यह विनिमय किसी देश की सीमाओं के परे अन्य सार्वभौम देश से हो तो वहां पर व्यापार-रत देशों की अपनी-अपनी मुद्रा होती है और इन मुद्राओं को केवल अपने देश के भीतर 'विनिमय माध्यम' की स्वीकार्यता (मान्यता) प्राप्त होती है किसी बाहरी देश से लेन देन के लिए 'बकाया' को स्वर्ण अथवा अन्य बहुमूल्य धातु हस्तान्तरण द्वारा निबटाया जाता है। या अन्य विश्व-स्तर की दुर्लभ मुद्रा का उपयोग किया जाता है। (जैसे अमरीकी डालर या दीनार) यहां पर यह समझना आवश्यक है कि विदेशी व्यापार, स्वदेशी व्यापार से भिन्न है। स्वदेशी व्यापार अपनों के द्वारा अपनों से लेन-देन है जबकि विदेशी व्यापार अपनों और उनके बीच लेन-देन का विनिमय है। भारत का विदेशी व्यापार भारतीयों और गैर-भारतीयों के बीच विनिमय क्रियाहै। जब भारत और सारे-विश्व के अन्य देशों से लेन-देन हो तो यह वैदेशिक या विदेशी व्यापार कहलाता है। यहां पर भारत के अन्य देशों से व्यापार की दशाओं, संरचना, दिशाओं, प्रवृत्तियों और तदर्थ उन्नयन नीतियोंसे अवगत होना हमारा उद्देश्य है।

12.3 भारतीय वैदेशिक व्यापार की पृष्ठभूमि से परिचय

भारतीय व्यापारी पुरातन काल से ही अपने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए प्रसिद्ध थे। भले ही तब आधुनिक व्यापारिक मार्गों का विकास नहीं था। यह व्यापारी जल अथव थल मार्गों से पूर्वी एशिया के देशों व मध्य-एशिया के देशों में भारतीय रेशम, फल, मेवे, जेवरात, वस्त्र, मसाले इत्यादि निर्यात करते थे। मध्यकाल में भारतीय निर्यात अरब के व्यापारियों के माध्यम से यूरोपीय मण्डियों तक पहुंचे थे। बाद में पुर्तगाली, फ्रान्सीसी, डच, ब्रिटिश व्यापारियों ने जल-मार्गों से आकर भारतीय उत्पादों को यूरोप में लोकप्रिय कर दिया था। स्वेजनहर (1869) के निर्माण ने इस अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को सरल भी किया और लागतों में कमी भी कर दी। हस्तकला के उत्पाद, वस्त्र,

मसाले, रेशम, मेवे इत्यादि भारत से आयात किए जाने लगे थे। मार्गों के सुगम होने से मुनाफे बढ़े और योरुपीय व्यापारी इस ओर प्रलोभित हुए। भारत के निर्यात अधिक मूल्य के और आयात कम मूल्य के होने से भारत में स्वर्ण-रजत और कीमती पत्थरों की प्राप्ति होती थी। ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने भारतीय निर्यातों से अकूत धन अर्जित किया और ब्रिटिश उपनिवेश बननेके बाद तो भारत मात्र ब्रिटिश उद्योगों के लिए कच्चे माल का निर्यातक बन गया और भारतीय उद्योगों का निरंतर विघटन होता रहा।

12.4 ब्रिटिश शासन के युग में भारत का विदेशी व्यापार

भारत प्राचीन काल से ही बहु-उद्देशीय व्यापार में महत्वपूर्ण सहभाजक रहा है। इसका व्यापारिक सम्बन्ध पड़ोस के सभी देशों में ही नहीं अपितु सुदूर तक जमीनी मार्ग से था। जल मार्ग से भी भारत पूर्वी व दक्षिण पूर्वी देशों से जुड़ा रहा था। व्यापार में मुगल काल में भी निरन्तर वृद्धि हुई थी किन्तु ब्रिटिश शासन काल में इस क्षेत्र में बहुत बड़ा परिवर्तन आया। इसमें व्यापार की मात्रा, दिशा, संरचना उद्देश्य और प्रवृत्तियों के विविध परिवर्तन आये जिनका परिणाम भारत में व्याप्त घोर गरीबी और विकासहीन दशाओं में दृष्टिगत होता था। भारत उपनिवेशी युग में ब्रिटेन का गुलाम देश था जो कई शताब्दियों तक गुलाम रहा। गुलाम देश वही सब कुछ करने को बाध्य था जो उसके (आका) मालिक के हित में हो। भारत सरकार दरअसल अंग्रेजी सरकार थी और वही सबकुछ करती जिससे हर तरह ब्रिटिश लोगों और ब्रिटेन देश का कल्याण हो और गुलाम देश भारत कभी उठकर विद्रोह करने योग्य न रहे। अंग्रेजों को भारत से मुख्यतया चार आशाएं थीं-

1. सस्ते से सस्ता औद्योगिक कच्चा माल जिसे ब्रिटेन में स्थित कारखानों तक पहुंचाया जा सके।
2. सस्ते, सक्षम और आज्ञाकारी निरीह गुलाम जो ब्रिटेन की फौज बने।
3. भारत में विविध रूप में स्वर्ण, रजत, कीमती पन्ने, हीरे-जवाहरात तथा नकद बचतें जो राजदरबारों, नवाबों और अन्य स्रोतों से मिल सकते थे।
4. ब्रिटेन में निर्मित वस्तुएं व ब्रिटिश सेवाएं भारत ने मनचाहे दामों पर बेचने के लिए अंग्रेजों को खुली छूट होना। भारत के निर्यातों में ब्रिटेन का एकाधिकार था। ब्रिटेन जाने वाले निर्यातों पर यथा सम्भव कम मूल्य दिया जाता था।

भारत की मुद्रा को ब्रिटेन की मुद्रा से निश्चित मूल्य दर पर स्थिर कर दिया गया था। भारत के समृद्ध हस्तकला उद्योग जानबूझ कर उजाड़े गये ताकि ब्रिटेन की बनी वस्तुएं भारत में बेची जांय। भारत के सम्पन्न वर्ग अंग्रेजी संस्कृति के उपासक बनाये गये ताकि ब्रिटिश चीजें उन्हें पसंद हों। भारत कपास, जूट, कोयला, लोहा, अभ्रक, मैगनीज, चाय आदि का निर्यातक बना। भारतीय मुद्रा (रुपया) तत्कालीन प्रचलित मूल्यों पर अधिमूल्यित थी ताकि भारत के निर्यात का लाभ कम रहे, आयात वृद्धि प्रवृत्त रहे। यह स्थितियां स्वतंत्र भारत के लिए अनुकूल नहीं थीं।

12.5 स्वतंत्र भारत की वैदेशिक व्यापार नीतियां

19वीं शताब्दी के अंतिम चतुर्थांश (1875-1900) तक भारत में उद्योग लगाने और उत्पादन को यहां बेचकर लाभ चौगुना करना ज्यादा सरल हो गया था। ब्रिटिश पुरानी उत्पादन पद्धतियां व सज्जाएं भी इसमें भारत को बेची जा सकती थी। दैनिक जीवन की वस्तुएं भी आयात द्वारा पूरी की जा रही थीं। भारत ने जो युद्धकाल में ब्रिटिश सेवा की, उनसे स्टर्लिंग कोष जमा था, जिससे भारत अपनी विकास योजना प्रारम्भ कर सकता था। बड़े स्वतंत्र, अलौह धातुएं, खनिज, इंजीनियरिंग सामग्री आदि आयात करके प्रथम योजना प्रारम्भ हो सकती थी। भारत को अनाज व खाद्य की अन्य सामग्री आयात द्वारा ही पूरी करनी थी, इसलिए खाद्य-क्षेत्र व सिंचन क्षेत्र में प्रथम योजना ने महत्वपूर्ण योगदान करना था। स्वतंत्रा से भारत के व्यापार के उद्देश्य बदल गए। अब इसमें ब्रिटिश हित प्राधान्य पूर्ण प्राथमिकता में न रहे बल्कि भारत के राष्ट्रीय हित प्रमुख हो गए थे, इसलिए शनै: शनै: निर्यातों का स्वभाव, संरचना, दिशाएं भी बदलनी ही थीं। इसी प्रकार आयातों में संरचना, उद्देश्य, तकनीकी चयन और आयात

की मण्डियों में भी परिवर्तन लाजमी था। अभी तक 80 प्रतिशत से अधिक आयात ब्रिटेन से आते थे जो स्वतंत्रता के बाद अन्य देशों में फैल गए। इस परिवर्तन को व्यापार का दिशात्मक परिवर्तन कहा जाता है। भारत धीरे-धीरे कच्चे माल का निर्यातक न रहकर पक्के निर्मित माल का निर्यातक बनने का प्रयास करने लगा। भारत औद्योगिक विकासार्थ मशीनों, पुर्जो व पूँजीगत सज्जाओं अवरचनाओं में आत्मनिर्भरता की ओर अग्रसर हो रहा था। इसलिए भारत की व्यापार नीति में यथोचित परिवर्तन हुआ था।

12.6 वैदेशिक व्यापार का आधार

विनिमय सदैव ही आर्थिक लाभ का सृजक होता है। देश की सीमाओं के भीतर क्षेत्रों-उपक्षेत्रों के मध्य यदि विनिमय होता है तो उसे आंतरिक व्यापार कहा जाता है। राष्ट्रीय सीमाओं के पार के संदर्भ में यह विनिमय वैदेशिक व्यापार कहलाता है। विभिन्न देशों में प्राकृतिक संसाधनों, श्रमशक्ति-योग्यता और पूँजीगत सज्जा-साधनों की उपलब्धि एवं क्षमताओं में भिन्नता पाई जाती है। इसके परिणामस्वरुप किसी एक वस्तु अथवा सेवा के उत्पादन में दो देशों के बीच लागतों का जो अंतर हो जाता है वह निर्पेक्ष अथवा सापेक्ष हो सकता है। यह अंतर अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के जन्म के लिए उत्तरदायी है। व्यापार द्वारा हम उन वस्तुओं या सेवाओं का आयात करते हैं जिन्हें अपने देश में बनाना अथवा पैदा करना विदेश से प्राप्त करने के सापेक्ष महंगा पड़ता है। हम उन वस्तुओं या सेवाओं का आयात करते हैं जिन्हें अपने देश में बनाना अथवा पैदा करना विदेश से प्राप्त करने के सापेक्ष महंगा पड़ता है। हम उन वस्तुओं-सेवाओं का निर्यात करते हैं जिन्हें हम अन्य देशों के सापेक्ष कम लागत पर किसी सीमा तक उत्पादित कर सकते हैं। इन वस्तुओं को लगातार बड़े में निर्मित करने या पैदा करने से हम इन निर्यात-योग्य उत्पादनों में एक विशिष्टीकरण अर्जित करते हैं जिससे हमारी उत्पादन लागतें घटती जाती हैं। इन वस्तुओं के उत्पादन में दो देशों के बीच लागतों का अंतर बढ़ जाने से इन देशों के बीच व्यापार और भी अधिक लाभकारी हो जाता है। नई उत्पादन टेक्नालॉजी के आविष्कार व उपयोग से यह लागतों का अंतर और ज्यादा बढ़ जाता है जिससे व्यापारिक लाभ भी बढ़ता जाता है।

12.7 विकासीय आयातों की अनिवार्यता

अंग्रेजी शासन की विदाई के उपरांत 1949 में भारतीय मुद्रा- रुपए का अवमूल्यन करना पड़ा था ताकि भारतीय मुद्रा अन्य देशों में सस्ती होने से वे भारत से आयात करना श्रेयस्कर समझें। इससे भारतीय निर्यातों में अभूतपूर्व वृद्धि होगी और भारत अधिक वैदेशिक दुर्लभ मुद्राएं अर्जित कर सकेगा। यही भारत के विकास के लिए जरूरी आयात संभव करने को किया जा सकेगा। भारत को अपने उद्योगों में मशीनें आधुनिक करनी थी। अभी तक पुरानी मशीनें टूटी-फूटी और मरम्मत योग्य थीं। वस्त्र उद्योग, जूट उद्योग, चीनी उद्योग आदि सभी में नए आयातों द्वारा प्रतिस्थापन करना था। प्रतिरक्षा क्षेत्र में भी आधुनिकीकरण जरूरी था। निर्माणक आयात जरूरी थे। यातायात व रेलवे की नयी सज्जाएं जोड़ना आवश्यक था। अनाज भी आयात करने थे ताकि मूल्यों का बढ़ना रोका जा सके।

अवमूल्यन से भी अपेक्षित लाभ न हो सका क्योंकि आर्थिक नियोजन काल में अर्थव्यवस्था के तीव्रतर विकासार्थ भारत को विकास सम्बन्धी आयातों की आवश्यकता बढ़ती गई और आयातों के लिए अवमूल्यन प्रेरित अधिक मूल्य चुकाना पड़ा। एक तो ज्यादा आयात आवश्यक हो गए दूसरा आयातों का मूल्य भारतीय मुद्रा अवमूल्यन से बढ़ गया। परिणामत: भारत की व्यापारिक बकाया ऋणात्मक(विरुद्ध) हो गई। यही क्रम नियोजन काल में बना ही रहा है। पेट्रोलियम के मूल्यों में वृद्धि और अधिकाधिक पेट्रोल व पदार्थों की भारतीय मांग ने आयात-वृद्धि के लिए दबाव बनाए रखा है।

12.8 व्यापार के प्रभावक तत्व

वैदेशिक व्यापार पर अन्तर्राष्ट्रीय मूल्यों की प्रवृत्तियों, घरेलू उत्पादक लागतों, विदेशी बाजारों में पूर्ति की दशाओं और स्वदेशी उत्पादन-लागतों का सीधा प्रभाव पड़ता है। औद्योगीकरण व यातायात-परिवहन विकास

परियोजनाओं ने पेट्रोल-पेट्रोल पदार्थों की राष्ट्रीय मांग को वृद्धि-प्रवृत्त बनाए रखा। स्वदेशी पेट्रोल स्रोतों में उत्पादन-वृद्धि की सम्भावनाएं कम हो जाने से आयात पर दबाव बढ़ा। भले ही घरेलू स्रोतों से पेट्रोल पाने के लिए निरन्तर प्रयास हुए किन्तु वांछित वृद्धि संभव न हो सकी जिससे पेट्रोल एवं पदार्थों का निरन्तर अधिक मात्रा में आयात अपरिहार्य हो गया। सरकारी आयात प्रतिस्थापना एवं निर्यात सम्वर्द्धन नीतियां अपनाई गई किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय मूल्य-वृद्धि से आयात महंगे होते गए। 1969 से 1976 तक पेट्रोल के मूल्य में लगभग नौ गुना वृद्धि हो गई थी। एक ओर विकासार्थ पेट्रोल आयात व पेट्रो-उत्पाद आयात अपरिहार्य थे दूसरी ओर इन्हीं के मूल्य सर्वाधिक तीव्र गति से बढ़ते गए थे। इस कारण विवशता थी जिसने निरंतर व्यापारिक बकाया को भारत के विरुद्ध बनाए रखा था।

अन्तर्राष्ट्रीय मूल्यों में वृद्धि मात्र पेट्रोल में नहीं थी अपितु उर्वरक, कपास, अनाज, मशीनें, लौह-इस्पात, वस्त्रों के मूल्यों में भी अभिवृद्धि होती रही। भारतीय निर्यातों में सूती वस्त्र, चाय, बासमती, चावल, जूट-निर्मित पदार्थ, चीनी, चमड़े के उत्पाद, औद्योगिक रसायन, कॉफी, मशीनों, लघु-उपकरणों आदि के मूल्य भी बढ़ते थे किन्तु इनकी वृद्धि-दर पेट्रोल के सापेक्ष नगण्य थी। यह सवा गुने, डेढ़ गुने, दुगुने व ढाई गुने तक बढ़े थे। भारतीय निर्यातों में मसाले, मछली के उत्पाद, चाय, लौह-इस्पात, तम्बाकू, इंजीनियरिंग-पदार्थ उपकरण, चमड़े के उत्पाद, रसायन, काजू, खली, हस्तकला के उत्पाद आदि में 1961 से 1978 तक पांच गुनी मूल्य वृद्धि हो चुकी थी और भारतीय निर्यातकों ने लाभार्जन किया। सूती-वस्त्रों के निर्यात में उत्तरोत्तर वृद्धि हो चुकी थी और निर्यातकों ने पर्याप्त लाभार्जन किया। सूती-वस्त्रों के निर्यात में भी उत्तरोत्तर वृद्धि हुई थी।

12.9 निर्यातों की मांग और प्रतियोगिता

निर्यात द्वारा लाभार्जन दो दशाओं पर निर्भर रहता है,

1. अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारिक प्रतियोगिता का स्तर।
2. नए उत्पादों द्वारा, परम्परागत वस्तुओं की, विश्व की मण्डियों में प्रतिस्थापन दर।

भारतीय निर्यातों में, प्रतियोगी देशों द्वारा गला-काट प्रति-स्पर्द्धा होने से निर्यातों के मूल्य अपेक्षित तीव्र गति से नहीं बढ़ते हैं। जूट, चाय, सूती वस्त्र, कच्चा लौह, लघु-इंजीनियरिंग, चीनी, खाद्य अनाज, खली जैसे पदार्थों के उत्पादक लगभग सभी विकासशील देश होते हैं जिनको दुर्लभ मुद्राओं (डालर, पौण्ड, येन, गिल्डर, दीनार आदि) की कड़ी आवश्यकता रहती है। अत: वे सभी किसी तरह कम मूल्य पर भी अपने उत्पाद बेचना चाहते हैं। चाय, चावल, चीनी, लघु-उपकरण, वस्त्र आदि तो श्रीलंका व अन्य देश भी प्रस्तुत करते हैं। कई वस्तुओं में पाकिस्तान भी स्पर्धा करता है।

भारतीय चाय (दार्जिलिंग टी) अमरीका, कनाडा, आयरलैण्ड, ब्रिटेन, सूडान, आस्ट्रेलिया, जर्मनी, हालैण्ड में लोकप्रिय है। भारतीय साइकिलें, मशीनी उपकरण, सिलाई मशीनें, बिजली के सामान, इंजन, यातायात के वाहन आदि ईरान, ईराक, अफगानिस्तान, कुवैत, अरब, सीरिया, लीविया, मिश्र व दक्षिण पूर्व एशिया के देशों में निर्यात होती हैं और अफ्रीका के देशों में भी भारतीय बाजार रहा है। चीन ने भारत से सभी बाजारों में घोर-प्रतिस्पर्धा प्रारम्भ कर दी है। विद्युत उत्पाद व उपकरणों में चीन एक बड़ा सक्षम प्रतियोगी हो गया है। भारत के अन्दर भी यह चीनी निर्यात स्वदेशी उत्पादकों को उद्योग से बाहर कर रहे हैं। भारत की उत्पादन लागतें ज्यादा हैं। सूती वस्त्र, पोशाकें, तैयार कपड़ों, फैशन-पहनावे की चीजों में भारतीय माल अमरीका, श्रीलंका, वर्मा, आस्ट्रेलिया, मलेशिया, ब्रिटेन, पूर्वी अफ्रीका, इथोपिया, इण्डोनेशिया, सूडान को निर्यात होता रहा है। यूरोपियन यूनियन देशों में वस्त्रों के कोटा प्रणाली से हट जाने के कारण वहां भारतीय वस्त्रों की मांग बढ़ी है। किन्तु वस्त्र निर्यात बाजार में भी भारत को हांग-कां, चीन, पाकिस्तान, ताइवान, जापान आदि देशों से घोर प्रतिस्पर्धा है जिससे भारत अपने मूल्य नहीं बढ़ा सकता है। ऐसे निर्यात जो उन चीजों के हैं जो चीजें एकाधिकार पूर्ण हैं या नई तकनीकों

पर आधारित हैं, ऐसे निर्यात अधिक आय प्रदान करते हैं। विकासात्मक आयात विकास योजनाओं की सफलता के लिए आवश्यक होते हैं। इसी प्रकार प्रतिरक्षा की सज्जाएं और परिपोषक प्रकार के आयात जो चलती योजनाओं में लगी मशीनों के पुर्जे और प्रयुक्त सज्जाओं के प्रतिस्थान के लिए जरूरी है, आयात करने ही पड़ते हैं। औद्योगिक आधुनिकीकरण में नई मशीनों, उपकरणों आदि का आयात भी आवश्यक होता है। प्राय: इनके लिए एकाधिकारिक मूल्य भी चुकाना ही पड़ता है। परम्परागत निर्यातों में ज्यादा प्रतिस्पर्धा होने से, आय बहुत धीरे बढ़ती है।

12.10 योजनाकाल में निर्यात-आयात मूल्य

भारत के 58 वर्षीय अनुभव से हम आयात-निर्यात की प्रवृत्तियों का अनुमान कर सकते हैं यदि मूल्य स्तर को समयान्तर से समन्वित करें तो कुछ विश्वसनीय अनुमान प्राप्त हो सकते हैं।तालिका

भारतीय पंचवीर्षीय योजनाकाल में निर्यात-आयात मूल्य एवं व्यापार की बकाया

(1951-52 से 2008-9)। (करोड़ रुपये)

अवधि	निर्यात	आयात	व्यापार शेष
1951-1955	3109	3651	542
1956-1961	3063	5402	2339
1961-1966	3735	6119	2384
1967-1969	3708	5775	2067
1969-1974	9049	9862	813
1974-1979	30066	36836	6770
1980-1985	44834	73415	28581
1985-1990	86910	125561	38651
1991-1995	282723	317491	34768
1995-2009	2534146	3922666	1388520

स्रोत - आर्थिक सर्वेक्षण, RBI बुलेटिन, इस्टर्न इकानोमिस्ट बुलेटिन से आगणित

खाद्यान्न दौर्लभ्य एवं प्रतिरक्षा के आयात:- तीसरी योजना (1962-66) में भारतीय व्यापार को खाद्यान्नों के दौर्लभ्य एवं प्रतिरक्षा आवश्यकताओं ने ऋणात्मक तौर पर प्रभावित किया। विवश होकर 1966 में भारतीय रुपये का अवमूल्यन (36.5 प्रतिशत) करना पड़ा था और देश के 59 उद्योगों में उदार आयात नीति लागू हुई जिससे ऋणात्मक व्यापार-शेष में वृद्धि हुई थी। अवमूल्यन से निर्यात भी बढ़े थे और 1968-70 के बीच खाद्यान्न उत्पादन सुधर जाने से आयातोंमें राहत हुई। इन वर्षों में आयात-प्रतिस्थापन एवं आयात परिसीमन से ऋणात्मक व्यापार शेष में कमी आ गई थी। 1973-74 में पेट्रोल-पदार्थों, इस्पात, अलौह धातुओं, उर्वरकों, अखबारी न्यूज प्रिंट जैसी चीजों के अन्तर्राष्ट्रीय मूल्य एकाएक बढ़ गए जिससे भारत के विदेशी आयातों का मूल्य बढ़ गया और व्यापार शेष भी अधिक ऋणात्मक हो गया। पांचवी योजना 1974-79 में भारत के आयात पेट्रोल, पेट्रो-पदार्थ, उर्वरक, खाद्यान्न अन्तर्राष्ट्रीय मण्डी में महंगे हो गए किन्तु भारत के निर्यात भी तेजी से बढ़े फिर भी व्यापार शेष ऋणात्मक रहा। 1977-78 वर्ष तक व्यापार का वार्षिक घाटा औसतन 740 करोड़ रुपया रहा।

12.12 पेट्रोल आयात का भार:

पेट्रोलियम के अन्तर्राष्ट्रीय मूल्य निरन्तर वृद्धि-प्रवृत्त रहे। जिससे छठी योजनाकाल में भी आयात का बिल एकाएक डेढ़ गुना हो गया। यह रु 6814 करोड़ (1978-79) से रु. 9142 करोड़ (1979-80) हो गया। निर्यातों की वृद्धि, आयात- मूल्य के सापेक्ष, रु. 6418 करोड़ तक पहुंच सकी। भले ही यह 12 प्रतिशत से अधिक वृद्धि थी।

1980-81 से 1983-84 आयात-मूल्यों में राहत रही। कुल मिलाकर 1981-85 के दौरान आयात रु. 14683 करोड़ वार्षिक औसत से हो सके। तद्नुसार व्यापारशेष का घाटा रु. 5716 करोड़ तक बना रहा था।

12.13 उदारीकरण तथा घटते निर्यात

सातवीं पंचवर्षीय योजना काल (1985-1989) भारतीय वैदेशिक व्यापार के लिए असमंजस का समय था, जबकि एक ओर तीव्र उदारीकरण नीति और दूसरी ओर निर्यातों के ढीलेपन की स्थिति ने व्यापार-घाटे को भयावह-सा बना दिया। कुल घाटा रु. 38651 करोड़ और औसत वार्षिक घाटा लगभग 7730 करोड़ रु. हो गया। आयात तो रु. 25114 करोड़ (वार्षिक) और निर्यात रु. 17382 करोड़ के रहे। भारत को व्यापारिक घाटे के मद्देनजर अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष से 670 करोड़ डॉलर ऋण की प्रार्थना करनी पड़ी। आयात लाइसेन्स पर कुछ अंकुश भी लगाया गया।

12.14 खाड़ी युद्ध और आयात मूल्य :

भारत के विदेशी व्यापार में 1990-91 के बाद बहुत महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए थे। एक तो निर्यात वृद्धि 17.7 प्रतिशत वार्षिक दर से हुए दूसरा खाड़ी युद्ध के कारण आयात रु. 43193 करोड़ तक जा पहुंचे जबकि निर्यात रु. 32558 करोड़ (वार्षिक) तक पहुंच सके। 1990-91 में ही लगभग रु. 10635 करोड़ का व्यापार घाटा हो गया था। इस दौर में निर्यात-वृद्धि की दर घट गई और आयात-वृद्धि दर बढ़ गई थी। 1993 से 1997 तक निर्यात-वृद्धि अच्छी आशाजनक (87 प्रतिशत) रही किन्तु उदारीकरण नीतियों से आयातों में अभूतपूर्व वृद्धि (102 प्रतिशत) हुई। परिणामत: व्यापारिक घाटा तीन गुना बढ़ गया।

12.15 आर्थिक मंदी का प्रभाव

नवीं व दसवीं योजनाओं में (1997-2002 और (2003-2007) में असाधारण आर्थिक मंदी विश्व स्तर पर हो गई जिसमें जापानी मन्दी, दक्षिण-पूर्व एशियाई देशों में आर्थिक संकट, और रूस में आर्थिक गिरावट का परिणाम सामने आया जिससे भारत के व्यापारिक पक्ष में भी कमी होनी ही थी। भारत के निर्यात खरीदने वाले देश भी अपने आयात घटाने लगे तो निर्यात-आय में कमी आई। 1999-2001 के दौरान निर्यात व्यापार ने पुन: जोर पकड़ा और वृद्धि होने लगी परन्तु आयात भी लगातार वृद्धि प्रवृत्त रहे और व्यापार रोष का घाटा बना ही रहा। दसवीं योजना (2003-7) तक भारतीय निर्यात निरन्तर बढ़ते रहे और कुल (45.8 प्रतिशत) वृद्धि लगभग डेढ़ गुने की थी तो आयातों में भी 52 प्रतिशत वृद्धि हो गई। व्यापारिक घाटा भी लगातार बढ़ता गया।

2006-07 तक भारत का वैदेशिक व्यापार-घाटा 2842.65 अरब रु. तक जा पहुंचा (63.17 अरब डालर) वार्षिक व्यापारिक घाटा रु 1404.5 अरब का था। यह नवम् योजना के व्यापार घाटे से चौगुना था। 2007-08 में यह रु. 356448 करोड़ हो गया था। 2008-09 तक यह घाटा रु 53280 करोड़ का हो चुका था। व्यापारिक घाटे का कारण आयातों की निरंतर वृद्धि थी।

1992-93 से 2001-02 तक भारतीय निर्यात औसतन 18.5 प्रतिशत प्रति वर्ष की गति से बढ़ रहे थे और आयात करीब 19.1 प्रतिशत की गति से चढ़े थे। वास्तव में भारतीय मुद्रा के अवमूल्यन ने आयात महंगे कर दिए थे जिससे व्यापारिक घाटा ज्यादा गति से बढ़ा था। पेट्रोल मांग ने व्यापारिक घाटे में वृद्धि की थी। मात्र 2002-03 में निर्यात आयातों से ज्यादा हो सके थे किन्तु यह अल्पकालिक स्थिति थी।

12.16 भारत के आयातों का स्वभाव

आयात					
अम्बारी आयात (खड़ी भार वाली)			गैर आम्बारी आयात		
पेट्रोल रक्षा- उत्पाद	उपभोग वस्तु खाद्य वस्तुएं,	उर्वरक, धातु कागज, रबड़, खनिज, लौह,	पूँजीगत, वस्तु धातु, औजार	कच्चेमाल, हीरे, पत्थर,	प्लास्टिक सामग्री,

	अनाज दाल, तेल चीनी आदि	इस्पात, वगैरह कागज खड खनिज	मशीन, परिवहन के वाहन	रसायन, वस्त्र, सूत, कपड़े आदि	उपकरण, कोयला, कोक, रसायन,गैर धातु,खनिज आदि

भारत के आयातों में पेट्रोल, तेल, स्नेहकों, उर्वरकों, रसायन, औषधियों हीरे व बहुमूल्य पत्थर, धातुएं, विद्युत व अविद्युत मशीनें, परिवहन वाहन महत्वपूर्ण हैं। 1908-9 में यह सब प्रकार के आयात रु 13,74,436 करोड़ के थे जिसमें रु 419946 करोड़ के पेट्रोल-उत्पाद, 170200 करोड़ की धातुएं और 216511 करोड़ की पूँजीगत वस्तुएं मंगाई गई थी। खाद्यान्न तो मात्र 216 करोड़ रु के थे। 126137 करोड़ रु की मशीनें औद्योगिक विकास के लिए आयातित की गईं थी। 2008-2009 में कुल आयातों में लगभग 30.5 प्रतिशत अर्थात् रु. 419946 के खनिज तेल आयातित थे। 1,70,200 करोड़ रु. की धातुएं और रु. 9614 करोड़ मूल्य के रसायन-औषधियां मंगाई गईं। लगभग 76130 करोड़ रु. के हीरे व अन्य कीमती पत्थर पुनर्निर्यारत के निमित्त खरीदे गये थे। कुल उर्वरकों का आयात रु 59559 करोड़ का था। अधिकतर आयात, पुन: उत्पादन वृद्धि में सक्रिय योगदान के लिए खरीदे गए।

12.17 भारत के निर्यातों का स्वभाव

यह तथ्य महत्वपूर्ण है कि किसी देश के निर्यातों की संरचना क्या है और इनकी मात्रा कितनी है। अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में इनके मूल्यों की प्रवृत्ति कैसी है। परिष्कृत टेक्नालॉजी के उत्पाद सदैव ही उंचा मूल्य पाते हैं और इनकी मांग अधिक तथा प्रतिस्पर्धी कम होते हैं।

भारत के निर्यातों के प्रमुख पांच श्रेणियों में बांटा जाता है।

1. कृषिगत उत्पादों तथा प्राथमिक क्षेत्र के उत्पादों में चाय-कॉफी, तम्बाकू, काजू, मशाले, चीनी, कच्ची कपास, चावल, मछली, गोश्त, वनस्पति तेल, फल, सब्जियां, दालें, फूल आदि सम्मिलित हैं। भारतीय निर्यात में यह मात्र 9.25 प्रतिशत (2008-09) हैं।
2. खनिज, अयस्कों आदि में कच्चा मैगजीन, कच्चा लोहा, अभ्रक जैसी चीजें शामिल होती हैं। यह मात्र 4.2 प्रतिशत है। (2008-09)
3. निर्मित औद्योगिक उत्पादन जैसे सूती, ऊनी वस्त्र, सिले-सिलाए पोशाकें, पटसन की वस्तुएं, चमड़े के उत्पाद, हस्तशिल्प उत्पाद, हीरे-पन्ना आदि, रसायन व इंजीनियरिंग सामग्री, लौह तथा तैयार इस्पात या उत्पाद इत्यादि तीसरी श्रेणी में हैं। भारत के निर्यातों में इस श्रेणी के निर्यातों का भाग 2008-09 में 67.4 प्रतिशत हो गया जो निरंतर वृद्धि प्रवृत्त है। साफ्टवेयर निर्यात इसी श्रेणी में है।
4. खनिज तेल व स्नेहकों का हिस्सा 15.1 प्रतिशत मात्र है जो चौथी श्रेणी में है।
5. अन्य निर्यात मात्र 4 प्रतिशत हैं।

12.18 नई प्रवृत्तियां

विश्व की बड़ी मंडियों में भारतीय उत्पादों की ख्याति बढ़ी है और भारत के इंजीनियरिंग निर्यात रु 216,856 करोड़ (2008-09) के हो चुके हैं जो कुल भारतीय निर्यात का 25.8 प्रतिशत है। भारत अच्छे प्रकार की इस्पात का बड़ा उत्पादक है और इसे धातु रुप में निर्यात भी करता है किन्तु यदि भारत का औद्योगीकरण अधिक गति से प्रगति करेगा तो यह स्वयं ही इस्पात का उपयोग मशीनी-उत्पादन में करेगा और मशीनों के निर्यात को बढ़ाएगा। भारतीय निर्यातित मशीनरी की विश्वसनीयता निरंतन बढ़ रही है।

अर्थव्यवस्था में ज्यों-ज्यों विविधीकरण हो रहा है निर्यात भी आधुनिक गैर परम्परागत प्रकार के हो रहे हैं और परम्परागत निर्यातों का हिस्सा कुल निर्यात मूल्य में कम होता जाएगा। भारत तमाम विकासशील देशों में आधारभूत अब रचनाएं (सड़क, पुल, रेल, बन्दरगाह, टेली संचार व नागरिक निर्माण) बना रहा है जिसमें भारतीय उत्पाद उपयोग में लिए जा रहे हैं। भारत ने अच्छी ख्याति अर्जित की है।

12.19 भारतीय वैदेशिक व्यापार की दिशाएं

सोवियत संघ के विघटन के बाद भारत के विदेशी व्यापार में चुनौती का समय रहा किन्तु शीघ्र ही भारतीय उत्पादों का, विश्व के विविध देशों में सत्कार पूर्वक आयात किया जाने लगा। आजादी के समय भारत का व्यापार (80 प्रतिशत) इंग्लैण्ड से ही होता था किन्तु धीरे-धीरे यह विविध दशाओं की भिन्न-भिन्न अर्थव्यवस्थाओं में फैल गया और भारत के व्यापारिक सम्बन्ध प्रत्येक महाद्वीप के छोटे-बड़े देशों से स्थापित हो गए। प्राचुर्यमय आर्थिक क्रय शक्ति वाले देशों (फ्रांस, जर्मनी, यू.के., बेल्जियम, इटली आदि) तथा अमरीका-कनाडा में भारतीय निर्यातों का महत्वपूर्ण स्थान है। 2008-09 में भारतीय निर्यातों का 21.2 प्रतिशत भाग और आयातों का 14.1 प्रतिशत भाग योरुपीय संघ से हो रहा है। उत्तरीय अमरीका और कनाडा को 12.2 प्रतिशत भारतीय निर्यात और इनसे 6.9 प्रतिशत भारतीय आयात हो रहे हैं- आस्ट्रेलिया, जापान, स्विटजरलैण्ड (OECD) में भारतीय 2.8 प्रतिशत निर्यात और इनसे 10.2 प्रतिशत आयात आ रहे हैं। व्यापार का बड़ा भाग पेट्रोल-निर्यातक देशों में केन्द्रित है। ईरान, इण्डोनेशिया, सउदी अरब और अमीरात में 2008-09 में 21.1 भारतीय निर्यात गए और वहां से 32.1 प्रतिशत आयात आए। पूर्वी एशिया में चीन, हांगकांग, दक्षिण कोरिया, मलेशिया, सिंगापुर को 2008-09 में 27.7 प्रतिशत भारतीय निर्यात गए और 25.9 प्रतिशत आयात प्राप्त किए गए। अफ्रीका, लैटिन अमरीका में भी भारतीय निर्यात (4 प्रतिशत) और 2.1 प्रतिशत आयात होते हैं। सोवियत रूस से आयात घट गए हैं पूर्वी यूरोप की मण्डियों में भारत का व्यापार फैल रहा है। पोलैण्ड, रूमानिया, बुल्गारिया, चेकोस्लाविया, यूगोस्लाविया के क्षेत्र में भारत का व्यापार जड़ें जमा चुका है। सार्क देश तो पड़ौसी मण्डियां हैं जहां भारतीय4.6 प्रतिशत निर्यात और 0.6 प्रतिशत आयात हैं।

12.20 भारतीय विदेशी व्यापार प्रगति पर

भारत को औद्यौगिक विकास में जहां परिष्कृत टेक्नालॉजी और आधुनिक आविष्कारों पर आधारित बड़ी मशीनें व उपकरण आदि चाहिए वहीं कच्चेमाल की बड़ी आवश्यकता रहती है। एशियाई अल्प विकसित देश भारतीय तैयार औद्योगिक माल तथा भारत के आयातित कच्चेमाल दोनों के लिए महत्व के हैं। उनके साथ पुरातन सांस्कृतिक व व्यापारिक सम्बन्ध भी रहे हैं। यह व्यापार फैल रहा है। भारत को विकासीय योजनाओं में भारी मशीनों, सूक्ष्म उपकरण, विज्ञानी विशिष्ट कौशल, प्रतिरक्षा सामग्री इत्यादि की जरूरत रहती है। इसमें यूरोपीय एवं अमरीकी पूर्तियां अनुकूल रहती हैं। जर्मनी, हॉलैण्ड, जापान, अमरीका, यू.के. आदि से भारत टेक्नोलॉजी आधारित पूँजीगत उत्पाद प्राप्त करता रहा है। अफ्रीका, लातीन अमरीका एशियाई देशों में भारत का व्यापार बढ़ रहा है। यू.ए.आर. से व्यापारिक साझेदारी सुदृढ़ है। जापान और आस्ट्रेलिया से आयात-निर्यात सम्बन्ध प्रगाढ़ हो रहे हैं। हांग-कांग, चीन, इण्डोनेशिया, मलेशिया के क्षेत्रों में भारतीय उत्पादों की अच्छी मांग है। चीनी-उत्पाद भारतीय मंडी में धूम मचाए हुए हैं। क्योंकि इनकी लागत कम है। 2007-08 में भारतीय निर्यात का 12.2 प्रतिशत चीन जाता था और वहां से आयातों का 6.9 प्रतिशत लिया जाता था। यूरोपीय संघ (फ्रांस, वेल्जियम, जर्मनी, यू.के., इटली) को 2008-09 में 21.2 प्रतिशत निर्यात और वहां से 14.1 आयात थे। आस्ट्रेलिया, जापान, स्विटजरलैण्ड को 2.8 प्रतिशत निर्यात जातेऔर 10.2 आयात होते थे। पेट्रोल निर्यातकों (ईरान, इंडोनेशिया, सऊदीअरब, यू.ए.ई.) को भारत के 21.प्रतिशत निर्यात जाते थे और 32.1 प्रतिशत आयात होते थे। एशियाई विकासशील देशों (चीन, हांगकांग, दक्षिण कोरिया, मलेशिया, सिंगापुर) को 27.7 प्रतिशत निर्यात और वहां से

25.5 प्रतिशत आयात होते हैं। सार्क देशों को भारतीय 4.6 प्रतिशत निर्यात होते हैं (2008-09) अफ्रीका-लैटिन अमरीका को 9.4 प्रतिशत निर्यात और वहां से 6 प्रतिशत आयात होते हैं। (यह विवरण भारत के व्यापारिक विविधीकरण का चित्र प्रस्तुत करता है जो हैण्डबुक ऑफ स्टैटिक्स ऑफ इंडियन इकानोमी (2009-10) तथा इकोनोमिक सर्वे 2009-10 पर आधारित है।)

अभ्यास प्रश्न

वस्तुनिष्ठ

1. भारत में उदारीकरण से

अ. विदेशी व्यापार बढ़ा है
आ. विदेशी व्यापार घटा है
इ. यथावत रहा है
ई. बन्द हो गया है

2. भारत के प्राविधिक निर्यात कौन से हैं?

अ. कच्चा लोहा, खनिज तेल
आ. कपड़ा, पोशाक, जेवरात
इ. रसायन, साफ्टवेयर, इंजीनियरिंग डिजाइन
ई. हस्त शिल्प, यूरोनियम आदि

3. भारत के व्यापारिक बड़े साझेदार कौन हैं?

अ. सोवियत रूस, अफ्रीका, वियतनाम
आ. अमरीका, कनाडा, जापान
इ. ब्रिटेन, स्वीडन, लुक्षमवर्ग
ई. तेल निर्यातक: ईरान, इण्डोनेशिया, कुवैत, खाड़ी के देश, सउदी अरब

4. विदेशी व्यापार में भारत का कड़ा प्रतियोगी देश कौन है

अ. चीन
आ. अमरीका
इ. जर्मनी
ई. फ्रांस

5. विदेश व्यापार

अ. राज्यों के बीच होता है
ब. क्षेत्रों के बीच होता है
स. राष्ट्रों के बीच होता है
द. व्यक्तियों के बीच होता है

6. स्वतंत्रता के उपरान्त भारत के निर्यात

अ. तेजी से बन्द हो गए
ब. आयात से बढ़ गए
स. आयात-निर्यात दोनों बढ़ गए
द. निर्यात घटते गए

7. भारत के निर्यात में

अ. पेट्रोल सबसे ज्यादा है

ब. कृषिगत उत्पाद सबसे ज्यादा है

स. लोहा-कोयला सबसे ज्यादा है

द. निर्मित औद्योगिक उत्पाद सबसे ज्यादा है

8. विदेशी व्यापार के लिए आवश्यक है

अ. लागतों में निर्पेक्ष अन्तर

ब. लागतों में सापेक्ष अन्तर

स. लागत-अंतर न होना

द. लागतों का बढ़ते जाना

9. 2008-09 में भारत के आयात में सर्वाधिक है

अ. खाद्यान्न तथा खाद्य तेल

ब. बिना तराशे हीरे, पन्ना, पत्थर, आभूषण

स. मशीनरी, उपकरण, यंत्र आदि

द. पेट्रोल, पेट्रोल उत्पाद, उर्वरक आदि

10. विश्व व्यापार में भारत की हिस्सेदारी है

अ. 10 से 12 प्रतिशत

ब. 7-10 प्रतिशत

स. 4-7 प्रतिशत

द. 0-7 प्रतिशत

संक्षिप्त उत्तर वाले प्रश्न

1. भारतीय वैदेशिक व्यापार में व्यापार शेष सदैव विरुद्ध ही क्यों रहा?
2. यदि भारत में खनिज-तेल का अतुल भण्डार मिल जाए तो व्यापार किस तरह प्रभावित होगा?
3. वैदेशिक व्यापार में दिशात्मक विविधीकरण की प्रवृत्ति समझाइये?
4. भारत के मुख्य निर्यात कौन से हैं?
5. विकास प्रेरक आयात कौन से होते हैं?
6. निर्यात-प्रेरक आयात किन्हें कहा जाता है?

12.21 सारांश

वैदेशिक व्यापार, का कारण देशों के बीच उत्पादन लागत के सापेक्ष अंतर का होना है। निरपेक्ष अंतरों से भी व्यापार जन्मता है। विदेशी व्यापार वास्तव में अन्तर्राष्ट्रीय श्रम विभाजन की विधा है। इस विभाजन से विशिष्टीकरण जन्मता है और बड़े पैमाने पर उत्पादन से विविध आंतरिक-वाह्य बचते आते हैं। यह देश की सीमा पार से विनिमय क्रिया का फैलना है। भारत प्राचीन युग से विदेशों में व्यापार करता रहा है। हस्तकला, सामग्री, रेशम उत्पाद, मेवे, वस्त्र, मसाले आदि का निर्यात करता था। आभूषण भी निर्यातित होते थे। ईस्ट इंडिया कम्पनी ने भारत से ब्रिटेन व यूरोप को निर्यात बढ़ा दिए और भारत कच्चेमाल निर्यातक देश बना। यहां से जूट, कपास, लोहा, कोयला, इमारती लकड़ी, मसाले, अन्न आदि निर्यात हुए। पक्का माल ब्रिटेन से भारत आता था। खनिजों का निर्यात स्वरूप बदल गया। विकासीय आयात मशीनें, उपकरण यंत्र, पेट्रोल, पेट्रो-उत्पाद आदि आयात हुए और कच्चा माल खालें, कृषि के उत्पाद, खनिज, निर्यात हुए। किन्तु अब भारत निर्मित माल निर्यात करता है और टेक्नालॉजी संदर्भी निर्यात करता है। कृषि पदार्थों के निर्यात कम होते गए हैं। व्यापार को अन्तर्राष्ट्रीय मूल्य-स्तर,

विकास की दर प्रतियोगी देश व प्रतियोगिता स्तर, आपदा व युद्ध घटनाएं, खाद्यान्न दौर्लभ्य, औद्योगीकरण गित, पेट्रोल की घरेलू पूर्ति स्तर आदि कई कारक प्रभावित करते हैं। आयात-निर्यात में शामिल वस्तुएं-सेवाएं बदलती रहती हैं क्योंकि विकास दिशा और विपण्यातिरेक की दशा भी प्रभावित करती है। स्थितियोंके अनुकूल व्यापारिक साझेदारी भी बदलती ही रहती है। भारतीय विदेशी व्यापार विश्व व्यापार का मात्र 0.7 प्रतिशत है।

12.21 शब्दावली

12.22 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

वस्तुनिष्ठ

1. उदारीकरण से विदेशी व्यापार बढ़ा है।
2. प्राविधिक निर्यात रसायन, साफ्टवेयर, इंजीनियरिंग उपकरण हैं।
3. भारत के व्यापारिक साझेदारी (बड़े) तेल निर्यातक देश ईरान, इण्डोनेशिया, अरब, अमीरात, सउदी अरब हैं।
4. भारत का बड़ा प्रतियोगी देश चीन है।
5. विदेशी व्यापार स्वतंत्र राष्ट्रों के बीच होता है।
6. स्वातंत्र्योत्तर भारत के निर्यात-आयात दोनों बढ़ गए।
7. भारत के निर्यात में निर्मित औद्योगिक उत्पाद सर्वाधिक मूल्य के हैं।
8. विदेशी व्यापार का कारण है लागतों में सापेक्ष अन्तर।
9. भारत के आयात में पेट्रोल, पेट्रोल उत्पाद, उर्वरक आदि ज्यादा हैं।

12.23 अध्ययन सामग्री

- दत्त गौरव एवं अश्विनी महाजन, भारतीय अर्थव्यवस्था, एस.चन्द एण्ड कम्पनी, रामनगर, नई दिल्ली, 48th Edition.
- मिश्रा, एस.के. एवं वी.के. पुरी; प्राब्लम्स ऑफ इण्डियन इकॉनोमी, हिमालय पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 2010-2011
- सरकार, जयगंता; इण्डियन इकानोमी: पालिसीज एण्ड प्रैक्टिसेज, प्रथम संस्करण (2007), पीयरसन एजुकेशन, 2007.
- धीगड़ा, आई.सी, इण्डियन इकॉनोमी, सुल्तान चन्द एण्ड सन्स, नई दिल्ली, 2009.
- प्रकाश, बी, इण्डियन इकॉनोमी सिन्स 1991, इकानोमिक रिफौर्मस् एण्ड परफौर्मेन्सेज, प्रथम संस्करण, पियरसन एजूकेशन, 2009.
- दत्त रुद्र एण्ड के.पी.एम. सुन्दरम, इण्डियन इकॉनोमी, 60 वां संस्करण, एस. चंद एण्ड कम्पनी, रामनगर, नई दिल्ली, 2009.

12.24 निबन्धात्मक प्रश्न

1. भुगतान संतुलन की संरचना की व्याख्या कीजिए।
2. स्वतंत्रता के उपरान्त भारत के विदेशी व्यापार की चर्चा कीजिए।
3. क्या भुगतान संतुलन हमेशा संतुलित रहता है? इसकी व्याख्या कीजिए।

इकाई 13- भारत का भुगतान सन्तुलन
(INDIA'S BALANCE OF PAYMENT)

13.1 प्रस्तातवना
13.2 उद्देश्य
13.3 भुगतान सन्तुलन की परिभाषा
13.4 भुगतान संतुलन और व्यापार-शेष में अंतर
    13.4.1चालू खाते का शेष
    13.4.2 पूँजी खाते का भुगतान शेष
    13.4.3 व्यापार-स्वास्थ्य का द्योतक: भुगतान संतुलन-
13.5 योजनाकाल में भारत का भुगतान-शेष
13.6 भारतीय भुगतान शेष के प्रभावक तत्व
    13.6.1अन्तरर्राष्ट्रीप स्तर पर मूल्य-प्रवृत्ति
    13.6. प्रतिसारी व स्फीतिक दशाएं
    13.6.3 जनसंख्या वृद्धि
    13.6.4 विदेशी अनुदान एवं ऋण
    13.6.5 विकासात्मक आयात-दबाव
    13.6.6 कृषि उत्पादन की अस्थिरता
    13.6.7 विदेश में अर्जित आय का हस्तांतरण
13.7 प्रतिकूल भुगतान से भविष्य की आशंकाएं
13.8 सारांश
13.9 शब्दावली
13.10 संदर्भ ग्रन्थ
13.11 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
13.12 निबन्धात्मक प्रश्न

13.1 प्रस्तावना

भुगतान सन्तुलन एक आर्थिक लेखा-जोखा होता है जो अधिकांशत: एक वर्ष की अवधि के संदर्भ में होता है। किसी भी देश के नागरिक अन्य देशों के नागरिकों से वस्तु, सेवा, पूँजी, ऋण, अनुदान, ब्याज, किराए और अन्य प्रकार के आर्थिक लेन-देन करते हैं। इन मौद्रिक सौदों को वर्षभर का हिसाब बनाकर मिलान किया जाता है कि अन्य से प्राप्त आर्थिक लेन और उनके दिए गए देन में क्या बराबरी है या देनदारी ज्यादा है या लेनदारी ज्यादा है। स्वदेश की मुद्रा में यह हिसाब बनाया जाता है। इस लेख की मुख्य मद तो वस्तुओं-सेवाओं के सौदे होते हैं जिनका आयात अथवा निर्यात संदर्भित अवधि में होता है। कुछ अदृश्य मदों के प्रवाह को भी इसमें जोड़ा जाता है और पूँजी के आदान-प्रदान का ब्यौरा, ब्याज प्रातप्तयां, देनदारी, जहाजरानी व पर्यटक सेवाओं का लेन-देन तथा विशेषज्ञों की सेवाओं का लेन-देन भी इस लेखे-जोखे में चढ़ाया जाता है। ऐसा ब्यौरा एक क्रमबद्ध तरीके से बनाया जाता है। इस राष्ट्रीय स्तर के हिसाब से ही भुगतान की बकाया (शेष) का ज्ञान होता है जो सरकार के लिए नीति-निर्धारण का आधार बनता है।

13.2 उद्देश्य

इस खण्ड में छात्र-छात्राओं को भुगतान सन्तुलन की महत्ता, उपयोगिता, सूक्ष्म अर्थ, व्यापार सन्तुलन से भिन्नता, चालू एवं पूँजी खातों से अवगत किया जाना है। इस विवरण से भारत में भुगतान स्थिति, प्रवृत्ति एवं दिशा का ज्ञान होना अपेक्षित है। भुगतान स्थिति को प्रभावित करने वाले प्रमुख कारकों से परिचय आवश्यक है। यह समझना अपरिहार्य है कि भुगतान सन्तुलन को प्राय: व्यापार-स्वास्थ्य का द्योतक क्यों कहा जाता है। इस खण्ड के अंत में दिए गए वस्तुनिष्ठ प्रश्नों व संक्षिप्त उत्तर वाले प्रश्नों का उत्तर छात्र-छात्राओं को लिखकर अभ्यास करना है।

13.3 परिभाषा

भुगतान सन्तुलन वास्तव में व्यापारिक सम्बन्धों का द्योतक है। यह आयातित व निर्यातित वस्तुओं-सेवाओं के मूल्य के रूप में एक निश्चित अवधि संदर्भ में व्यक्त होता है। इसमें विविध अदृश्य मदों से प्राप्त आय जब जोड़ी जाती है तो यह व्यापार सन्तुलन कहा जाता है किन्तु यदि अदृश्य मदों के अलावा इसमें पूँजी का आदान-प्रदान, व्याज-भुगतान अथवा प्राप्ति, जहाजरानी सेवाएं, पर्यटन सेवाएं, विदेशी विशेषज्ञों पर व्यय, कम्पनी मुनाफे अथवा इस मद की आय भी जोड़ दिए जाते हैं तो यह भुगतान सन्तुलन का लेखा-जोखा कहलाता है। इसमें सारे विश्व से देश में प्राप्त वस्तुएं, सेवाएं, अदृश्य मदें, पूँजी हस्तान्तरण, भुगतान निवेश आदि को आगणित किया जाता है और विश्वभर को दिए गए निर्यात, सेवाएं, पूँजी, अदृश्य-सेवाएं, आदि के भुगतान जोड़े जाते हैं। विदेशियों से प्राप्त व उनको किए गए भुगतान का वर्षभर का लेखा भुगतान सन्तुलन है। इस लेखा-विधि को मानक बहीखाता प्रणाली से ही किया जाता है जिसमें हर सौदे की दुहरी प्रविष्टि होती है। प्रत्येक सौदे को जमा और देय दोनों तरफ चढ़ाया जाता है। एक देश की देय राशि दूसरे देश की जमा राशि मानी जाती है। हर निर्यात पूँजी का बहिगर्मन है जो देय भी है और जमा भी है। इसलिए दुहरी प्रविष्टि होती है। भले ही अनुदान राशि को पुन: चुकाना अपेक्षित नहीं फिर भी इसे पूँजी बहिर्गमन मानकर प्रविष्टि की जाएगी दूसरी ओर अनुदान लिखकर 'देय-प्राप्ति' का सन्तुलन कर लिया जायेगा। भुगतान संन्तुलन दुहरी प्रविष्टि विधि के लेखे में सदैव सन्तुलित रहेगा किन्तु एकल प्रविष्टि विधि में लेन-देन के बीच अन्तर रहेगा। चालू खाते व पूँजी खाते का योग 'सकल सन्तुलन' है, जो हमेशा सन्तुलित होता है। जितनी राशि का असन्तुलन चालू खाते में हो उतने की प्रतिलोमी प्रविष्टि पूँजी खाते में कर ली जाती है। इसलिए भुगतान सदैव सन्तुलित माना जाता है। अगर हम चालू या पूँजी खाते में (मात्र एक में) देखें तो असन्तुलन स्पष्ट दीखेगा।

पूँजी खाते में प्राय: चार प्रकार के विवरण होते हैं- 1. प्राइवेट खाते के अल्पकालीन व दीर्घकालीन देय 2. अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं के शेष 3. स्वर्ण हस्तांतरण 4. सरकारी खातों का शेष भुगतान।

प्राय: भुगतान संतुलन की स्थिति निरंतर विरुद्ध रहने की दशाएं पिछड़े देशों के संदर्भ में दीखती है। यह कई प्रकार का हो सकता है जैसे- (अ) चक्रीय (आ) चिरकालिक (इ) संरचनात्मक (ई) स्वल्पकालिक (उ) आधारभूत असंतुलन। यदि असंतुलन लगातार बना रहता है तो निदान के लिए विनिमय दरों में ही परिवर्तन करना पड़ेगा। अवमूल्यन अथवा अधिमूल्यन करना होगा और अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष से परामर्श करके कदम उठाने होंगे।

13.4 भुगतान संतुलन और व्यापार-शेष में अंतर

जब देशों के बीच विनिमय होता है तो यह मात्र वस्तुओं और दृश्य मदों का विनिमय नहीं होता है अपितु इसमें अदृश्य प्रकार की मदें भी होती हैं। इन अदृश्य मदों से भी आय सृजित होती है। कुल आयातित-निर्यातित वस्तुओं के मूल्य का योग करके हम 'व्यापार की बकाया' का ज्ञान करते हैं। किन्तु व्यापार की बकाया समस्त अन्तर्राष्ट्रीय दायित्वों का ज्ञान नहीं देती है इसमें वे भुगतान-योग्य दायित्वों सम्मिलित नहीं होते जो व्यापाररत देशों के मध्य अदृश्य मदों के लिए देय होते हैं। ऐसी मदों से आय भी निर्यात- आय के साथ जुड़ती है और दूसरे आयात करने वाले देश के आयातगत मूल्य में जुड़ती है। सेवाओं का मूल्य, एक अदृश्य मद है। जहाज जिसमें माल पहुंचाया गया उसका किराया भी अदृश्य मद है जिसकी शुद्ध आय भुगतान संतुलन में जोड़ी जाती है जिससे चालू खाते का भुगतान-शेष ज्ञात होता है।

भुगतान शेष को दो भागों में विभक्त किया जाता है।

(अ) चालू खाते का भुगतान शेष

(आ) पूँजी-खाते का भुगतान शेष।

चालू खाते के भुगतान शेष में वस्तुओं-सेवाओं के भुगतान, एक-पक्षीय भुगतान तथा दान सम्मिलित किए जाते हैं। इसमें सभी अदृश्य मदें समाहित होती हैं। पूँजी खाते के भुगतान-शेष में व्यापाररत देश की अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय स्थिति से सम्बन्धित चालू खाते की समस्त मदें प्रदर्शित होती है। हर देश की विदेश में सम्पत्ति होती है और अन्य दायित्व होते हैं। पूँजी खाता इन्हें दिखाता है। प्राय: सभी देश, विदेशी स्थिर मुद्रा को अपने मौद्रिक भण्डार में आरक्षित रखते हैं जो देश की पूँजी Asset की तरह स्वीकारी जाती है। यदि इस विदेशी विश्वसनीय मुद्रा के भण्डार में कोई घट-बढ़ की जाती है तो इस मात्रा में उस देश के अन्तर्राट्रीय दायित्वों में परिवर्तन हो जाएगा। यह परिवर्तन धनात्मक अथवा ऋणात्मक हो सकता है किन्तु इससे सम्बन्धित देश के दायित्व की स्थिति का परिचय मिलता ही है। पूँजी खाते से इस स्थिति का ज्ञान हो जाता है। व्यापार-शेष मात्र के अध्ययन से इन बातों का पता नहीं लगता है। चालू खाते पर भुगतान शेष (balance of payment on current account) प्राप्त करने के लिए व्यापार शेष की राशि के साथ अदृश्य मदों की आय जोड़नी होगी तथा दान की राशि भी जोड़ी जाएगी। भुगतान शेष का दूसरा अंग पूँजी खाता है जो देश की अन्तर्राष्ट्रीय वित्त स्थिति में सुदृढ़ता या निर्बलता का प्रतीक होता है।

13.4.1 चालू खाते का शेष-अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के अनुसार चालू खाते के देय-पक्ष में वस्तु आयात, विदेश यात्रा व्यय, परिवहन, बीमा संदर्भी भुगतान विदेशी कम्पनी मुनाफे विशेषज्ञों की फीस आदि को क्रमबद्ध तौर से जोड़ा जाना चाहिए। जबकि चालू खाते के जमा-पक्ष में निर्यात, पर्यटन आय, परिवहन, बीमा से आय, विदेशी पूँजी के लाभ तथा विशेषज्ञों की प्राप्य राशियां दिखाई जाती हैं। इस पूरे खाते के मिलान से कम या बकाया, जो हो, चालू खाते का शेष कहलाता है। चालू खाते में प्रविष्ट भुगतान पूँजी खाते से ही होते हैं।

13.4.2 पूँजी खाते में भुगतान शेष- आयात-निर्यात व सेवा के बदले मिलने वाली राशि व देय भुगतानों को संभव बनाने वाली मदें, सब पूँजी खाते में प्रविष्ट होती हैं। इसमें निजी खातों के अल्प अथवा दीर्घकालिक शेष

होते हैं। इनके साथ अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं से सम्बद्ध भुगतान व प्राप्तियां, स्वर्ण हस्तांतरण तथा सरकारी खातों के शेषों के भुगतान दिखाए जाते हैं। निजी खातों में व्यक्तियों के पूँजी भुगतान और संस्थाओं व बैंकों के भुगतान सम्मिलित होते हैं।

13.4.3 व्यापार-स्वास्थ्य का द्योतक: भुगतान संतुलन- भुगतान संतुलन का साम्य कम से कम दीर्घकाल में परमावश्यक होता है। यदि इसमें लगातार घाटे या बचत की दशा बनी रहे तो देश की बाह्य पूँजीगत स्थिति में गड़बड़ का लक्षण है। इसमें दुर्बलता या दृढ़ता झलकती है। चक्रीय, चिरकालिक, संरचनात्मक, अस्थाई या स्थाई असंतुलन पर लगातार नजर रखी जाती है और नीति द्वारा इसमें सुधार किया जाता है। विनिमय दर को लचीला या नियंत्रित करना अवशोषण या मुद्रा कोष की सहायता से यह सम्भव किया जाता है।

13.5 योजना काल में भारत का भुगतान शेष

भारत ने द्विपक्षीय और बहुपक्षीय श्रोतों से वैदेशिक सहायता ली और वाणिज्कि उधार के द्वारा चालू खाते में घाटे के लिए वित्त प्रबंध किया। गैर निवासी भारतीयों ने अपनी जमा राशियों द्वारा सहारा दिया। अदृश्य मदों से भारत की आय ने भी सराहनीय योगदान दिया है जिससे भुगतान-शेष की समस्या पर सहारा मिला। योजनाकाल का संक्षिप्त विवरण यह स्पष्ट करता है कि भुगतान शेष सदा ही भारत के प्रतिकूल ही था।

भारत का भुगतान शेष (2001-2002 को छोड़कर) सदैव प्रतिकूल रहा।

क्रम	**योजनाएं**	**भुगतान शेष** (रु.) करोड़
1.	प्रथम	42
2.	द्वितीय	1725
3.	तृतीय	1950
4.	वार्षिक	2015
5.	चतुर्थ	100
6.	पंचम	3082
7.	षष्ठम	11384
8	सप्तम	41047
9.	अष्टम	62914
10.	नौवी	53175
11.	दसवीं	6611

योजनाकाल में भारत का 'भुगतान-शेष'- भारत में नियोजन 1951 से प्रभावी हुआ। प्रथम पंचवर्षीय योजना 1951-52 से 1955-56 तक चली थी। इस काल में राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय घटना चक्र भारत के भुगतान शेष को प्रभावित करता रहा। उदाहरण के लिए हम कोरिया-युद्ध से प्रेरित अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक तेजी (महंगाई) को ले सकते हैं। फिर अमरीका में कुछ प्रतिसार (recession) प्रवृत्ति घटित हुई। देश के भीतर संयोगवश समय पर अच्छी वृष्टि होने से कृषि उत्पादन बढ़ गया और इस जनित आय से उद्योग भी प्रगति पथ पर रहे। आशा का वातावरण व विकासीय उत्तेजना जागृत रही। भले ही खाद्यान्न आयात में इतनी तीव्र मांग न रही फिर भी सरकार आयात के लिए उदार बनी रही तो आयात रु. 963 करोड़ के हो गए। भुगतान शेष रु. 163 करोड़ तक ऋणात्मक रहा। औसत वार्षिक भुगतान शेष 42 करोड़ रु. तक रहा।

इस योजना में व्यापार शेष ऋणात्मक (542 करोड़ रु.) था। शुद्ध अदृश्य मदों की आय रु. 500 करोड़, भुगतान शेष 42 करोड़ रु. था। द्वितीय योजना (1956-57-1960-61) में भारत के नियोजन का ढांचा बदल गया

और औद्योगीकरण की ओर विशेष ध्यान दिया गया। निवेश की व्यूह रचना में बड़े अवरचनात्मक उद्योगों (स्टील, सीमेण्ट) की स्थापना को प्राथमिकता देनी थी। इस कारण आयात बढ़ गए। व्यापार शेष 2339 करोड़ रु. तक जा पहुंचा। यह भी ऋणात्मक था। अदृश्य मदों से 614 करोड़ रु. का लाभ मिला फिर भी भुगतान-शेष रु. 1725 करोड़ से विपरीत रहा। तृतीय योजना काल में (1961-62-65-66) भी आयातों के मूल्य निर्यातों के मूल्य से ज्यादा थे और व्यापार-शेष रु. 2382 करोड़ से भारत के विपरीत रहा था। इसमें अदृश्य मदों की आय 432 करोड़ रुपया जोड़कर भुगतान-शेष रु. 1950 करोड़ था। 1966-67 से 1968-69 तक वार्षिक योजनाएं चलाईं गईं थीं। दृश्य मदों से भारत का इस दौरान व्यापार-शेष रु. 2067 करोड़ से ऋणात्मक रहा था। शुद्ध अदृश्य मदों में आय रु. 52 करोड़ जोड़कर भारत का भुगतान-शेष रु. 2015 करोड़ का था जो ऋणात्मक रहा। चौथी योजना 1969-1974) के लिए थी। इसमें निर्यात बढ़ाने के सबल प्रयास किए गये फिर भी व्यापार संतुलन रु.1564 करोड़ से विपरीत रहा था। अदृश्य मदों से शुद्ध आय रु. 1664 करोड़ जोड़कर यह भुगतान शेष की राशि मात्र 100 करोड़ रुपये रही, जो ऋणात्मक थी।

पांचवीं पंचवर्षीय योजना (1974-1979) में भारत का व्यापारिक घाटा रु. 3179 करोड़ का रहा और अदृश्य मदों से आय रु. 6261 करोड़ थी जिसे जोड़कर शुद्ध भुगतान शेष 3082 करोड़ रु. से विपरीत रहा।

भारत की छठी पंचवर्षीय योजना (1980-1984) ने बहुत बड़ा आकार ले लिया था और उद्देश्य भी ज्यादा गहन हो गए थे। इस योजनाकाल में व्यापार का शुद्ध घाटा 30456 करोड़ रु. था और अदृश्य मदों से प्राप्त आय रु. 19072 करोड़ जोड़कर भुगतान शेष रु. 11384 करोड़ से विपरीत रहा। सातवीं योजना में भी कमोवेश ऋणात्मक भुगतान की स्थिति थी। 1985-1989 काल में 54204 करोड़ रु. का व्यापार घाटा था और अदृश्य मदों की आय 13175 करोड़ रु. थी, जिससे भुगतान शेष 41047 करोड़ रु. रहा जो ऋणात्मक था। आठवीं योजना (1992-97) में व्यापार घाटा निरन्तर व़ृद्धि प्रवृत्त रहा और अदृश्य मदों की शुद्ध आय तेजी से बढ़ी थी। कुल भुगतान शेष, और ज्यादा विपरीत हो गया था। इस काल में व्यापार घाटा रु. 149004 करोड़ और अदृश्य मदों की आय रु. 62914 करोड़ से विपरीत रहा।

भारत की नौवीं योजना 1997-98 से 2001-02 तक थी। इस अवधि में पहली बार 2001-02 में भारत का भुगतान शेष घनात्मक हो सका जो विदेशी पूॅजी आने के कारण हो सकता है। इस काल में व्यापार घाटा रु. 3,02,334 करोड़ था। अदृश्य मदों की आय 2,49,159 करोड़ रु. थी और भुगतान शेष 52,175 करोड़ रुपए से विपरीत रहा। दसवीं योजना (2002-07) काल में भारत के विदेशी व्यापार ने छलांग लगाई। व्यापार शेष 782788 करोड़ रु. से विपरीत था और अदृश्य मदों की आय रु. 776177 करोड़ थी। इसलिए भुगतान शेष रु. 6611 करोड़ रह गया था।

2008-09 में भारत का व्यापारगत घाटा 5,43,158 करोड़ रु. था और अदृश्य मद आय 4,11,544 करोड़ रु. थी और कुल मिलाकर भुगतान शेष 1,31,614 करोड़ रु. का था जो विपरीत था।

13.6 भारत के भुगतान शेष को प्रभावित करने वाले तत्व

यह एक गहन शोध का विषय है कि किसी देश के भुगतान शेष को कौन सी नीतियां, घटक, परिस्थितियां, तत्व, प्रवृत्तियां, दशाएं किस सीमा तक प्रभावित करती हैं? यह तो प्रत्येक व्यापारी देश में भिन्न-भिन्न भी हो सकते हैं और कुछ तत्व सभी के संदर्भ में लगभग सही रूप से लागू भी हो सकते हैं। कुछ तत्व जो भारतीय संदर्भ में सटीक तौर पर सही लगते हैं, निम्नांकित हैं। इनके अतिरिक्त अन्य तत्व भी महत्वपूर्ण हो सकते हैं।

13.6.1 अन्तर्राष्ट्रीय मूल्य प्रवृत्ति - भुगतान शेष विकासशील और विकसित देशों में भिन्न कारणों से प्रभावित होता है किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर वस्तुओं-सेवाओं के मूल्य व पूर्ति की दशाएं सबको प्रभावित करते हैं। जहां निर्यात महंगे बिके, वहां का भुगतान शेष सबको धनात्मक व अनुकूल रह सकते हैं। जिन्हें मंहगे आयात करने पड़े उनका भुगतान शेष विरुद्ध हो सकता है। पूर्ति की दशाएं यदि दौर्लभ्यपूर्ण या विपरीत रहे तो निर्यात करना कठिन हो जाएगा और निर्यात-आय घट जाएगी तथा भुगतान शेष भी विपरीत हो सकता है। अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर मूल्य प्रवृत्तियां व पूर्ति दशाएं दोनों ही महत्वपूर्ण है।

13.6.2 प्रतिसारी व स्फीतिक दशाएं- व्यापाररत देशों में व्याप्त अतिसारी अथवा स्फीतिक स्थितियां भुगतान शेष की मात्रा व दिशा को प्रभावित करती हैं। इनसे आय, मूल्य, पूर्तियां और आयात-निर्यात सब प्रभावित होते हैं। प्रत्येक देश में यह अलग-अलग होंगे। अतिसारी दशाओं में निर्यात बढ़ाए जाते हैं और स्फीतिक दशाओं में लागतें बढ़ जाने से निर्यात हतोत्साहित होते हैं जिससे व्यापार सन्तुलन डगमगाने लगता है। मुद्रास्फीति अथवा अतिसार आन्तरिक अथवा वैश्विक कारणों से हो सकती है। देश के भीतर आर्थिक प्रगति, आय वृद्धि, उपभोग के बढ़ने की प्रवृत्ति अथवा अन्यान्य कारणों से किसी देश में उपभोग-योग्य अथवा पूँजीगत वस्तु आयातों के लिए दबाव पैदा हो सकता है। पिछड़े देशों विशेषतया भारत में फसलें विनष्ट होने से खाद्यान्न दौर्लभ्य की दशा आयात के लिए दबाव बनाती है और व्यापार सन्तुलन प्रभावित होता है। निवेश-योजनाएं पूँजीगत वैदेशिक वस्तुओं के लिए दबाव बनाती है। जैसा भारत में ही देखा जा सकता है।

13.6.3 जनसंख्या वृद्धि- जनसंख्या वृद्धि भी भुगतान शेष को प्रभावित करती है क्योंकि इससे उपभोग-योग्य वस्तुओं की बेलोच मांग जन्म लेती है जिसकी पूर्ति सरकार की पहली प्राथमिकता हो जाती है। घरेलू उत्पादन का अधिकांश भाग स्वदेशी उपभोग में लग जाने से निर्यात के लिए वस्तुओं-सेवाओं की बचत संभव नहीं रह जाती है। कुछ देशों में उपभोग प्रवृत्ति इतनी ज्यादा होती है कि किसी भी हालत में उपभोग, आयात द्वारा प्राप्त सामग्री से ही होता है जैसा अमरीका में देखा जा सकता है। यदि निर्यात आय और अदृश्य स्रोतों की जनित आय बढ़ न सके तो भुगतान-शेष विरुद्ध हो ही जाता है।

13.6.4 विदेशी अनुदान और ऋण - भुगतान-शेष के अनुकूल अथवा विपरीत होने में बहुत बड़ा योगदान विदेशी सहायता, अनुदान, विदेशों से कर्जे, अंतर्राष्ट्रीय संगठनों जैसे मुद्रा कोष, विश्व बैंक, वित्त निगम, एशियन बैंक, अफ्रीकी-एशियाई बैंक आदि के ऋण आदि का होता है। भारत के संदर्भ में यह महत्वपूर्ण रहा है। ब्रिटेन, अमरीका, जापान, जर्मनी, स्वीडन इत्यादि ने भारत को अनुदान व सहायता दी है। जिससे भुगतान शेष की समस्या में प्रभाव पड़ा था। मुद्रा कोष ने व विश्व बैंक ने कई स्थितियों में सहायता दी है।

13.6.5 विकासात्मक आयात दबाव - विकासशील देशों को भुगतान असंतुलन की समस्या से प्राय: जूझना पड़ता है क्योंकि इन्हें अपनी विकास योजना में छोटे-बड़े कई उद्योग स्थापित करने में विदेशी आयात करना आवश्यक हो जाता है। नए कौशल, तकनीकें, मशीनें, पुर्जे और वाहन आदि के लिए वैदेशिक मुद्रा नहीं रहती किन्तु आयात अपरिहार्य हो जाते हैं। प्रत्येक वर्ष आयातित मशीनों के पुर्जे, उपकरण, आदाय, प्रतिस्थापन पुर्जे, स्पेयर-पार्ट, मंगाने ही पड़ते हैं जबकि वैदेशिक मुद्रा का दौर्लभ्य रहता है क्योंकि एक तो निर्यात कम होते हैं दूसरा निर्यातों का मूल्य कम होता है और तीसरा तत्व यह भी है कि इनके निर्यात स्वतंत्र स्पर्धा की स्थितियों में विक्रित होते हैं। प्राय: परिपोषक आयात की जरूरतें ही निर्यात मूल्य से ज्यादा हो जाती हैं।

सभी विकासशील देश अपने स्तर से आयात-नियंत्रण और आयात-प्रतिस्थापन की व्यूह रचना से मार्ग दर्शन पाते हैं। अनावश्यक विलासिता-उन्मुख आयातों पर कठोर नियंत्रण लगाते हैं किन्तु यह सदैव और पूर्णत: सफल नहीं होते। आयात बढ़ते ही जाते हैं अदृश्य मदें अधिक आय सृजित नहीं कर पाती हैं और भुगतान शेष सदैव विरुद्ध रहता है। भुगतान शेष सदैव विरुद्ध रहने से देश की मुद्रा का वैदेशिक मूल्य व्यवहारत: घटने लगता है

जिससे अवमूल्यन की स्थितियां जन्म लेती हैं। इसलिए निर्यात सम्वर्द्धन के सभी उपाय किए जाते हैं किन्तु निर्यात आवश्यकता के अनुरूप नहीं बढ़ पाते हैं।

भुगतान शेष की विकट समस्या से राहत के लिए विदेशी ऋण लिए जाते हैं। इन ऋणों की पुनर्भुगतान किस्तें और ब्याज की राशियां चुकानी होती हैं जो विदेशी दुर्लभ मुद्रा में ही होता है। विदेशी मुद्रा-भण्डार के स्वल्प होने की दशा में यह ब्याज और किस्त नहीं चुकाई जा सकती। प्राय: देश बड़ी ऊंची ब्याज दरों व शर्तों पर ऋण ले लेते हैं। इनसे ऋण-भार असह्य हो जाता है और भुगतान सन्तुलन सदा के लिए विरुद्ध ही रहता है और अन्तत: अवमूल्यन के लिए बाध्य होना पड़ता है। भारत के लिए पेट्रोलियम व उत्पादों का आयात ऐसी मद है जिसमें अर्जित विदेशी दुर्लभ मुद्रा का बड़ा भाग व्यय हो जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय विकास परिषद ने इस कठिनाई को देखते हुए पिछड़े देशों के लिए सस्ती दर पर दीर्घकालीन ऋणों की व्यवस्था प्रदान की है। भारत भी इससे लाभान्वित हुआ है।

दुर्लभ मुद्राओं का अर्जन पिछड़े देश के लिए तब संभव है जब वह ऐसा कच्चमाल, सेवा व अन्य सामग्री निर्यात करे जिसे दुर्लभ मुद्रा वाले देश क्रय करना चाहें किन्तु यह सदा ही संभव नहीं होगा। आयात करने की क्षमता मूलत: निर्यात कर सकने की क्षमता पर निर्भर होती है। यदि निर्यातगत पदार्थों की खरीद न हो तो निर्यात संभव ही नहीं होंगे और फलत: आयात कर सकने की क्षमता ही नहीं होगी।

13.7 कृषि उत्पादन की अस्थिरता

प्राय: पिछड़े देश खनिज, कृषिगत उत्पादन, श्रम-पूर्ति इत्यादि से दुलर्भ मुद्रा पाते हैं। कृषि उत्पादन तो प्राय: नैसर्गिक विदाओं, ओलावृष्टि, टिड्डी, मानसून व मौसम से आबद्ध रहते हैं। उत्पादन घट जाता है और निर्यात संभव नहीं रहता। स्वत: ही भुगतान शेष प्रभावित हो जाता है।

अदृश्य मदों से आय प्राय: भुगतान शेष के अनुकूल अथवा प्रतिकूल होने में गहन प्रभाव डालती है। विकसित देशों में टेक्निकल कन्सेलटेंसी, विशेष हुनर आदि बड़ी मात्रा में आय सृजित करती हैं। अमरीका, इग्लैण्ड, फ्रांस, जर्मनी, स्विट्जरलैण्ड आदि बड़े धनी देश मात्र पर्यटन गत आय से बहुत ज्यादा लाभान्वित होते हैं। पिछड़े देश भी प्राय: पर्यटन से अपना भुगतान संतुलन ठीक किए रहते हैं। नेपाल में पर्यटन एक महत्वपूर्ण स्रोत है। हांगकांग, सिंगापुर, मलेशिया व अन्य छोटे टापू वाले देश पर्यटन की अदृश्य आय से लाभान्वित होते हैं। भारत में पर्यटन विकसित नहीं है किन्तु यहां इसकी अपार संभावनाएं हैं। इस आय से वैदेशिक दुर्लभ भण्डार बढ़ाया जा सकता है जो भुगतान शेष को अनुकूल कर सकता है।

13.7.1 विदेश में अर्जित आय का हस्तांतरण- भारतीय जनशक्ति प्राय: मध्यपूर्व के देशों, तेल-निर्यातक देशों, औद्योगिक देशों और विकसित अर्थव्यवस्थाओं में प्रशिक्षित-अप्रशिक्षित मजदूरों की तथा इंजीनियर, डॉक्टर, व्यवसायियों की हैसियत से कार्यरत सेवायोजित रहते हैं। यह विदेशी मुद्रा अर्जित करके स्वदेश को भेजते हैं। यह बहुत बड़ी राशियां होती हैं। यह आय अदृश्य मद से आय में सम्मिलित है। इससे भुगतान शेष को अनुकूल करने में सहायता मिलती है। विदेशी विनियोजन में निवेशक विदेशी पूँजी से आर्थिक क्रियाओं का संयोजन करते हैं जो विदेशी मुद्रा अर्जन में सहायक होते हैं। विदेशी निवेश भुगतान-शेष को अनुकूल करता है। जब यह पूँजी देश छोड़कर जाती है तो भुगतान-शेष विपरीत होता है।

विश्व व्यापार संगठन ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के नये कार्य-सम्पादन के तौर-तरीकों व विधान को बदल दिया है। सभी सदस्य देश W.T.O. द्वारा निर्धारित नियमों व व्यवस्था के अधीन अपनी व्यापारिक नीतियां निर्धारित करते हैं। सभी देशों को एक न्यूनतम आयात-मात्रा बनाए रखने के लिए वचनबद्ध रहना पड़ता है जिसके

बदले में वे अपने निर्यातों में सुविधाएं अर्जित करते हैं। यदि W.T.O. किसी देश को किसी मात्रा के आयात करने को दबाव डाले तो उस देश के भुगतान-शेष में अवश्य प्रभाव पड़ेगा।

तकनीकी उन्नयन की दिशा में जब कोई देश प्रयत्न करेगा तो उसे आधुनिक उत्पादन पद्धति से नई प्राविधि के अन्तर्गत उत्पादन करना होगा। इसमें उसे कुछ विशेष आयात करना ही पड़ेगा जो प्राय: एक श्रृंखलाबद्ध आयात होगा। इससे भुगतान शेष प्रभावित रहेगा, भले ही बाद में निर्यात बढ़ने से इसका निराकरण हो जाएगा। विदेशी प्रत्यक्ष निवेश और पोर्ट फोलियो निवेश के द्वारा विदेशी दुर्लभ मुद्रा प्राप्त होती है और भुगतान शेष अनुकूल होता है। विदेशी बाजार ऋणों से भारत को 2007-08 में लगभग 20.2 मिलियन अमरीकी डालर का सहारा मिला था। भारत में निर्यात सम्वर्धन के उपाय कारगर नहीं रहे हैं। 1998-99 में भुगतान घाटे को ठीक करने के लिए रिसर्जेट इण्डिया बाण्ड द्वारा प्रवासी भारतीयों से 4.2 अरब अमरीकी डालर प्राप्त किए थे। विदेशी प्रत्यक्ष निवेश ने भारत के भुगतान असंतुलन को ठीक करने में सहायता की है। भारतीय रुपए का वैदेशिक मूल्य 1998-2001 के दौरान अमरीकी डालर में गिरता जा रहा था। यह मूल्य की कमी 15.7 प्रतिशत थी। 1908-10 के बीच रुपए का यह वैदेशिक मूल्य फिर से गिरा है।

13.8 प्रतिकूल भुगतान संतुलन से भविष्य की आशंकाएं

यदि भारत अपने आयातों में उदारता बढ़ाता रहा और निर्यातों में वृद्धि समोचित दिर से न हो सकी तो एक घातक स्थिति तक पहुंचने का भय सदा बना रहेगा। घातक स्थिति से तात्पर्य यह है कि वैदेशिक मुद्रा भण्डार खाली हो जाय और अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं से सामान्य व विशेष सुविधाएं भी समाप्त हो जाय। जब मुद्राकोष के विशेष ऋण सुविधाएं ले चुके फिर भी भुगतान संतुलन प्रतिकूल ही रहे। ऐसी दशा उत्पन्न हो जाने पर तो विश्वभर में कोई भी देश उधार देने को तत्पर न होगा। पुराने ऋणों पर ब्याज व किश्त चुकाने के लिए लगातार ऋण की जरूरत पड़ेगी, यह दिवालिए की ओर संकेत होगा। भारत अभी इस दशा से दूर है किन्तु इसे निर्यात सम्वर्धन और आयात प्रतिस्थापन पर बल देना श्रेयस्कर होगा। वैदेशिक मुद्रा का विलासितापूर्ण व्यय रोका जाना चाहिए। खाद्यान्न व कच्चेमाल की आत्म-निर्भरता प्राप्त करना आवश्यक है। देश में शक्ति के साधन बढ़ाए जाएं। उर्वरक, इस्पात, लोहे, सीमेण्ट आदि में आत्मनिर्भर बनें। पेट्रोल, गैस, स्नेहको की यथासंभव बचत करना जरूरी है।

अभ्यास प्रश्न

I. भुगतान संतुलन क्या है?

1. देश की आमदनी का स्रोत है।
2. दो देशों की आपसी देनदारियों का ब्यौरा है।
3. किसी देश के, संसार के अन्य देशों से लेन व देनदारियों का निर्दिष्ट अवधि का लेखा-जोखा है।
4. यह आयात-निर्यात का अंतर है।

II. व्यापार संतुलन क्या है?

1. आयात-निर्यात का मूल्यांतर।
2. अदृश्य आय मदों को घटाकर आयात-निर्यात का मौद्रिक मूल्य।
3. एक वर्ष में आयात-निर्यातगत वस्तु, सेवामूल्य तथा अदृश्य मदों की आय का योग।
4. व्यापार व गैर व्यापार का अंतर व्यापार संतुलन है।

III. योजनाकाल में भारत का भुगतान शेष

1. अनुकूल रहा है।
2. सदैव प्रतिकूल रहा है।
3. संतुलित-बराबरी का रहा है।

4. उपरोक्त कोई भी नहीं।

IV. भारत ने भुगतान संतुलन के घाटे को कैसे ठीक किया है

1. गैर निवासी भारतीयों की जमा-राशियों से, धनादेशों से आदि।
2. निर्यात सम्वर्धन द्वारा विदेशी आय में कई गुना बढ़ोत्तरी द्वारा।
3. मुद्राकोष सहायता से।
4. विदेशी निवेश वृद्धि से, ऋण अनुदानों से।

V. विकास नीतियों से भुगतान संतुलन कैसे प्रभावित रहा है ?

1. मशीनों, प्रतिरक्षा सामग्री, टेक्नालाजी, कच्चेमाल के आयात से भुगतान सन्तुलन विरुद्ध हुआ।
2. विकास नीति ने पेट्रोल व उत्पाद मांग चौगुनी कर दी।
3. विकासीय ऋणों द्वारा प्रभावित किया
4. उपरोक्त सभी कारणों से

VI. भुगतान संतुलन में मूलभूत असंतुलन क्यों होता है ?

1. जब निर्यात निरंतर बढ़ते हैं और आयात बढ़ते ही नहीं।
2. जब मुद्रा का वैदेशिक मूल्य ज्यादा रखा जाता है।
3. जब मुद्रा का मूल्य बहुत कम रखा जाता है।
4. जब देश में स्फीतिक या प्रतिसारी दशाएं दीर्घकाल तक बनी ही रहे।

VII. किस स्थिति में भुगतान संतुलन के चालू खाते में निष्क्रियता रहती है ?

1. प्रथम चरण में।
2. तृतीय चरण में।
3. द्वितीय चरण में।
4. किसी में नहीं।

VIII. अवमूल्यन कब लाभकारी होता है ?

1. यदि आयात की मांग अत्यधिक लोचदार हो।
2. यदि निर्यातों की मांग बेलोच हो।
3. जब स्वदेश की आयातों के लिए मांग बेलोच हो।
4. उपरोक्त सभी।

IX. भारत में भुगतान असंतुलन क्यों असंतुलित रहा है?

1. विकासीय आयात, अनुरक्षण आयात, प्रतिरक्षा आयातों की माँग बलोच रही।
2. भारत ने मुद्रा का अधिमूल्यन कर दिया।
3. भारत ऋणों पर ब्याज न चुका सका।
4. भारत को अनाज लगातार मगांना पड़ा।

X. भारत के भुगतान संतुलन में क्या चक्रीय असंतुलन के लक्षण है ?

1. नहीं है।
2. लक्षण हैं जो स्थाई हैं।
3. कभी-कभी लक्षण दिखते हैं।
4. उपरोक्त में कोई नहीं।

13.9 सारांश

भुगतान संतुलन मूलत: व्यापारिक संबंधों का द्योतक है। इसमें चालू खाते के आयात-निर्यात का समायोजन होता है और पूँजी खाते के लेन-देन समायोजित होते हैं। अदृश्य मदों से आय को व्यापार संतुलन में समायोजित करके इसमें पूँजी खाते का समायोजन किया जाता है। अर्थात् पूँजी हस्तांतरण, ब्याज-भुगतान, जहाजरानी, पर्यटन की आय व निवेश राशियां भी जोड़ी जाती हैं। यह या तो बराबर होता है या असंतुलित होता है, चाहे धनात्मक हो या ऋणात्मक हो। यह देश की आर्थिक दशा को प्रदर्शित करता है। स्वर्ण हस्तांतरण, सरकारी खातोंके शेष, निजी खातों के शेष तथा अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं का शेष जोड़ा जाता है। यह हिसाब एक निर्दिष्ट अवधि के संदर्भ में बनाया जाता है। भारत में भुगतान संतुलन प्रतिकूल ही रहा है क्योंकि भारत के आयात बेलोच मांग वाले विकासीय आयात थे। प्रतिरक्षा, अनुरक्षण, विकासीय और विपदा, युद्ध आदि से असंतुलन बढ़ा है। अनाज का आयात करने से भी भुगतान संतुलन विरुद्ध रहा। आयात प्रतिस्थापन व नियंत्रण द्वारा इसे अनुकूल करने का प्रयास किया गया और विदेशी अनुदानों से इसे कम करने में सहायता मिली।

13.10 शब्दावली

- **आर्थिक सौदे:** आर्थिक सौदे वे सौदे होते है जिनमें मूल्य का हस्तान्तरण होता है। जिसके अन्तर्गत एक देश को दूसरे देश से या तो भुगतान प्राप्त करना होता है अथवा दूसरे देश को भुगतान चुकाने की बात होती है।
- **हस्तान्तरण भुगतान:** हस्तान्तरण भुगतान एकतरफा हस्तान्तरण भुगतान होते है जो बिना किसी प्रतिफल के होते है तथा उनके पुनर्भुगतान का दायित्व नहीं होता है। उदाहरणार्थ, भारत के एक नागरिक का विदेश में रहने वाले किसी सम्बन्धी को उपहार में कुछ राशि या (डालर) भेजना है। इसके अतिरिक्त, पेन्सन, निजी प्रेषण (remittances) दान आदि भी हस्तान्तरण भुगतान के उदाहरण है।
- **दृश्य मदें:** भौतिक वस्तुओं के आयात एवं निर्यात दृश्य मदें (visible items) कहलाती है।
- **अदृश्य मदें:** सेवाओं तथा हस्तान्तरण भुगतान में सम्मिलित मदें अदृश्य मदें कहलाती है जैसे- स्वदेशी एवं विदेशी कम्पनियों द्वारा दी गई सेवाएँ- बीमा, जहाजरानी, बैंकिंग और भाड़ा आदि इसके अतिरिक्त स्कालरशिप, ब्याज, लाभ, रायल्टी राजनयिकों, मिलेट्री कर्मचारियों और दूतावासों एवं वैज्ञानिकों पर व्यय इत्यादि। अदृश्य मदों को बन्दरगाह पर रिकार्ड नहीं किया जाता है।
- **प्रत्यक्ष विदेशी विनियोग:** प्रत्यक्ष विदेशी विनियोग से अभिप्राय किसी विदेशी नागरिक या संगठन द्वारा दूसरे देश में अपनी पूँजी द्वारा उत्पादन इकाई की स्थापना करने या खरीदने से है। ऐसे विनियोजन पर विनियोजक का स्वामित्व प्रबन्ध में नियंत्रण रहता है।

13.11 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. 2008-09 में भारतीय विदेशी व्यापार में भुगतान-शेष के विविध अंग क्या थे ?
2. निर्यात प्रेरक आयात नीति किसे कहते हैं ?
3. आयात-प्रतिस्थापन क्या होता है ?
4. 2002-07 की अवधि में क्या नीति संदर्भी पिरवर्तन आए ?
5. विशेष व्यापारिक प्रोत्साहन क्या है ?

13.12 संदर्भ ग्रन्थ

- दत्त गौरव एवं अश्विनी महाजन, भारतीय अर्थव्यवस्था, एस.चन्द एण्ड कम्पनी, रामनगर, नई दिल्ली, 48th Edition.
- मिश्रा, एस.के. एवं वी.के. पुरी; प्राब्लम्स ऑफ इण्डियन इकॉनोमी, हिमालय पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 2010-2011
- सरकार, जयगंता; इण्डियन इकानोमी: पालिसीज एण्ड प्रैक्टिसेज, प्रथम संस्करण (2007), पीयरसन एजुकेशन, 2007
- धीगड़ा, आई.सी, इण्डियन इकॉनोमी, सुल्तान चन्द एण्ड सन्स, नई दिल्ली, 2009
- प्रकाश, बी, इण्डियन इकॉनोमी सिन्स 1991, इकानोमिक रिफौर्मस् एण्ड परफौर्मेन्सेज, प्रथम संस्करण, पियरसन एजूकेशन, 2009
- दत्त रुद्र एण्ड के.पी.एम. सुन्दरम, इण्डियन इकॉनोमी, 60 वां संस्करण, एस. चंद एण्ड कम्पनी, रामनगर, नई दिल्ली, 2009.

13.13 निबन्धात्मक प्रश्न

1. प्रतिकूल भुगतान संतुलन को दूर करने के लिए किस उपाय का प्रयोग किया जाता है?
2. भुगतान संतुलन में असाम्य के प्रकार एवं कारणों की व्याख्या कीजिए।

इकाई- 14 भारत की व्यापार-नीति
(TRADE POLICY OF INDIA)

14.1 प्रस्तावना
14.2 उद्देश्य
14.3 नीति से आशय
- 14.3.1 विकास प्रेरक आयातों की प्राथमिकता
- 14.3.2 निर्यात-प्रेरक आयात
- 14.3.3 पूँजी सम्वर्धक आयात
- 14.3.4 आयात प्रतिस्थाय के उद्देश्य
- 14.3.5 निर्यात अर्जित आयात की अनुमति

14.4 दुर्लभ मुद्रा क्षेत्रों को निर्यात
- 14.4.1 निर्यात संरचना में विविधीकरण
- 14.4.2 निर्यात-संघटकों का आयात
- 14.4.3 आयात पात्रता परियोजना
- 14.4.4 स्वदेशी कर मुक्ति द्वारा निर्यातवर्धन
- 14.4.5 सार्वजनिक क्षेत्र का आयात-एकाधिकार
- 14.4.6 100 प्रतिशत निर्यात-उन्मुख उत्पादन क्षेत्रों में प्रोत्साहन
- 14.4.7 निर्बाध-व्यापार व विशेष आयात अनुज्ञा
- 14.4.8 स्वतन्त्र निर्यात-आयात प्रणाली (2006-07)
- 14.4.9 एक्सनपोर्ट हाउस स्कीम (2002-07)
- 14.4.10 विशेष आर्थिक क्षेत्र (SEZ) व बैंकों का विदेशी विस्तार

14.5 अवरचना विकास में 100 प्रतिशत FDI सहभाजन
14.6 सारांश
14.7 शब्दावली
14.8 संदर्भ ग्रन्थ
14.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
14.10 निबन्धात्मक प्रश्न

14.1 प्रस्तावना

किसी भी देश के, विश्व के अन्य देशों से, जो आर्थिक सम्बन्ध होते हैं, उन्हें व्यापार के क्षेत्रों, व्यापार के प्रकार, आयात-निर्यात संरचना, अपनाए गए प्रोत्साहन या हतोत्साहन यंत्रों के माध्यम से समझा जा सकता है। सरकार के नीति विकल्पों में चयन, आर्थिक विकास के सोपान और राष्ट्र की आकांक्षाओं से ही होता है। हर देश की व्यापार नीति उसके साधनों, उनके उपयोग और विकास की इच्छा से ही प्रशस्त होती है। सभी देश व्यापारगत और भुगतान संतुलित रखने का यत्न करते हैं किन्तु विविध आंतरिक और बाह्य बाध्यताओं से विवश यह देश सदैव अपने उद्देश्यों में सर्वथा सफल नहीं हो पाते। सरकारें विविध नियंत्रणों, अवरोधकों, प्रभावक कदमों द्वारा ही नहीं अपितु प्रोत्साहनों, दिशा-निर्देशों, हतोत्साही आदेशों से वांछित दिशा, मात्रा व गुण की ओर व्यापार को मोड़ सकते हैं। प्रत्यक्ष हस्तक्षेप भी सरकारें करती हैं और प्रलोभनों का उपयोग भी करती हैं। भारत की व्यापार नीति में आयात-निर्यात, दोनों ही, सम्मिलित हैं। दोनों क्षेत्रों में जो सरकार का दृष्टिकोण व सरकार द्वारा किए गए उपाय हैं, व्यापार नीति में समाहित होते हैं।

14.2 उद्देश्य

इस खण्ड में विद्यार्थी व्यापार नीति के आशय, नीति-संदर्भ, आयातों के मुख्य प्रकारों से अवगत होंगे। नीति-विषयक विविध शब्दों और उद्देश्यों को समझ सकेंगे। सरकार द्वारा किसी भी विषय में जो दृष्टिकोण और कदम उठाए जाते हैं, नीति के भाग होते हैं। इसलिए सरकार द्वारा उठाए गए कदमों के संक्षिप्त विवरण से भी विद्यार्थी परिचित हो सकेंगे और अपना एक दृष्टिकोण बना सकेंगे।

14.3 नीति से आशय

नीति सूक्ष्म रूप से सरकार द्वारा किसी दूरगामी उद्देश्य की सिद्धि के निमित्त उठाए गए उपायों और प्रयत्नों का क्रमबद्ध एवं समन्वित जाल है जिसकी प्राप्ति हेतु प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष हस्तक्षेप का उपयोग होता है और प्रोत्साहन या हतोत्साहन उपायों द्वारा उद्देश्य की प्राप्ति की जाती है। नीति के विविध सोपान व सीढ़ियां हो सकती हैं जो एक ही निश्चित उद्देश्य की ओर अग्रसर करती हैं। एक नीति अन्य कई नीतियों से समन्वित होती है। विकासनीति में कृषि, उद्योग, सेवा, खनिज, रोजगार, आय, अवरचनात्मक प्रगति की तरह कई नीतियां निहित हो सकती हैं। भारत की व्यापार नीति यह सुनिश्चित करती है कि आयात निर्यात, वैदेशिक ऋण, सहायता, अनुदान जैसे घटकों को कैसे संगठित करें कि भारत की आर्थिक प्रगति तेजी से हो। निवेशकों को कैसे और कितना सहभाजन प्रदान करें कि उनकी सहयोग लालसा बनी रहे। निर्यातों की लागत, स्पर्धात्मक दृष्टि से, प्रतियोगियों से कैसे कम की जाय और गुणात्मकता में कैसे अभिवृद्धि हो। हर नीति के साथ उपाय अवश्य विवरणित होते हैं और प्रेरकों, प्रलोभनों, प्रोत्साहनों आदि का ब्यौरा अवश्य होता है।

14.3.1 विकास-प्रेरक आयातों को प्राथमिकता- भारत की सबसे बड़ी आवश्यकता तीव्रतर आधुनिक आर्थिक विकास करना है। जिसका तात्पर्य है कि मूलभूत अवरचनाओं का विकास, कृषि का आधुनिकीकरण तथा खाद्य-पदार्थों व कच्चे माल की पूर्ति में आत्मनिर्भरता प्राप्त करना। तीव्र गति से औद्योगीकरण करना, पुरातन कौशल, पूँजीगत सज्जा का आधुनिकीकरण करना, सेवा क्षेत्र में द्रुततर विकास, खनिज व निर्माण क्षेत्रों में समानांतर विकास और देश में उत्पन्न निर्यात सामग्री बढ़ाकर आयातों के लिए दुर्लभ मुद्रा अर्जित करना भी भारत का ध्येय है। भारत अपने मानवीय साधनों को कौशलपूर्ण और शिक्षित करना चाहता है जिसके लिए आधुनिकतम जानकारी व कौशल की पूर्ति चाहिए। बिना सिंचाई और उर्वरकों के कृषि-क्रान्ति सम्भव नहीं है। नई टेक्नालॉजी, मशीनों व उपकरणों के बिना उद्योग नहीं बढ़ सकते।

बिना आद्युनिक प्रोद्योगिकी के तरक्की संभव नहीं है। बिना नव प्रवर्तकों, उपक्रम व पूँजी आयात के, विकास दर तेज नहीं हो सकती। बिना पूँजीगत सज्जाओं के विकास अवरुद्ध ही रहेगा। अतएव, भारत को

यातायात, प्रतिरक्षा, उड्डयन, कारखानों, आधुनिक शिक्षा-प्रशिक्षण साधनों के जुटाने के लिए आयात करने ही पड़े, जो क्रम आज भी जारी है। इन कारणों से भारत की निर्भरता, विकसित देशों और तेल-निर्यातक देशों पर बढ़ती जाती है। इन सब आयातों के लिए 'दुर्लभ मुद्राओं' के रुप में वैदेशिक विनिमय चाहिए। जो निर्यात-नीति से ही प्राप्त हो सकता है। 'आयात नीति' द्वारा ही भारत वैदेशिक मुद्रा का एकत्रीकरण कर सकता है। यदि ऐसे आयात प्रतिबन्धित हो जो मात्र विलासिता उत्प्रेरणन के साधन हैं। उन्हीं आयातों को प्रोत्साहित किया जाय जिनसे भारत की उत्पादक क्षमताएं बढ़ें और दक्षताएं बढ़ाई जा सके। भारत की कठिनाई यह है कि भारत के निर्यात, आयातों के सापेक्ष बहुत धीमे बढ़ते हैं और व्यापारिक घाटा बढ़ता जाता है।

14.3.2 निर्यात-प्ररक आयात:- निर्यात आबद्ध उद्योगों में कल-पुर्जों के लिए आयात करना मुडालियर कमेटी ने (1962) सही बताया था। पेट्रोलियम व परिवहन सामग्री, निर्यात- मूलक उद्योगों के कच्चेमाल, मशीनरी, स्पेयर पार्टस, संघटक सज्जा, जो निर्यातक उद्योग में लगती है, या वे रसायन, उर्वरक, कीटनाशक, जो निर्यात: उन्मुख फसलों में लगते हैं इत्यादि, आयात की प्राथमिकता पाते हैं। 1975-76 में भारत सरकार ने इसे नीति बना लिया और निर्यात उद्योगों की क्षमता-उपयोगिता बढ़ाने के लिए आयातों की संस्तुति की। इसे परिपोषक आयात कहा गया। इसे स्वचालित आयात लाइसेंस प्रणाली में रखा गया। निर्यातकों को 'आयात का अधिकार अर्जन' (Import Entitlement) योजना का लाभ दिया। 'नकद सहायता' एवं कर की माफी जैसे उपाय निर्यात बढ़ाने के लिए किए गए। 1992-97 में पी. चिदम्बरम ने 'निर्यात-दायित्व' के अन्तर्गत आयात उदारीकरण किया। निजी क्षेत्र की आयात स्वतंत्रता बढ़ा दी गई। 100 प्रतिशत निर्यातक इकाइयों में आयात-स्वातंत्र्य में वृद्धि कर दी गई और लाइसेंस प्रणाली समाप्त की गई। 894 मदों में निर्बाध आयात अधिकार दे दिया। 2002-07 में मुरासोली मारन ने मात्रात्मक प्रतिबंध, आयातों से हटा दिए। विशेष आर्थिक क्षेत्र (SEZ) कृषि पदार्थ निर्यात क्षेत्र बनाए गए। टेक्नालॉजी पार्क बनाए गए जो निर्यात-केन्द्रित थे। निर्यात केन्द्रित उत्पादों में ईंधन लागत पर 7 प्रतिशत की छूट गई। निर्यात सम्वर्धन (Export Promotion Zone) क्षेत्र बनाए हैं। गेहूं निर्यात के लिए कदम उठाए जा रहे हैं। आयात शुल्क कटौती ने आभूषण-हीरे आदि का आशातीत निर्यात नहीं बढ़ाया। 2004-09 के दौरान निर्यात विकास केन्द्र बने हैं जो कृषि, हस्तशिल्प, हाथकरघा, रत्न-आभूषण, चमड़ा, फुटवियर, फूल, सब्जी में निर्यात योग्य सामग्री तैयार करेंगे। शुल्क-मुक्त कर्जों की व्यवस्था की गई है जो अर्जित विदेशी मुद्रा के 10 प्रतिशत तक होगा। मुक्त व्यापार एवं भण्डारण क्षेत्र बने हैं जहां अवरचनाएं स्थापित हैं। सेवा निर्यातों की परिषद् बनी है। निर्यात होने वाले उत्पादों की अच्छी पैदाइश के लिए आयात करने की अनुमति है।

14.3.3 राष्ट्रीय पूँजीगत निवेश में सहायक आयात - भारत का पिछड़ापन कई उत्पादन क्षेत्रों में इसलिए है कि उनमें पूँजीगत सज्जा, मशीनें, उपकरण, आधुनिक यंत्र व औजार नहीं हैं। यदि उत्पादन के निर्यात किए जाने की सम्भावना हो तो ऐसे क्षेत्रों में पूँजीगत सज्जा का विदेश से आयात राष्ट्रीय हित में होगा। भारत में आयात-नीति में यह प्रावधान है। इससे उत्पादन क्षेत्र आधुनिकीकृत हो रहे हैं जिसमें नई प्राविधि का उपयोग बढ़ा है।

14.3.4 आयात प्रतिस्थापन के उद्योगों में आयात- कई ऐसे व्यवसाय, उद्योग और शिल्प हैं जिनकी वस्तुएं वर्तमान में आयात होने वाले पदार्थों, वस्तुओं, सेवाओं का सीधे प्रतिस्थापन कर सकते हैं और ऐसा आयात रुक जाने से वैदेशिक मुद्रा की बचत होती है, यदि थोड़ा बहुत आयात ऐसे व्यवसायों-उत्पादों के लिए करना पड़े। दीर्घकाल में निश्चय ही यह लाभकारी होता है।

14.3.5 निर्यात अर्जित आयात की अनुमति- भारतीय वैदेशिक व्यापार नीति में यह प्रावधान है कि यदि कोई उद्योग निर्यात करके दुर्लभ मुद्रा अर्जित करता है तो उसे अपने निर्यात-मूल्य के एक भाग (10 प्रतिशत) को अपने लिए आवश्यक विदेशी सामग्री, उपकरण, मशीनें स्वयं ही आयात करले की अनुमति है।

14.4 दुर्लभ मुद्रा क्षेत्रों को निर्यात

भारतीय व्यापार नीति में यह ध्यान रखा गया है कि निर्यात का अधिकांश भाग अमरीका, यूरोप, तेल निर्यातकों, ओसीनियां देशों में हो क्योंकि हमें डॉलर, पौण्ड, यूरो, दीनार की ज्यादा जरूरत है। हमें तेल मगांना ही है और हमारे निर्यात इन देशों में बढ़ने चाहिए ताकि हम ज्यादा आयात कर सकें। 1987-88 में इन देशों में भारत के निर्यात मात्र 6 प्रतिशत थे जो 2008-9 में बढ़ कर 21 प्रतिशत हुए हैं और इनसे आयात 32 प्रतिशत है। ओसीनियां (जापान, आस्ट्रेलिया) को हमारे निर्यात 1970-71 में 15 प्रतिशत थे जो 2008-09 में 6.3 प्रतिशत है। जिसमें चीन और हांगकांग ज्यादा महत्वपूर्ण है। तेल निर्यातक देशों में भारत के 32 प्रतिशत आयात केन्द्रित हैं। अरब अमीरात, सउदी अरब और इण्डोनेशिया इनमें ज्यादा महत्व के हैं।

14.4.1 निर्यात संरचना में विविधीकरण - भारत परम्परागत निर्यातों के लिए जाना जाता रहा है। इनमें कृषिगत पदार्थ और कृषि आधारित निर्मित माल महत्वपूर्ण हैं। अब खाद्य-पदार्थों, तम्बाकू में कमी आ गई है। चाय में निर्यात तेजी से नहीं बढ़ रहा है। मछली, मछली उत्पाद, काजू, कॉफी, चावल में वृद्धि है। सब्जियों, फलों, फूलों में निर्यात बढ़ा है। अब इंजीनियरिंग, रसायन, सिले कपड़े, मशीने, पुर्जे, परिवहन, निर्मित धातुएं, हस्तशिल्प उत्पाद, इत्यादि महत्व के हो गए। अब निर्यातों में यह 70 फीसदी है। इलैक्ट्रोनिक्स और सॉफ्टवेयर में निर्यात तेजी से बढ़ते जा रहे हैं। कच्चे लोहे, इस्पात आदि का निर्यात बढ़ा है। चाय, चमड़े और चमड़े के उत्पाद ज्यादा निर्यात हो रहे हैं। सूत, पटसन, चीनी, फल, खाद्य-पदार्थ में मामूली वृद्धि जारी है।

14.4.2 निर्यात संघटकों का आयात - निर्यातों में जो चीजें व्यय होती हैं यदि उनको आयात न किया जाय तो निर्यात की पूर्ति संभव नहीं पाएगी। भारत की आयात नीति में ऐसे उत्पादों की पहचान की गई है और उन्हें आयात की इजाजत दी जाती है ताकि निर्यात निर्बाध रूप से चलते रहें।

14.4.3 आयात पात्रता परियोजन- निर्यात प्रेरक आयात नीति के अंतर्गत कई नई योजनाएं आई। इसमें आयात अधिकार योजना भी थी। इसके अधीन मशीनरी का आयात सुगम किया गया। इसमें निर्यात उत्पादक आयात प्राधिकार योजना के अधीन सारी निर्यात से प्राप्त आय को अपने उद्योग के आधुनिकीकरण अनुसंधान एवं विकास के लिए लगा सकता है। इसमें निर्यातजन्य आय को आयात पर व्यय करने का लाइसेंस दिया जाता है। यह जर्मनी, जापान में बहुत सफल रही थी। भारत में भी यह सफल रही है।

14.4.4 कर मुक्ति प्रलोभन से निर्यात-सम्वर्धन- मुदालियर समिति (1962) ने यह संस्तुति दी थी कि निर्यातक को उनकी निर्यातजन्य आय पर आयकर से मुक्ति दी जाय। यह योजना अत्यंत लाभकारी हो सकती है।

14.4.5 सार्वजनिक क्षेत्र का आयात-एकाधिकार - आयातों पर यथोचित नियंत्रण रखने और वैदेशिक मुद्रा के दुरुपयोग व फिजूल खर्ची घटाने के लिए यह सुझाव भी दिया गया है कि आयात का एकाधिकार सरकार के हाथ केन्द्रित होना चाहिए। ताकि सार्वजनिक क्षेत्र में ही परमावश्यक मशीनें और पूँजीगत सज्जा मंगाई जाय। यह सुझाव आयात नीति में सम्मिलित नहीं किया गया क्योंकि उदारीकरण के सापेक्ष यह निन्दनीय होता।

14.4.6 100 प्रतिशत निर्यात उन्मुख उत्पादन क्षेत्रों में प्रोत्साहन -यह नीतिगत निर्णय हुआ है कि ऐसे सारे उपक्रम, उद्योग इकाइयां अपनी अर्जित विनिमय (दुर्लभ मुद्रा) को तरक्की के लिए आयात पर व्यय कर सकते हैं। वे आयात के लिए स्वतंत्र हैं।

14.4.7 निर्बाध-व्यापार व विशेष आयात अनुज्ञा -1999-2000 की निर्यात नीति में 894 मदों को आयात की निर्बाध सूची में रखा और साथ ही 414 मदों को विशेष आयात अनुज्ञा के अधीन कर दिया। इससे आयात का उदारीकरण प्रबल हो गया। 1999 में ही मुक्त व्यापार क्षेत्र योजना लागू कर दी गई। निर्यात प्रोन्नति क्षेत्रों को निर्बाध व्यापार क्षेत्र बनाया गया।

14.4.8 स्वतंत्र निर्यात-आयात प्रणाली:- 2002-07 की नीति ने मूल-चूल परिवर्तन और नया दृष्टिकोण प्रस्तुत किया। क्योंकि 1992-2002 के बीच निर्यात में 18.5 प्रतिशत और आयातों में 19.1 प्रतिशत वृद्धि रही। भारत के

निर्यात क्षेत्र को शुल्क-मुक्ति दी गई। मात्रात्मक प्रतिबन्ध हटाए गए। अफ्रीकी बाजारों में निर्यात-वृद्धि के प्रयास हुए। भारतीय बैंकों की शाखाएं विदेशी बाजार में खुलीं ताकि निर्यातक ऋण-सुविधा पा सकें, वह भी अन्तर्राष्ट्रीय ब्याज-दर पर प्राप्त हों। कृषि उत्पादों के निर्यात वृद्धि को भी प्रोत्साहन दिया गया। प्रौद्योगिकी पार्क योजना प्रभावी बनाई गई। निर्यातों में ईंधन लागत पर अनुदान भी दिया गया।

14.4.9 2002-07 की एक्सपोर्ट हाउस स्कीम- निर्यातकों को 'निर्यात-सितारा' पद से सम्मानित किया गया और सुविधाएं दी गईं। यह घराने 'एक सितारा' से 'पांच सितारा' तक हैं, जो 15 करोड़ रु. के औसत (3 वर्ष) निर्यात (वार्षिक) स्तर के होंगे। यह एक प्रोत्साहन है।

14.4.10 विशेष आर्थिक क्षेत्र (SEZ) सीमांकन एवं 'टारगेट प्लस' योजना- इन विशेष क्षेत्रों का सीमांकन हुआ और इनमें निर्यातकों को विशेष लाभ प्रदान करने की योजना आई। इसी प्रकार कृषि-निर्यात क्षेत्र भी इंगित हुए। कुटीर, लघु, शिल्प आदि व आभूषणों के लिए विशेष क्षेत्र बनाए गए ताकि इन्हें निर्यात की विशेष सुविधा मिले। चीन में भी यह विधि कार्यरत है। इन क्षेत्रों में अवरचनाएं विकसित की गई हैं।

14.5 अवरचना निवेश में 100 प्रतिशत विदेशी पूँजी निवेश

यह अत्यन्त उपयोगी प्रयास है कि सड़कों, पुलों, शक्ति आदि अवरचनाओं के सुदृढ़ विकास और आधुनिकीकरण में विदेशी पूँजी को शत-प्रतिशत सहभाजन के अवसर प्रदान किए गए हैं ताकि निर्यात लागतें कम हो जाएं और यातायात, ढुलान आदि सस्ता हो जाय।

अभ्यास प्रश्न

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. 'नीति' कौन निर्धारित करता है?

अ. नीति निर्धारक सरकार करती है।
आ. नीति व्यक्ति बनाते हैं।
इ. नीति फर्में व उद्योग बनाते हैं।
ई. 'नीति' प्रत्येक निर्णायक शक्ति की होती है।

2. 'नीति' और 'निर्णय' में क्या सम्बन्ध है?

अ. नीति, निर्णय करने की दिशा-दर्शन की द्योतक है।
आ. निर्णय बदलने से नीति बदलती है।
इ. नीति निर्दिष्ट पथ है जिसमें कई निर्णय होते हैं।
ई. इनमें कोई नहीं।

3. 'आयात नीति' व 'निर्यात नीति' में क्या सम्बन्ध होते हैं?

अ. आयात आवश्यकता प्रेरित होते हैं। निर्यात भुगतान की विवशता है।
आ. आयात से निर्यात की योग्यता बनती है।
इ. निर्यात से ही आयात शक्ति प्राप्त होती है।
ई. दोनों का निर्धारण व्यापार नीति करती है।

4. निर्यात-प्रेरक आयात क्या होते हैं?

अ. ऐसे आयात जिनसे निर्यात सामग्री-सज्जा बनती है।
आ. निर्यातों के कच्चेमाल आयात करना।
इ. वे निर्यात जिनसे आयात जरूरी हो जाए।

ई. उपरोक्त में कोई नहीं।

5. निर्यात वृद्धि से क्या तात्पर्य है?

अ. विदेश को भेजी गई चीजों- सेवाओं की संख्या में बढ़ोत्तरी।

आ. निर्यातित माल का मूल्य अधिक होना।

इ. बड़े आकार-डिजाइन की चीजें निर्यात करना।

ई. महंगी से महंगी वस्तु निर्यात करना।

6. 'व्यापार संरचना' में विविधीकरण क्या है?

अ. जिन वस्तुओं-सेवाओं में आयात-निर्यात होता था उनमें कई नई चीजें सम्मिलित करना।

आ. विविध मंडियों में व्यापार करना।

इ. विविध देशों में आयात-निर्यात विस्तार।

ई. अलग-अलग देशों में भिन्न-भिन्न मूल्य रखना।

7. स्वतंत्र आयात-निर्यात प्रणाली कब प्रस्तावित हुई?

अ. 1984-92

आ. 2002-07

इ. 2004-09

ई. इनमें से कोई नहीं।

8. 'आयात-पात्रता' परियोजना क्या होती है?

अ. यह WTO का प्रावधान है।

आ. इसमें निर्यात द्वारा कमाये गये विदेशी मुद्रा का एक भाग या पूरा भाग आयात के लिए प्रयोग कर सकते हैं।

इ. आयात करने के लिए लाइसेंस प्राप्त करना।

ई. उपरोक्त में कोई नहीं।

9. विशेष आर्थिक-क्षेत्र (SEZ) से क्या प्रयोजन है?

अ. देश भर में पृथक-पृथक उद्योगों के विशिष्टीकृत क्षेत्र विकसित करना जैसे लघु उद्योग, शिल्प आदि, आभूषण निर्यात क्षेत्र, कृषि निर्यात क्षेत्र आदि।

आ. जहां पर सरकारी निर्यातों की व्यवस्था होती है।

इ. यह अबरचना सज्जित उत्पादन केन्द्र होते हैं।

ई. उपरोक्त सभी।

10. क्या नीति, निवेश प्रेरक प्रलोभनों और प्रेरणाओं का ताना-बाना है?

अ. यह प्रेरणाओं-प्रलोभना का ताना-बाना है।

आ. यह मात्र सरकारी आदेश है या घोषणा है।

इ. नीति किसी कार्यक्रम का सैद्धान्तिक आधार है।

ई. नीति और योजना में कोई अन्तर नहीं है।

लघुत्तर प्रश्न

1. भारतीय व्यापार नीति के प्रमुख लक्षण क्या हैं ?
2. निर्यात-वृद्धिक आयात क्या होते हैं ?
3. आयात-प्रतिस्थापन नीति का अर्थ समझाइये ?
4. दुर्लभ-मुद्रा (Hard Currency) कौन सी है ?

5. उदारीकरण से निर्बाध-आयात क्यों होते हैं ?
6. भारत के व्यापारिक साझेदार देशों में मुख्य कौन हैं ?

14.6 सारांश

नीति से तात्पर्य सोचने का दृष्टिकोण और उसके क्रियान्वयन के लिए विविध प्रकार की योजनाएं और कदम, प्रोत्साहन, प्रलोभन का सूत्रजाल लागू करना। नीति में सुदीर्घकाल के व अल्पकाल के उप-उद्देश्य या अंग होते हैं। भारत को आत्मनिर्भर बनाना यदि उद्देश्य होता तो इसके लिए एक नीतिगत कदमों का क्रमबद्ध कार्यक्रम जरूर होगा। भारत की व्यापारिक नीति में आयात नीति, निर्यात नीति, दोनों ही, सम्मिलित होंगे। इन दोनों के उपांग भी होंगे। व्यापारिक नीति का स्वयं भी अन्य नीतियों से समन्वित होना आवश्यक है जैसे संरक्षण वादी औद्योगिक नीति या वैश्विक उदारीकरण नीति की पृष्ठभूमि में ही व्यापारिक नीति बनेगी।

14.7 शब्दावली

- **प्रत्यक्ष विदेशी विनियोग:** प्रत्यक्ष विदेशी विनियोग से अभिप्राय किसी विदेशी नागरिक या संगठन द्वारा दूसरे देश में अपनी पूँजी द्वारा उत्पादन इकाई की स्थापना करने या खरीदने से है। ऐसे विनियोजन पर विनियोजक का स्वामित्व प्रबन्ध में नियंत्रण रहता है।
- **पोर्टफोलियो विनियोग:** इसके अन्तर्गत विदेशी कम्पनियाँ भारतीय कम्पनियों के ऋण पत्र (बाण्ड) या अंश (शेयर) खरीदकर विनियोग करती है। इस प्रकार के विनियोग में विदेशी कम्पनियों का स्वामित्तव, प्रबन्ध व नियन्त्रण पर नहीं होता है। इनका स्वामित्व मात्र लाभांश व ब्याज प्राप्त करने तक सीमित होता है।
- **विशेष आहरण अधिकार (Special Drawing Right, SDRs):** SDRs को कागजी सोना भी कहते है। SDR लेखा की अन्तर्राष्ट्रीय इकाई है जो 'अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष विशेष आहरण में' विदेशी विनिमय रिजर्व परिसम्पत्ति के पूरक के रूप में रखी जाती है। कोष सामान्य लेखा मे सभी मुद्राओं के कोटों का मूल्य-निर्धारण SDR में किया जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय तरलता में वृद्धि करने के लिए 'कोष' द्वारा SDR का निर्माण 1969 में किया गया था।
- **व्यापार चक्र:** ऐसे अर्थिक उतार-चढ़ाव जिनकी प्रवृत्ति नियमित रूप से बार-बार (recurrent) उत्पन्न होने की होती है, 'व्यापार चक्र' (Trade Cycle/Business Cycle) कहलाते है। अमेरिकी अर्थशास्त्री बर्न्स तथा मिचेल के अनुसार प्रत्येक व्यापार चक्र में गर्त (Trough) तथा शिखर (Peak) की दो अवस्थाओं के अतिरिक्त दो अन्य अवस्थाएँ इन दोनों के बीच की होती है। ये अवस्थाएँ है (1) मंदी या संकुचन (Depression or Contraction) (2) पुनरूत्थान (Recovery or Revival) (3) समृद्धि, तेजी अथवा विस्तार (Prosperity, Boom or Expansion) तथा सुस्ती या प्रतिसार (Recession) ।

14.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. नीति निर्दिष्ट पथ है, जिसमें कई निर्णय होते हैं।
2. निर्यातों से ही आयात करने की शक्ति अर्जित होती है।
3. निर्यातों के कच्चेमाल की सामग्री आयात करना।
4. आयातों से अधिक मूल्य का निर्यात करना।
5. जिन चीजों का निर्यात होता है उनमें नई-नई वस्तुएं शामिल करना।
6. 2002-07 के लिए प्रस्तावित।

7. इसमें निर्यात द्वारा कमायी गयी विदेशी मुद्रा, आंशिक या पूरी राशि, आयात के लिए उपयोग में ले सकते हैं।
8. नीति, निवेश प्रेरक प्रलोभनों व प्रेरणाओं का ताना-बाना है जिससे उद्देश्यों की प्राप्ति की जाय।

14.9 संदर्भ ग्रन्थ

- दत्त गौरव एवं अश्विनी महाजन, भारतीय अर्थव्यवस्था, एस.चन्द एण्ड कम्पनी, रामनगर, नई दिल्ली, 48th Edition.
- मिश्रा, एस.के. एवं वी.के. पुरी; प्राब्लम्स ऑफ इण्डियन इकॉनोमी, हिमालय पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 2010-2011
- सरकार, जयगंता; इण्डियन इकानोमी: पालिसीज एण्ड प्रैक्टिसेज, प्रथम संस्करण (2007), पीयरसन एजुकेशन, 2007
- धीगड़ा, आई.सी, इण्डियन इकॉनोमी, सुल्तान चन्द एण्ड सन्स, नई दिल्ली, 2009
- प्रकाश, बी, इण्डियन इकॉनोमी सिन्स 1991, इकानोमिक रिफौर्मस् एण्ड परफौर्मेन्सेज, प्रथम संस्करण, पियरसन एजूकेशन, 2009
- दत्त रुद्र एण्ड के.पी.एम. सुन्दरम, इण्डियन इकॉनोमी, 60 वां संस्करण, एस. चंद एण्ड कम्पनी, रामनगर, नई दिल्ली, 2009

14.10 निबन्धात्मक प्रश्न

1. अवरचना विकास' का व्यापार नीति से सम्बन्ध क्या है ?
2. भारत के प्रमुख निर्यात क्या हैं ?

इकाई 15 - भारत का विदेशी व्यापार व विश्व व्यापार संगठन (FOREIGN TRADE OF INDIA AND WORLD TRADE ORGANIZATION)

15.1 प्रस्तावना
15.2 उद्देश्य
15.3 प्रशुल्क व व्यापार पर सामान्य समझौता
15.4 विश्व व्यापार की परिवर्तन दिशा
15.5 यूरुग्वे दौर में वार्ताएं एवं डंकल प्रस्ताव
15.6 भारतीय विदेशी व्यावपार की कठिनाइयां
15.7 युरुग्वे के दौर में समझौते का भारत पर प्रभाव
15.8 निवेश प्रोत्सावहनों व उपायों की निरर्थक विषयवस्तु
15.9 वस्त्र व सिले-सिलाए कपड़ों पर व्यापार प्रतिबंध
15.10 प्रतितुल्य प्रशुल्क द्वारा श्रम लागतों का समानीकरण
15.11 'पर्यावरण कण्डिका' द्वारा व्यापार विभेदीकरण
15.12 संरक्षण की छिपी हुई प्रवृत्ति
15.13 आयात उदारीकरण के लिए भारत पर दबाव
15.14 दोहा (2001) मंत्री स्तारीय दौर में पिछड़े देशों का दबाव
15.15 संधियों में अपेक्षित सावधानी
15.16 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
15.17 संदर्भ ग्रन्थ
15.18 सारांश
15.19 निबन्धात्मक प्रश्न

15.1 प्रस्तावना

विदेशी व्यापार आर्थिक प्रगति का आधार भी है और तद्जनित लाभ के लिए वितरण का यंत्र भी है। यदि वैश्विक-व्यापार को किन्हीं सर्वसम्मत व्यवस्थाओं के माध्यम से नियंत्रित व प्रतिबन्धित किया जाय तो आर्थिक प्रगति की आकांक्षित तीव्र दर प्राप्त की जा सकेगी। ऐसी सर्वसम्मत व्यवस्था को लाने में व्यापारी देशों के प्रतिनिधियों में 'व्यापार व प्रशुल्कों पर सामान्य समझौते' (G.A.T.T.) नामक व्यवस्था ने कई वार्ताओं के दौर हुए और कई विषयों में सर्वमान्य सहमति स्थापित की तथा विविध अन्य सम्बन्धित विषयों में विशद् विवेचन प्रारम्भ किया। 'विश्व-व्यापार संगठन' संस्था इसी पूर्व-प्रयास से उभर कर आई। भारत भी अन्य साझेदारों की भांति समझौतों से लाभान्वयन कर सका है। भारत के विदेशी व्यापार की परिस्थितियों, लक्षणों, मुख्य मुद्दों और चुनौतियों के संदर्भ में अन्तर्राष्ट्रीय समझौतों और विश्व व्यापार संगठन की उपादेयता का समझना आवश्यक है।

15.2 उद्देश्य

मानवीय आर्थिक समृद्धि में विश्व व्यापार का योगदान विश्व-व्यापी और सर्वाधिक महत्व का रहा है। इस खण्ड में विद्यार्थी विश्व व्यापार के विस्तार के प्रारम्भिक प्रयासों से अवगत होंगे तथा भारत की व्यापार वृद्धि में साझेदारी के स्तर को समझेंगे तथा भारत के वैदेशिक व्यापार के मुख्य लक्षणों तथा चुनौतियों का ज्ञान करेंगे। वैश्विक व्यापार क्षेत्र में मुख्य परिवर्तनों के परिचय के उपरान्त पाठक-गण 'गैट' के अन्तर्गत वार्ताओं तथा, विशेषतया, युरुग्वे दौर की उपलब्धियों से विदित होंगे। तदुपरान्त विश्व-व्यापार संगठन के उद्देश्यों, नीतियों, नियमावलियों और प्रस्तावित विकास पथ से परिचय अर्जित करेंगे। अन्तत: विश्व व्यापार संगठन की व्यवस्थाओं का भारतीय विदेशी व्यापार तथा आन्तरिक आर्थिक प्रगति पर सम्भावित प्रभावों का प्रारम्भिक ज्ञान अर्जितकर सकेंगे।

15.31प्रशुल्क व व्यापार पर सामान्य समझौता: (GATT)

इस संगठन की स्थापना 1948 में इस मान्यता पर हुई थी कि मानवीय समृद्धि एवं विकास की सर्वाधिक सम्भावना स्वतंत्र-व्यापार नीति के क्रियान्वयन से ही है। वस्तु बाजार में आर्थिक, व्यापारिक स्पर्धा ही उत्पादन लागत घटाने के उपायों को प्रेरित कर सकती है। अतएव, जहां और जिस स्तर पर भी 'स्वतंत्र स्पर्धा अवरोधक' व्यवस्था व नीतियां हैं उन्हें सर्वसम्मति से स्वतंत्र स्पर्धा के हित में हटाया जाय या अति-स्पल्प कर दिया जाय। न केवल प्रशुल्क समाप्त हों अपितु गैर-प्रशुल्क अवरोध भी हटाए जांय तथा सभी प्रकार के सब्सीडी (सहाय्य) समाप्त हों तो उत्पादन दक्षताएं बढ़ेंगी और लागतों में कमी होगी और सभी व्यापारिक साझेदार लाभान्वित होंगे। गैट के आठ वार्ता दौर इन्हीं उद्देश्यों के लिए कार्यरत रहे। आठवां दौर युरुग्वे-दौर था (1986) इन्हीं वार्ताओं ने विश्व व्यापार संगठन की स्थापना का मार्ग प्रशस्त किया।

15.4 विश्व व्यापार की परिवर्तन दिशा

1948 में गैट की स्थापना हुई। तब कृषि पदार्थों का योगदान विश्व व्यापार में लगभग 46 प्रतिशत था। अब 13 प्रतिशत से भी कम है। गुणात्मक बदलाव भी इंगित होता है जिसमें रोजगार स्तर का परिवर्तन प्रधान है। सेवा-क्षेत्र का योगदान बढ़ता जा रहा है। अमरीका मेंयह 2/3 हो गया है और श्रम शक्ति का 70 फीसदी सेवा क्षेत्र में केन्द्रित है। वस्तु क्षेत्र में जापान सरीखे देश बहुत आगे हो गए। विकासशील व पिछड़े देशों में व्यापार का केन्द्र-बिन्दु, कृषि पदार्थ, खनिज, मछली एवं प्राकृतिक संसाधन ही रह गए। इन क्षेत्रों के उत्पादों में प्रतियोगिता स्तर बहुत ज्यादा है जिस कारण पिछड़े देश से उपजे निर्यात बहुत कम आय अर्जित कर पाते हैं।

15.5 यूरुग्वे दौर की 14 विषयों में वार्ताएं और डंकल प्रस्ताव:

वार्ताओं में प्रशुल्क और गैर-प्रशुल्क उपाय, उष्ण कटिबन्धीय उत्पाद, प्राकृतिक संसाधन आधारित उत्पाद, कपड़ा, कृषि, गैट-नियम, बहुपक्षीय वार्ता संधियां, सब्सीडी स्तर, प्रतितुलन उपाय, विवाद-निर्णय

व्यवस्था, बौद्धिक सम्पत्ति, निवेश उपाय ताथा वार्ताओं की कार्य विधियां शामिल की गईं। 'राशि पतन' भी इसमें विचारार्थ आया। 4 वर्षों में भी वार्ताएं सम्पन्न न हो पाईं क्योंकि आपसी विरोध सुलझाए नहीं जा सके। इसलिए नया प्रस्ताव डंकेल-प्रस्ताव स्वरूप आया। भारत ने नये समझौते की सदस्यता 1994 में ग्रहण कर ली।इससे सरकार की स्वायत्तता में कुछ बाध्यताएं प्रविष्ट हो गई हैं और समझौते में हम विवश हैं। विश्व व्यापार संगठन का जन्म 1995 में हुआ।

15.6 भारतीय विदेशी व्यापार की कठिनाइयां

विश्व व्यापार में भारत का व्यापारिक हिस्सा कुल वैश्विक व्यापार मूल्य का मात्र 0.7 प्रतिशत होना इसका द्योतक है कि यह कमोवेश बाह्य बाजार से स्वतंत्र है। इसलिए वैश्विक बाजार की मंदी अथवा स्फीति का भारत पर मामूली प्रभाव होता है। पूँजी निर्माण व पूँजीगत सज्जाएं अत्यंत निम्न स्तर पर होने से भारत में आय वृद्धि दर भी जर्मनी, अमरीका, जापान, यू.के. इत्यादि के सापेक्ष बहुत कम है। भारत को प्राथमिक क्षेत्र के कच्चे उत्पादों का निर्यात करके विकासार्थ पूँजीगत सज्जाएं लेनी होती हैं। हाल के दशकों में भारतीय निर्यात में निर्मित वस्तुओं, सेवाओं और प्राविधिक कौशल क्षेत्र के उत्पादों का योगदान बढ़ा है। खनिज अब भी बहुत महत्व के निर्यात हैं। कच्चे माल आयात करके भारत अब निर्मित माल निर्यात करने लगा है। प्रोद्योगिकी आधारित वस्तुएं अब भारत के निर्यातों में है, भले ही मशीनों का आयात अब भी बड़ा भाग है। भारत ऋण लेकर विकासीय आयात करता है तो ऊंची ब्याज दर देनदारियों को द्विगुणित कर देती हैं। भारत का भुगतान संतुलन सदा प्रतिकूल रहता है। भारत विदशी सहायता प्राप्त करता है। किन्तु भारत की ग्राह्य क्षमता कम है। सहायता बंधनयुक्त होती है और प्राय: इसके उपयोग में जो प्राविधि लगती है उसका भारत में अभाव है। प्राविधि कोई देश हस्तांतरित नहीं करता है। फिर भी भारत परियोजनाबद्ध सहायता लेता है। कृषिगत या खनिजगत उत्पादों में प्रतिस्पर्धा से मूल्य गिर जाते हैं और आय सृजन बहुत धीमा होता है जबकि औद्योगिक देशों के निर्यातों के मूल्य तेजी से बढ़ते हैं। तद्रूरूप आय बढ़ती है। भारत संक्रमण दौर में है। एक ओर यह अमरीका, कनाड़ा, यूरोप को सॉफ्टवेयर निर्यात में अग्रणी है, दूसरी ओर यह गांवों के कुटीर व हस्तशिल्प उत्पादों के बाजार खोजता है। यह अब भी चावल, चाय, फल, मेवे, मसाले, मछली, चमड़ा, कच्चा लौह खनिज आदि निर्यात करता है। यह हवाई जहाज, पनडुब्बियां नहीं बेचता, किन्तु खगोलीय खोज के उपकरण-सेवाएं बेचता है। इस विकासीय सोपान से भारत आगे बढ़ेगा तो भारत की नई आवश्यकताएं होंगी और W.T.O. (विश्व व्यापार संगठन) का भारत पर प्रभाव स्पष्ट दीख पड़ेगा। भविष्य के दशकों में भारत और चीन विश्व व्यापार के विस्तार के मुख्य केन्द्र होंगे और भारत का विश्व व्यापार में हिस्सा 0.70 प्रतिशत से बढ़कर 2 प्रतिशत तक हो जायेगा।

15.7 यूरुग्वे-दौर के समझौते का भारत पर प्रभाव

यह समझौता भारत के निर्यात-वर्धन में बेहद सहायक होने की आशा सर्वथा भ्रांति सिद्ध हुई। भारत ने बुनियादी प्रशुल्क में 30 प्रतिशत कमी की घोषणा की जो कच्चे माल, अनुवर्ती वस्तुओं और पूँजीगत वस्तुओं के लिए थी। राशिपतन संबंधी कार्यवाही वापस ली गई है यदि यह डम्पिंग लाभ, व्यापार के 20 प्रतिशत से कम हो। जिन देशों की व्यापार आय विश्व व्यापार के 3.25 प्रतिशत से कम है, उन्हें सब्सिडी हटाने को बाध्य नहीं होना पड़ेगा। भारत यहां कुछ लाभ कर सकता है। भारत का भाग चावल में 8.4 प्रतिशत, चाय में 13.9 प्रतिशत, गरम मसाले में 10.3 प्रतिशत, कच्चे लोहे में 3.7 प्रतिशत, चर्म निर्यात में 3.2 प्रतिशत और हीरे-जवाहरात में 11.1 प्रतिशत है। भारत को यहां पर लाभ मिलेगा।

औषधि और कृषि क्षेत्र में यूरुग्वे सन्धि भारत विरोधी प्रभाव की थी। उत्पाद या उसकी प्रक्रिया दोनों में औद्योगिक पेटेण्ट होना आवश्यक होने से भारत को नुकसान पर रहना है। पेटेण्ट संरक्षण का दायरा, सूक्ष्म जीव, गैर जैविक, सूक्ष्म जैविक क्रियाओं व पौधों की किस्मों तक फैला होने से भारतीय घाटे पर रहेंगे। स्वदेश में उत्पादन

करने पर भी पेटेण्ट संरक्षण लागू रहना है। सरकार कोई कीमत नियंत्रण नहीं कर सकेगी। औषधि क्षेत्र में भारत ज्यादा हानि उठाता यदि यहां पेटेण्ट एक्ट 1970 न होता। 'पेटेण्ट' से मूल्य असाधारण रूप से बढ़ गए थे। भारत में 'उत्पाद-पेटेण्ट' नहीं, 'प्रक्रिया-पेटेण्ट' होते हैं। अधिकतर दवाएं जातिगत (generic) हो गई हैं। अत: नए पेटेण्ट के अधीन कम जीवन-रक्षक दवाएं होंगी। फिर भी मूल्य 87 प्रतिशत तक ज्यादा होंगे। औषधि मूल्य नियंत्रण कानून से मूल्य वृद्धि रोकी जाएगी। पौध जनकों व किसानों को बीज की छूट होगी। बाकी को रॉयल्टी देनी होगी। 1991 की संधि में पौध-जनक पेटेण्ट-स्वामी (Right holder) को रॉयल्टी चुकायेंगे। 1994 में पेटेण्ट संशोधन व बीज कानून बनाया गया जिसमें किसानों पर बंदिश लगी। वह बीज उगाकर बेच नहीं सकते। बीज कानून तो निरीक्षकों द्वारा सम्भावित व्यभिचार के उत्तेजक हैं। पुरानी परम्परा में संचित ज्ञान को अपना पेटेण्ट बनाना सरासर व्यभिचार है। अमेरिका में नीम, हल्दी, तुलसी में यही देखा गया। यह स्वाधिकार कानून (Patent law) तो नया उपनिवेशवाद है। दोहा अधिवेशन में यह सारे विरोध स्पष्ट प्रकट हो गए और अमरीका, यूरोपीय यूनियन आदि को इन विरोधों के आगे झुकना पड़ा।

15.8 निवेश प्रोत्साहनों व निवेश वृद्धि उपायों की निरर्थक विषयवस्तु

गैट-संधि के सदस्यों को बहुपक्षीय व्यापार संधि के अधीन किसी भी व्यक्ति, संगठन, कम्पनी या देश को विशेष शर्तें (कन्सेशन) देने से रोकती है। सभी के लिए समान शर्तें व दशाएं आश्वस्त करनी होंगी। कोई चयनात्मक भेद नहीं किया जा सकता। भारत संरचनात्मक समायोजन कार्यक्रम द्वारा प्रत्यक्ष विदेशी निवेश को आकर्षित करने के लिए कुछ रियायतें रखता है। वह अब त्यागने पड़ेंगे। पेप्सी कम्पनी को बढ़ावा देने का कारण भारत में यह था कि यह वैदेशिक दुर्लभ मुद्रा को निर्यात द्वारा कमाएगी और भारत के कच्चे माल उपयोग में लेगी और भारतीयों को रोजगार भी मिलेगा। यह सब निरर्थक सिद्ध हुआ। ऐसी शर्तें रखी ही नहीं जा सकती। यह कम्पनियां अब मात्र लाभार्जन कर रही हैं। यह कम्पनी कम्पनीअब 'दुर्लभ मुद्रा' कमाने के लिए बाध्य नहीं रहेगी।

15.9 वस्त्र व सिले-सिलाए कपड़ों के लिए व्यापार प्रतिबंध जारी

'बहुतंतु संधि' तो विभेदात्मक है और बहुपक्षीय व्यापार संधि के सरासर विरुद्ध है। इसमें पिछड़े देशों के निर्यात पर व्यापक प्रतिबंध व कोटा सिस्टम लागू किया गया है जिसमें भारत की हानि होनी ही है। यह 10 वर्षों के बाद हटाए जायेंगे। कई चरणों में यूरोपीय टैक्सटाइल बाजार सबके लिए समान रूप से खुलेगा। उदारीकरण मात्र कुछ चीजों पर ही लागू रहेगा। भारत ने फिर भी वस्त्र निर्यात के द्वारा लाभ कमाया है। यह क्रम जारी भी है।

15.10 प्रतितुल्य प्रशुल्क द्वारा श्रम-लागत को समकक्ष किया जाना

पिछड़े देश प्राय: श्रमिक शोषण, कम मजदूरी, ज्यादा घंटे काम और काम की घटिया दशाओं के जरिए लागत घटा लेते हैं। इसलिए उनके माल पर आयात प्रशुल्क लगाकर लागत को तुलनीय बनाया जाता है। यह प्रावधानों की व्यवस्था है। यह हर वर्ष बाल श्रम के निर्यातों का चिन्हीकरण करके किया जाना है। भारत के कालीन, हीरे-जवाहरात, कपड़े इत्यादि इस श्रेणी में आते हैं। इस तरह भारत को निर्यात प्रतिबंध व अवरोध झेलने पड़ेंगे। इन प्रावधानों का दोहा अधिवेशन में विरोध हुआ है। बाल-श्रम श्रम तथा कार्य की दशाओं को व्यापार-प्रतिबन्ध बनाना सरासर अन्यायपूर्ण है क्योंकि निर्धन देशों में श्रमिक ज्यादा मजदूरी नहीं पाते हैं।

15.11 पर्यावरण कण्डिका द्वारा व्यापार विभेदीकरण

इस संधि में यह प्रस्ताव है कि पिछड़े देशों ने पर्यावरण हानि करके मानव जाति के लिए खतरा पैदा किया है जिसे ठीक रखने में लागत आएगी। पिछड़े देशों के उत्पादों पर यदि एक पर्यावरण प्रति तुल्य शुल्क लगाया जाय तो मानव जाति का भला होगा। भले ही विकसित देश विविध तरीकों से पिछले 200 वर्षों से पर्यावरण दूषित करते रहे हैं। उन पर यह भार न होगा। इन प्रावधानों से पिछड़े देशों का औद्योगीकरण रोकने का प्रयास है। स्वतंत्र व्यापार का लाभ विकसित देश अपने लिए आरक्षित रखना चाहते हैं। पिछड़े देशों को नहीं देना चाहते हैं।

15.12 संरक्षण की छिपी हुई प्रवृत्ति

वास्तव में विकसित देश पिछड़े देशों के लिए व्यापारिक स्वतंत्रता और पारदर्शी वातावरण नहीं देना चाहते है। उनका नारा तो बहुपक्षीय व्यापार है किन्तु छिपी तौर पर वे अपनी कृषि और अन्य उत्पादों को संरक्षण में रखकर रोजगार व आय का ऊंचा स्तर बनाए रखना चाहते हैं। व्यापार के अधिकाधिक लाभों को विकसित देश हड़पना चाहते हैं। पिछड़े देशों का समस्त वर्ग इस दांव से अवगत है और विरोध करते रहे हैं। 1995 में W.T.O. जन्मा। आशा थी कि 2005 तक इससे 745 अरब अमरीकी डॉलर की वृद्धि वस्तु बाजार में होगी। किन्तु यह न हो सका। W.T.O. उपनिवेशवाद का नया अवतरण सा लगता है। विकसित देश पिछड़े देशों के निर्यात को अपने सुरक्षित बाजार में 'पहुंच' (access) प्रदान करने को तैयार नहीं है। फिर भी भारत को कृषि, मछली, पेय पदार्थों में लाभ मिलेगा। प्रशुल्क हटाने और व्यापार सुविधा तथा पारदर्शी नीति के मामलों में जापान, यूरोपीय यूनियन और अमेरिका में राय की समानता है। फ्रांस कृषि क्षेत्र के सब्सिडी व संरक्षण त्यागने में संकोच करता है। विकसित देशों की असहयोग व चालबाजी प्रवृत्ति से W.T.O. की प्रगति अवरुद्ध है और लाभ का अधिकतर भाग विकसित देश ले रहे हैं। भारत की निर्यातों की पहुंच सीमित बनी हुई है। चीन इन्हीं दशाओं में अपना व्यापार बहुत तेजी से बढ़ा रहा है।

15.13 आयात उदारीकरण के लिए भारत पर दबाव

W.T.O.भारत से मात्रात्मक अवरोध व प्रतिबन्ध, आयातों से हटाने का आग्रह करता है जबकि भारत पहले ही पूँजीगत, अनवर्ती वस्तुओं, कच्चेमाल के आयात से प्रतिबन्ध हटा चुका है, जो 40 प्रतिशत तक है। यह प्रतिबन्ध 25 प्रतिशत तक कम कर दिये हैं। इससे भारत में विदेशी वस्तुएं घोर स्पर्धा कर रही हैं। भारतीय फर्मों को ऑर्डरों में 5 हजार करोड़ रुपये की हानि हुई है। भारतीय माल को विदेशी मंडियों में प्रशुल्क, बिक्रीकर, चुंगी आदि देनी पड़ती है। भारत में आयात नि:शुल्क आ रहे हैं। भारतीय उद्योग कठिनाई में हो गए हैं। मशीनी औजार क्षेत्र में भारतीय माल पर व्यापारिक घाटा हो रहा है। भारत ने कोटा आयात एवं निर्यात लाइसेंस में 2700 कृषि पदार्थ, कपड़े और अन्य निर्मित माल रखे थे, जहां भारत की यू.एस., ऑस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड, स्विटजरलैण्ड, यूरोपीय यूनियन ने कनाडा के साथ विवाद समाधान मशीनरी में शिकायत की और भारत दोषी सिद्ध हुआ। पुरानी कारें भारत में दाखिल हो गई और यहां के ऑटोमोबाइल उद्योग को हानि हुई। चीनी माल ने भारतीय बाजार रौंद डाला। उपभोक्ता की पूँजीगत वस्तुओं में चीन द्वारा राशि पतन किया जा रहा है किन्तु शिकायत इसलिए नहीं हो सकती थी चीन की सूचनाएं हम नहीं पा सकते। चीन एक 'नौन मार्केट इकोनामी' है। उस पर W.T.O. कानून नहीं लग सकते। लघु, कुटीर, शिल्प आदि में प्रत्यक्ष स्पर्द्धा विदेशी वस्तुओं से हो रही है। इनमें भारतीय उद्योग का 33 प्रतिशत रोजगार है और यह कठिनाई में पड़ गया है। विदेशी कंपनियां भारत में पानी बेचकर धनार्जन कर रही हैं। जबकि पानी भारत का है। विदेशी कंपनियों का दबदबा बहुत बड़ गया है। यह नयी टैक्नोलॉजी लाने के बदले मुनाफा बनाने में केन्द्रित है। इन्हें सरकार रोक नहीं पाती। यूरोपीय न्यायालय भी विकासशील देशों से सौतिया व्यवहार करती है। यूरोपीय देश जापान तथा ऑस्ट्रेलिया कृषि को भारी सब्सिडी देते हैं। जिससे अन्न जैसे पदार्थों का मूल्य कम हो जाता है और भारतीय कृषि पदार्थ महंगे पड़ने लगे हैं। W.T.O. में विकसित देशों के दबाव से अब सरकारी खरीद से अन्न भण्डार रखने की नीति का भी विरोध है और यह विदेशी भारतीय कृषकों को निरीह, असहाय देखना चाहते हैं। भारत के व्यापारिक लाभ के पथ पर रोड़े अटकाये जा रहे हैं। जिससे भारत की प्रगति अवरुद्ध है।

15.14 दोहा (2001) के मंत्री स्तरीय वार्ता दौर में पिछड़े देशों का दबाव

जापान तथा विकासशील देशों के प्रतिनिधियों ने अमरीका के सारे W.T.O. विधान को असंगत सिद्ध कर दिया और अमरीकी अदालत ने फैसला यू.एस. के विरुद्ध दिया। यू.एस. में भारी संख्या में बाल मजदूर होने,

यू.एस. उद्योगों में इंडोनेशिया में 12 घंटे से अधिक काम कराने और विविध प्रकार के संरक्षण देने आदि बातें अमरीका के विरुद्ध सिद्ध हुई। डंपिंग विरोधी कानून के बारे में भी अमरीका का पक्ष न्यायालय से हार गया। (Berne) बर्ने कन्वेंशन के मामले में भी W.T.O. सिद्धान्तों की अवहेलना पाई गई। W.T.O. कई मामलों में विदेशी सरकारों की स्वायत्तता पर भी आघात करता पाया गया। यूरोपीय यूनियन और यू.एस. दोनों ने विकासशील देशों के द्वारा उठाये गये मुद्दों पर सहमति दे दी। औषधि क्षेत्र में अनिवार्यत: विकसित देशों से लाइसेंस लिये बगैर पिछड़े देश दवाएं बना सकते हैं, यदि उनके पास योग्यता व टैक्नोलॉजी हो। चीन, भारत, ब्राजील, दक्षिण एशिया, अफ्रीका देशों को इससे लाभ मिलेगा। सिंगापुर-मुद्दों अर्थात विनियोग, प्रतिस्पर्धा, श्रम-मानक व पर्यावरण वाले प्रश्नों पर पुन: विचारोपरान्त मतैक्य करना ही पड़ेगा। जहां विकासशील देशों को तुलनात्मक लागत का लाभ है उनके क्षेत्रों में इनके उत्पादों के लिए, यूरोपीय मंडियां खोलनी ही पड़ेंगी। जहां यू.एस. की लागत ज्यादा है उनको यू.एस., डंपिंग (राशि पतन) कहकर, 'डंपिंग विरोधी यू.एस. कानून' लगाता है। भारतीय स्टील व लोहा ऐसे क्षेत्र हैं। अब अमरीका इसमें ढील दे रहा है। 'ग्रीन हाउस बॉक्स' में W.T.O. कृषि क्षेत्र में प्रत्यक्ष- अप्रत्यक्ष सहायता, सब्सिडी, मुआवजा, विकास सहायता आदि को रखता है। यह सबसे ज्यादा यू.एस. व यूरोप में है। इस कारण लागत असमान हुई हैं। यह देश इनको कम करने को राजी हो गए हैं। पिछड़े देशों से पृथक विभेदक व्यवहार को सिद्धान्त: निन्दनीय माना गया है। क्योंकि इसके बिना वह स्पर्धा में नहीं रह पायेंगे। विशेष सम्वेदनशील उत्पादों में स्वतंत्र आयात पर रोक करना अब ठीक माना गया है। इससे भारत को लाभ होगा।

यह प्रश्न खाद्य सुरक्षा, आजीविका सुरक्षा, ग्राम्य विकास पर पृथक अपवाद बनाने के हैं। भारत की जैविक विविधता की रक्षा फसलों के उगाने से सम्बद्ध है और भारत में 250 से अधिक प्रकार की फसलें हैं। यह 'विशेष उत्पाद' माने जाने चाहिए। अमरीका अपने रुई उत्पादकों को प्रति किसान 148000 डॉलर देता है। यह अफ्रीका में क्योंकर अनुचित हो जाएगा। इससे विकसित देशों की निरर्थक दलीलों का ज्ञान होता है।

15.15 संधियों में अपेक्षित सावधानी

भारत के वैदेशिक व्यापार को चुनौती, निर्यात सम्वर्धन की है। वह पूर्णतया निर्मित माल का, पूँजीगत उत्पादन और तकनीकी कौशल सेवाओं का निर्यातक रहना चाहता है किन्तु विकसित देश भारत के माल के लिए अपने बाजार बंद रखना चाहते हैं और अपने उत्पादों के लिए भारतीय बाजार को निर्बाध प्रशुल्क विहीन और उदार आयात नीति के अधीन रखना चाहते हैं। विश्व व्यापार संगठन धनी व विकसित देशों के हितों की रक्षा के लिए ही कार्यरत है। इसके लिए विविध प्रावधान बनाकर W.T.O. संधियों में दाखिल करता है। W.T.O. का चरित्र राजनैतिक है। उदारवाद के भ्रम में भारत ने अपने देश में आयात पर से प्रशुल्क व मात्रात्मक आयात अवरोध समाप्त किए हैं किन्तु विकसित देश अपनी मण्डी में उदारता बरतना नहीं चाहते। उदार आयात नीति ने भारत को हानि पहुंचाई है। यहां 'डम्पिंग' भी बढ़ी है और स्वदेशी उत्पादन इकाइयां हानि उठा रही हैं। निर्यात आशातीत बढ़ नहीं रहे हैं। ऐसी दशा में भारत को अत्यंत सावधानी से अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियों को स्वीकारना चाहिए ताकि हानि से बचा जाय और विश्व बाजार का अधिकाधिक लाभ उठाया जा सके। उदारीकरण नीति को धीरे-धीरे चलना चाहिए। एकाएक परिवर्तन हितकारी न होगा। F.D.I. को भी सर्तक संदेह से देखना उचित होगा। विदेशी निवेश के भ्रम में भारत कहीं अपनी आर्थिक स्थिरता और स्वतंत्रता ही न खो बैठे।

15.16 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. भारत का वैदेशिक व्यापार वैश्विक व्यापार में

अ. 10 प्रतिशत है।

ब. 1 प्रतिशत से कम है।

स. 3 प्रतिशत है।

द. उपरोक्त में कोई नहीं।

2. भारत मुख्यतया आयात करता है

अ. चाय, कॉफी, अनाज, चीनी आदि।

ब. मशीनें, पूँजीगत वस्तु, कच्चेमाल, रसायन, तेल आदि।

स. उपभोक्ता की वस्तुएं, चमड़े की चीजें, कोयला, स्टील आदि।

द. खनिज लौह, अभ्रक, मैगनीज, जस्ता, आभूषण आदि।

3. भारत के मुख्य निर्यात हैं

अ. प्रतिरक्षा की आधुनिक सज्जा और हथियार, जहाज आदि।

ब. कृषि पदार्थ, खनिज, इंजीनियरिंग, सॉफ्टवेयर, पूँजीगत उपकरण, मछली, मसाले, फल, आभूषण, वस्त्र आदि।

स. पेट्रोल, पेट्रोल पदार्थ, उर्वरक, परिवहन के वाहन, पानी के जहाज, पनडुब्बियां आदि।

द. कच्ची-अद्धनिर्मित वस्तुएं, अनाज, दाल, खाद्य तेल, सोना, चांदी आदि।

4. भारत के मुख्य व्यापारिक साझेदार हैं

अ. लैटिन अमरीकी देश, रूस, अफ्रीकी देश, निकारागुआ आदि।

ब. खनिज तेल, उर्वरक उत्पादक देश, यूरोपीय यूनियन, अमरीका, जापान, चीन, इण्डोनेशिया, सिंगापुर, मारीशियस आदि।

स. आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड, श्रीलंका, पाकिस्तान, मियान्मार आदि।

द. कनाडा, बांग्लादेश, वियतनाम, कोरिया आदि।

5. विश्व व्यापार संगठन (W.T.O.) का क्या उद्देश्य है ?

अ. विश्व व्यापार विस्तार के लिए द्विपक्षीय व्यापार में अभिवृद्धि।

ब. बहुपक्षीय व्यापार को लोक-व्याप्त करना।

स. लोकतंत्रीय देशों में व्यापारिक सहयोग प्रोत्साहित करना।

द. अन्तर्राष्ट्रीय पूँजी निवेश पर नियंत्रण करना।

6. विश्व व्यापार संगठन का विधान

अ. विकसित-विकासशील देशों के प्रति विभेदकारी है।

ब. व्यापारिक मुद्दों में तर्क व न्यायपूर्ण नीति रखता है।

स. स्थिति अनुकूल परिवर्तन के लिए गुंजाइस रखता है।

द. उपनिवेशवादी दृष्टिकोण वाला है।

7. विश्व व्यापार संगठन में सामाजिक श्रम सम्बन्धी और पर्यावरण के मुद्दों का विरोध क्यों है ?

अ. यह व्यापार से सीधा सम्बन्ध नहीं रखते।

ब. यह पिछड़े विकासशील देशों में ही नहीं सब में है किन्तु पिछड़े देशों से ही इन्हें जोड़ा जा रहा है।

स. इनके मान्य हो जाने से विकासशील देशों के निर्यात धनी देशों में अस्वीकृत हो जायेंगे या उन पर प्रशुल्क लगेंगे।

द. उपरोक्त में कोई नहीं।

8. क्या W.T.O. भारतीय विदेशी व्यापर में लाभदायक रहा है ?

अ. वृद्धिजनक रहा है।

ब. हानिजनक व लाभजनक दोनों रहा है।

स. यह भविष्य में निर्णित होगा।

द. इसके आंतरिक नीतियों पर प्रभाव घातक रहे।

लघुत्तर प्रश्न

1. भारत के विदेशी व्यापार में W.T.O. का क्या योगदान संभव है ?
2. 'ट्रिप्स' व 'ट्रिम्स' से क्या तात्पर्य है ?
3. परम्परागत ज्ञान को पेटेण्ट कराना अनैतिक क्यों है ?
4. W.T.O. के नियमों का ठीक अनुपालन न करके इनकी अवहेलना विकसित देश क्यों करते हैं ?

उत्तर

1. भारत का व्यापार वैश्विक व्यापार का भाग एक प्रतिशत से कम है।
2. मशीनें, पूँजीगत वस्तु, कच्चे माल, रसायन, खनिज तेल।
3. कृषि पदार्थ, खनिज, इंजीनियरिंग, सॉफ्टवेयर उपकरण, आभूषण, वस्त्र, मछली, आदि।
4. खनिज तेल उत्पादक देश, यूरोपीय यूनियन, अमरीका, जापान, चीन, सिंगापुर आदि।
5. बहुपक्षीय व्यापार को लोक व्याप्त बनाना।
6. विकसित तथा विकासशील देशों के प्रति विभेदकारी है।
7. सामाजिक श्रम संदर्भों व पर्यावरण मुद्दे यदि मान्य हुए तो विकासशील देशों के निर्यातों पर विकसित देशों में प्रशुल्क लगाना वैधानिक हो जाएगा।
8. वृद्धिजनक रहा है।

15.17 सारांश

विदेशी व्यापार की वृद्धि से मानव जाति की समृद्धि का पथ प्रशस्त होता है और इससे व्यापारिक लाभ का वितरण भी होता है। प्रगति की आकांक्षित दर प्राप्ति में व्यापार क्षेत्र का समुचित प्रबंधन व व्यवस्था स्थापित होने से सभी को लाभ होगा। विश्व भर के आयातक-निर्यातक, विविध व्यापारिक समझौतों को, गैट के अधीन संयोजित वार्ताओं से करते रहे। 1948 के बाद इन विषयों पर चिंतन होता रहा। व्यापार पर सभी नियंत्रण व अवरोध समाप्त करके स्वतंत्र बहुपक्षीय व्यापार समझैते करना गैट का उद्देश्य था। आठवें वार्ता दौर में सर्वसम्मत निष्कर्ष निकाले गए। युरुग्वे दौर में 14 विषय-वार्ताएं होनी थी तब 'डंकल प्रस्ताव' आया जो आज के विश्व व्यापार संगठन का आधार बना।

विश्व व्यापार संगठर (1995) की स्थापना से व्यापार के संचालन के नियम व कार्य सम्पादन विधान बना। इसमें व्यापार संबंधी बौद्धिक सम्पत्ति, व्यापार सम्बन्धी निवेश के उपाय तथा विविध व्यापारिक पेटेण्टों की व्यवस्था व शिकायतों के निपटारे की यांत्रिकी डम्पिंग (राशिपतन क्रिया) पर अंकुश तथा अन्यान्य व्यापारिक मामलों में नियम बनाए गए। विकसित देशों के सापेक्ष विकासशील पिछड़े अर्द्धविकसित देशों की आर्थिक स्थिति दृढ़ करने के भी उपाय सुझाए गए। इस विश्व व्यापार संगठन की सफलता, विकसित देशों के सहज सहयोग पर निर्भर है। पिछड़े देश किसी संगठित सौदेबाजी को करने में अक्षम हैं क्योंकि उनकी निर्भरता आयातों पर है। आपसी स्पर्धा के कारण यह देश लम्बी अवधि तक सौदेबाजी नहीं कर सकते।

15. 18 संदर्भ ग्रन्थ सूची

- दत्त गौरव एवं अश्विनी महाजन, भारतीय अर्थव्यवस्था, एसनीम्प क एण्डचन्द., रामनगर,नई दिल्ली, 48th Edition.
- मिश्रा, एस.के. एवं वी.के. पुरी; प्राब्लम्स ऑफ इण्डियन इकॉनोमी, हिमालय पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 2010-2011

- सरकार, जयगंता; इण्डियन इकानोमी: पालिसीज एण्ड प्रैक्टिसेज, प्रथम संस्करण (2007), पीयरसन एजुकेशन, 2007
- धीगड़ा, आई.सी, इण्डियन इकॉनोमी, सुल्तान चन्द एण्ड सन्स, नई दिल्ली, 2009
- प्रकाश, बी, इण्डियन इकॉनोमी सिन्स 1991, इकानोमिक रिफौर्मस् एण्ड परफौर्मेन्सेज, प्रथम संस्करण, पियरसन एजूकेशन, 2009
- दत्त रुद्र एण्ड के.पी.एम. सुन्दरम, इण्डियन इकॉनोमी, 60 वां संस्करण, एस. चंद एण्ड कम्पनी, रामनगर, नई दिल्ली, 2009

15.19 निबन्धात्मक प्रश्न

1. विश्व व्यापार संगठन के उद्देश्य तथा कार्यों की विस्तृत चर्चा कीजिए।
2. डब्ल्यूके विभिन्न वार्ता दौरों का वर्णन कीजिए। .ओ.टी.
3. W.T.O. विकासशील देशों को बड़े बाजारों में निर्यात करने की सुविधा देने में क्यों असफल रहा?